श्री भागवत-सुधा

पूज्यपाद स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती
(श्री करपात्रीजी) महाराज

राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा) उ०प्र०

भागवत-सुधा

प्रणेता
धर्मसम्राट अनन्तश्रीविभूषितयतिचक्रचूणामणि
पूज्यपादस्वामीश्रीहरिहरानन्दसरस्वती
(करपात्री जी) महाराज

प्रकाशक
राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
वृन्दावन-२८११२१

षष्ट्म संस्करण
सम्वत् २०६९
जून २०१२
मूल्य ९०/- रुपये

पुस्तक प्राप्तिस्थानम् :

१. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड,
११३, पार्क स्ट्रीट, सात तल्ला,
कोलकत्ता-७०००७१
दूरभाष-०३३-२२९४९१६

२. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
काशी विश्वनाथ (व्यक्तिगत) मंदिर,
मीरघाट, वाराणसी-२२१००१ (उ० प्र०)
दूरभाष-०५४२-२४०१३४

३. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
धर्मसंघ विद्यालय, रमण रेती,
वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा) (उ० प्र०)
दूरभाष-०५६५-२५४००२८, २५४०८६९

४. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड,
४०१/४०४, राहेजा सेन्टर,
२१४, नरीमन पोइण्ट,
बम्बई-४०००२१
दूरभाष-०२२-३०२८६१००

५. राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान,
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड,
५०४, निर्मल टावर,
२६, बाराखम्बा रोड,
नई दिल्ली-११०००१
दूरभाष-०११-२३७२५६२७

मुद्रक :
आकाश प्रेस,
बी-१९/३, ओखला इन्डस्ट्रियल एरिया,
फेज-II, नई दिल्ली-११००२०

परब्रह्मस्वरूप धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्री जी महाराज

विषयानुक्रम

द्वितीय-पुष्प

तृतीय-पुष्प

चतुर्थ-पुष्प

पञ्चम-पुष्प

षष्ठ-पुष्प

सप्तम-पुष्प

अष्टम-पुष्प

—:※:—

गोलोकवासी सेठ श्री राधाकृष्णजी धानुका जिनकी प्रेरणा से सत्साहित्य एवं पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज के ग्रन्थों के प्रचारप्रसारार्थ श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान की स्थापना हुई।

श्री हरिः

पूज्य स्वामीजी का संस्मरणात्मक परिचय

स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती

"तेज एक है। वही तेज जल आदि के क्रम से घट होता है। घट में जल एवं जल में सूर्य आदि रूप तेज का ही होता है। अनेक घटों में अनेक प्रतिबिम्ब तेज के होते हैं। उन प्रतिबिम्बों की अपेक्षा से ही तेज में बिम्बत्व की कल्पना होती है। बिम्ब प्रतिबिम्ब की एकता समझना सुगम है, परन्तु घट, जल एवं तेज की एकता समझना कठिन है। इसी प्रकार आत्मा, परमात्मा की बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से एकता समझ लेना अनायास सिद्ध है। परन्तु, अचेतन रूप से प्रतीयमान प्रपञ्च की परमात्मा से एकता अनुभव करना कठिन है। अतः प्रपञ्च की परमात्मा से एकता अनुभव करने के लिये बाधप्रक्रिया का आलम्बन लेना पड़ता है। वस्तुतः एक ही परमात्मा मायात्मक ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति आदि के योग से विविध नाम-रूप का आधार बनता है। वही शिव, विष्णु आदि भी होता है। वही अपनी अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा राम, कृष्ण आदि के रूप में भी प्रकट होता है। भक्त-गण अपनी-अपनी भावना के अनुसार उसकी उपासना करते हैं। नाम अनेक होने पर भी, कल्पनायें अगणित होने पर भी, परमात्मा परमार्थतः एक ही है। जिस-जिस भाव से उसकी उपासना की जाती है, वही-वही होकर वह अनुभव का विषय होने लगता है। नाम-रूप क्रिया की अनेकता होने पर भी परमात्मा में अनेकता की गन्ध भी नहीं है। वह एक है, अद्वितीय है, निर्गुण है"। यह है श्री करपात्री जी महाराज की समन्वय दृष्टि, जो श्रुति, स्मृति, पुराण के सर्वथा अनुरूप है और इस दृष्टि से शास्त्र का कोई भी अंश असंगत अथवा त्याज्य नहीं रहता है अनिर्वचनीय माया सब भेदों का निर्वाह कर लेती है, परमार्थ तत्त्व ज्यों का-त्यों निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष तथा निर्धर्मक ही रहता है।

श्री करपात्री जी महाराज के साथ ४०-४५ वर्षो तक सत्सङ्ग एवं आलाप का सौभाग्य मिलता रहा। एक बार अपने हृदय-पटल पर हम उनकी स्मृतियों की जगमगाती हुई झलक देखने का प्रयास करते हैं।

सर्वप्रथम लोगों में यह चर्चा फैली कि गंगा तट पर एक कौपीन मात्र धारी महात्मा विचरण करते हुए आ रहे हैं। उनके पास वस्त्र है, कौपीनाच्छादन मात्र। पात्र कोई नहीं है। ब्राह्मणों के घर से हाथ पर ही भिक्षा लेकर करते हैं। कोई संग्रह नहीं, परिग्रह नहीं। कोई शिष्य-सेवक नहीं। हमारी सत्सङ्गप्रिय मित्र-गोष्ठी

दर्शन के लिये उत्सुक हुई। परन्तु, दर्शन में एक प्रतिबन्ध पड़ गया। मेरे मामा पण्डित पद्मनाभ मिश्र, जो काशी के प्रख्यात विद्वान् पण्डित श्री चन्द्रधर शर्मा के साथी थे और स्वयं दूध-दही पर अपना जीवन व्यतीत करते थे एवं बड़े मस्त प्रकृति के थे, उन्होंने हमको बुलाया और पूछा कहाँ जा रहे हो ? हम लोगों ने उस युवा अवधूत की महिमा सुनाई। 'तुम लोग थोड़े दिन ठहर जाओ। पहले हम देख लेंगे, फिर जाने देंगे।' मामा जी बोले। हमारा दर्शन तो प्रतिबद्ध हो गया, किन्तु मूल में लालसा बनी रही। थोड़े दिनों बाद श्री करपात्री जी महाराज ने दण्ड ग्रहण कर लिया। दिग्-दिगन्त में उनके पाण्डित्य का प्रकाश व्याप्त होने लगा। हमें ज्ञात हुआ कि वे नरवर के षड्दर्शनाचार्य स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम से विद्याध्ययन कर चुके हैं, श्री उड़िया बाबा जी महाराज से सत्सङ्ग करते रहे हैं एवं श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती महाराज से (तब तक वे ज्योतिष्-पीठाधीश्वर नहीं हुए थे) दण्ड ग्रहण किया है। वे सनातन धर्म की पद्धति के पूर्ण समर्थक हैं एवं शास्त्रों के अक्षर, पंक्ति मात्र में निष्ठा रखते हैं तथा अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं प्रसन्न-गम्भीर विद्या के द्वारा सबका समन्वय करते हैं, युक्तियुक्त सिद्ध करते हैं। अब उनके दर्शन की उत्कण्ठा अधिकाधिक प्रबल होने लगी।

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज, अब जिनका नाम श्री हरिहरानन्द जी सरस्वती हो चुका था, के दर्शन का सुयोग तो तब मिला, जब मैं झूँसी में ब्रह्मचारी श्री प्रभुदत्त जी महाराज के सम्वत्सरव्यापी संकीर्तन में श्रीमद्भागवत पर प्रवचन कर रहा था। प्रसंग था, ग्यारहवें स्कन्ध का। मैंने उसमें प्रतिपादन किया कि अनिर्वचनीय माया के योग से परमेश्वर ही प्रपञ्च के रूप में भास रहा है। जीव अनादि है। प्रपञ्च में इसका अध्यास भी अनादि है। इस अध्यास के कारण ही यह अपने को कर्ता मान रहा है। अकर्ता आत्मा में कर्तृत्व बुद्धि ही अध्यास है। अध्यास ही बन्धन है। इसी के कारण जीव लोक-परलोक, पुनर्जन्म के संकट में फँस गया है। इसको इससे मुक्त करने के लिये शास्त्र, विधि-निषेध का विभाग बनाता है। ईश्वर के अनुग्रह से यह जीव विहित का अनुष्ठान करता है और निषिद्ध का त्याग करता है। इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है। शुद्ध अन्तःकरण में ईश्वर स्वरूप के बोध की योग्यता आ जाती है। योग्य अधिकारी, अपने और परमात्मा के स्वरूप की सिद्ध एकता का अनुभव करता है। अध्यास अर्थात् अनात्मा में आत्मा का भ्रम मिट जाता है। जो मायिक प्रपञ्च पहले सत्य है ऐसा जान पड़ता था, वह मिथ्या, केवल प्रतीतिमात्र रह जाता है। अज्ञानी की दृष्टि से माया थी, ज्ञानी की दृष्टि से वह अपना अस्तित्व नहीं रखती है। फिर तो यह नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च भी प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मरूप ही अनुभव होता है।

भागवत के प्रवचन से उठने के बाद जब श्री करपात्री जी महाराज, गंगा तट पर विरक्तों से मिलने के लिए जाने लगे, तब मैं भी उनके पीछे हो गया।

उस समय वे संस्कृत में ही भाषण करते थे। मेरे प्रवचन की उन्होंने प्रशंसा की; शास्त्रानुकूल एवं संगत बताया। बाद में उन्होंने पूछा कि, सुना है, तुम श्रीकृष्ण-लीला का बहुत बढ़िया वर्णन करते हो, तुम सिद्धान्तरूप से उसका निरूपण करते हो या परमत के रूप में। मैंने कहा—"परमत के रूप में"। उनके मुख से संस्कृत में शब्द निकला—"त्वन्मुखे घृतशर्करा" अर्थात् 'तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर'। विरक्तों में उनकी ब्रह्मविद्या, दर्शन शास्त्र के पाण्डित्य एवं अद्भुत प्रतिभा की प्रतिष्ठा बढ़ रही थी। वे उस समय उदीयमान सूर्य के समान चमक रहे थे।

उन्हीं दिनों गीताप्रेस के संस्थापक सेठ जयदयाल जी गोयन्दका, श्री ब्रह्मचारी जी के आमन्त्रण पर संकीर्तन-उत्सव में झूँसी आए हुए थे। वे श्री करपात्री जी महाराज से मिले। सेठ जी ने यह प्रश्न उठाया—"ज्ञानी के जीवन में काम-क्रोधादि दोष रहते हैं अथवा नहीं"। सेठ जी का कहना था कि 'यदि तत्त्वज्ञानी के जीवन में ये विकार बने रहेंगे, तो दुःख भी बना रहेगा। यदि तत्त्वज्ञान से दुःख की निवृत्ति नहीं हुई तो कोई भी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न क्यों करेगा ?' यह प्रश्न सेठ जी, इसके पहले कुम्भ मेला में आए हुए अन्य महापुरुषों से भी कर चुके थे। महामण्डलेश्वर भारतप्रसिद्ध श्री जयेन्द्रपुरी जी महाराज ने विकारों का कारण अविद्या-लेश को बताया। जैसे किसी दोने में चम्पा का पुष्प पहले रखा हुआ हो और उसको हटा देने पर भी दोने में थोड़ी-सी गन्ध रह जाती है, वैसे ही ज्ञानी के अन्तःकरण में अविद्या का लेश शेष रह जाता है। इससे विकार होते देखे जाते हैं। सेठ जी को यह उत्तर नहीं जँचा था। उनका कहना था कि 'अविद्या यदि सद् वस्तु है तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि हो जायेगी, द्वैत सिद्ध हो जायेगा। यदि अविद्या असद् वस्तु हो तो उससे बन्धन की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतएव अज्ञानी अज्ञान में रहकर ही अविद्या की कल्पना करता है; तत्त्व ज्ञान होने पर न अविद्या है न अविद्या का लेश ही है'।

श्री उड़िया बाबा जी महाराज का कहना था कि तत्त्वज्ञ की स्व-दृष्टि से अविद्या तत्कार्य नहीं है। भ्रान्त-दृष्टि से ही कल्पित है। अतएव अविद्या एवं तत्कार्य की स्थिति अनिर्वचनीय ही है, वास्तविक नहीं है।

सेठ जी ने यही प्रश्न श्रीकरपात्री जी महाराज से किया और तत्त्वज्ञ के जीवन में विकार मानने से समाज की हानि का प्रतिपादन किया।

श्री करपात्री जी महाराज ने निरूपण किया कि 'औपनिषद् महावाक्य के द्वारा अखण्डार्थ का साक्षात्कार होने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, यह तो ठीक है। परन्तु, जब तक शरीर है तब तक उसमें यौवन, वार्धक्य, रोग आते

रहते हैं। स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थायें भी आती हैं। साक्षी के ब्रह्मत्व का बोध होने से अन्तःकरण एवं विषय के भान में कोई अन्तर नहीं पड़ता। ब्रह्मविद्या, केवल भ्रम को निवृत्त करती है, भासमान् (प्रपञ्च) को नहीं। अतएव साक्षीभास्य अन्तःकरण में यदि तत्त्वज्ञान के अनन्तर भी विकार आते हैं, तो उससे मुक्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि आत्मा तो नित्य मुक्त स्वरूप है। अविद्या की निवृत्ति तो केवल उपलक्षण मात्र है। इसलिए समाज के लिए यही हितकारी है कि उसे ज्ञात रहे कि तत्त्वज्ञ के जीवन में भी विकार हो सकते हैं और वह अन्ध-श्रद्धा के वश होकर ज्ञानी को निर्विकार समझकर, ठगा न जाय और धोखे में न पड़े। इससे सम्प्रदाय की कोई हानि नहीं होगी प्रत्युत् सत्यवादी होने के कारण समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी'।

जब हम लोगों ने श्री उड़ियाबाबा जी महाराज से पूछा, तब वे बोले कि निर्विकारता और विकारिता दोनों ही अज्ञ-दृष्टि का अनुवाद है। वस्तुतः अपना स्वरूप नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ही है।

श्री करपात्री जी महाराज के निर्भय निरूपण से, कुम्भ के मेले में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी एवं उनकी विद्या का यश चारों ओर फैलने लगा। मेरे चित्त पर उनके वैराग्य, त्याग, विलक्षण प्रतिभा एवं शास्त्र-ज्ञान का अत्यधिक प्रभाव पड़ा और मेरे मन में उनसे बारम्बार मिलन, दर्शन, सत्संग की आकांक्षा बढ़ने लगी।

आगरा जिले में एक खाड़ा नाम का छोटा-सा ग्राम है। उन दिनों कर्णवास वाले स्वामी विवेकानन्द जी के प्रभाव से वेदान्त-विचार करने वाले कई ज्ञान-निष्ठ पुरुष वहाँ थे। जिसमें श्री चोखेलाल जी, भूरेलाल जी, प्यारेलाल जी का नाम मुझे स्मरण है। उन लोगों ने श्री उड़िया बाबा जी महाराज से परामर्श कर अपने गाँव में 'ब्रह्म-सत्र' का विशाल आयोजन करने का निश्चय किया। बाबा ने आना स्वीकार किया। श्री करपात्री जी महाराज से अनुरोध किया गया। वे भी आने को तैयार हो गये। श्री उड़िया बाबा जी महाराज ने उन लोगों से कहा कि शान्तनु को भी ले चलो। मेले में आए हुए बड़े-बड़े सन्त आमन्त्रित किये गये। सप्ताह-व्यापी महान् ब्रह्मसत्र हुआ। उसमें श्री उड़िया बाबा जी महाराज के अतिरिक्त दण्डी स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रम जी, जिनसे नरवर में श्री करपात्री जी ने वेदान्त एवं दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था, पधारे। दस-बीस हजार तक लोगों की भीड़ होती। वहाँ के लोगों ने श्रीउड़ियाबाबा जी महाराज के साथ जो वेदान्त का प्रश्नोत्तर किया था, वह 'ज्ञानी एवं ज्ञान निष्ठा' लेख में प्रकाशित हो चुका है। श्री करपात्री जी महाराज ने सात दिनों में केवल 'श्री भगवान् उवाच' एतावन्मात्र का प्रवचन किया। यद्यपि उन्हें पूरे पन्द्रहवें अध्याय पर प्रवचन करना था। उसमें उन्होंने विभिन्न मतों के अनुसार भगवान्

के स्वरूप का निरूपण किया। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य श्रीकृष्ण में किस प्रकार हैं और महाभारत आदि ग्रन्थों में किस प्रकार उनका वर्णन है—यह सब तो सुनाया ही, जो सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, विनाश गति, आगति, अविद्या एवं विद्या को जानता है, वही भगवान् कहलाने योग्य है इस पर भी प्रकाश डाला। इन लक्षणों के विस्तार में ही सात दिन व्यतीत हो गये। वहाँ मुझे पञ्चदशी पर प्रवचन करने का दायित्व दिया गया। मैंने भी उनकी देखा देखी 'तृप्तिदीप' प्रकरण के 'आत्मानं चेत् विजानीयात्' इस वचन का व्याख्यान सात दिनों में किया।

उस महोत्सव की यह विशेषता थी कि सबके प्रवचन में सब बैठते थे। सबका सब सुनते और अपनी-अपनी राउटी में बैठकर प्रवचनों पर टीका-टिप्पणी भी करते। इतने बड़े महात्माओं और विद्वानों का छोटे से गाँव में एकत्र होना एक अद्भुत बात थी।

श्री करपात्री जी महाराज अपनी विलक्षण प्रतिभा से सभी महात्माओं को प्रभावित कर लेते थे। उनका कहना यह था कि यदि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से प्रत्यगात्म-स्वरूप ब्रह्म का बोध हो जाय तो वेदों की प्रामाणिकता ही नष्ट हो जायेगी। प्रमाण वही होता है जो प्रमाणान्तर से अनधिगत एवं अबाधित वस्तु का असंदिग्ध बोध कराता है। परोक्ष, स्वर्गादि रूप फल, यज्ञ-यागादि धर्म के अनुष्ठान से कैसे मिलते हैं, यह बात वेद-शास्त्रों के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार जानी नहीं जा सकती। (यज्ञ-यागादि रूप) प्रत्यक्ष-धर्म का परोक्ष फल के साथ सम्बन्ध बताने में ही शास्त्रों की सार्थकता है। धर्म का ज्ञान केवल लौकिक दृष्टि से नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह थी कि नित्य अपरोक्ष आत्मा केवल अज्ञान के कारण ही अप्राप्त-सा हो रहा है। वह भी शास्त्र के अतिरिक्त और किसी प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकता। जैसे, शब्दादि विषय, श्रोत चक्षु आदि के द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं—अपने-अपने विषय में सब प्रमाण स्वतन्त्र होते हैं, इसी प्रकार प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्म-तत्त्व के सम्बन्ध में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण यदि शास्त्रोक्त विषय का समर्थन करने में उपयोगी हों तो उनको भी मान्य करना चाहिए।

वैसे तो मैंने ब्राह्मण-महासम्मेलन में भारतवर्ष के धुरन्धर विद्वानों के, जिन में लक्ष्मण शास्त्री द्राविड़, पञ्चानन तर्करत्न, श्री चिन्न स्वामी, श्री अनन्त कृष्ण शास्त्री आदि सम्मिलित थे—इस विषय का विचार-विनिमय सुना था। परन्तु श्री करपात्री जी की नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा साधारण जनता को भी श्रुति-स्मृति पर विश्वास करने के लिये बाध्य कर देती थी।

श्री करपात्री जी महाराज का कहना था कि वेद, भेद का प्रतिपादक नहीं हो सकते। क्योंकि भेद, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध ही है। यदि वेद भी उसी का प्रतिपादन करेंगे तो वे प्रमाण नहीं होंगे, अनुवाद होंगे। दूसरा कारण यह है कि भेद का अधिकरण क्या होगा ? भेद या अभेद ? भेद में भिन्नता तो है ही, उसका अधिकरण भी होना ही चाहिए। अभेद रूप अधिकरण में प्रतीत होने वाला भेद मिथ्या ही होगा क्योंकि भेद जहाँ नहीं है, वहीं प्रतीत हो रहा है। अपने अभाव के अधिकरण में जो वस्तु दीखती है, वह मिथ्या होती है। वेद यदि भेद का प्रतिपादक है तो उसे मिथ्याभाषी मानना पड़ेगा। श्रुति में भेद की निन्दा है, भेद समझने वाले व्यक्ति को भय होता है। परमार्थ वस्तु को दूसरी मानने पर पशुत्व की प्राप्ति होती है। वह या तो ऐन्द्रियक-विनश्वर होगा, या फिर केवल कल्पना मात्र होगा।

इतने बड़े-बड़े महात्माओं के बीच में, विद्वानों के सामने जब वेद-शास्त्रों को युक्ति-युक्त सिद्ध करने के लिए श्री करपात्री जी महाराज की प्रतिभा प्रस्फुटित होती थी तो सभी लोग मुग्ध हो जाया करते थे।

श्री करपात्री जी महाराज वेद की अपौरुषेयता पर दृढ़ थे। वेद के कर्ता का कहीं भी वेद में वर्णन नहीं है, वेद अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परा से प्राप्त है; अन्य प्रमाणों से अनधिगत एवं अबाधित वस्तु का प्रतिपादक है; ज्ञानात्मक होने से वेद का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ही है। अनात्मा होने पर वेद भी अनात्म-कक्षा में निक्षिप्त हो जायेगा। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि कोई भी व्यावहारिक वस्तु ब्रह्मज्ञान के अव्यवहित-पूर्वक्षणपर्यन्त बाधित नहीं होती। अतएव जिसको ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ है, उसको किसी भी व्यावहारिक वस्तु को मिथ्या कहने का अधिकार नहीं है। वर्णाश्रमोचित व्यवहार ब्रह्मज्ञान पर्यन्त करना ही चाहिए। जो लोग वर्णाश्रम-मर्यादा का उल्लंघन करके संकीर्तन करते हैं या मनमाने अनुष्ठान करते हैं, मन्त्रोपदेश करते हैं, उनके प्रति श्री करपात्री जी महाराज का बड़ा कठोर दृष्टिकोण था। वे खुले रूप से उनका खण्डन करते थे।

श्री हरि बाबा जी महाराज संकीर्तन के प्रारम्भ में प्रणव का उच्चारण करते थे। पण्डित श्री मदन मोहन जी मालवीय हरिजनों को भी सामूहिक रूप से प्रणव, स्वाहा आदि से संयुक्त मन्त्रों का उपदेश करते थे। श्री करपात्री जी महाराज ने दोनों का विरोध किया। श्री उड़िया बाबा जी महाराज के पास सन्देश भेजा कि श्री हरि बाबा जी को प्रणव उच्चारण करने को मना कीजिए। श्री उड़िया बाबा जी महाराज ने कहा कि जब तक कोई पूछे नहीं तब तक किसी को उपदेश नहीं करना चाहिए—'नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्' (मनुस्मृति)। यदि श्री हरि बाबा जी मुझसे पूछें तो मैं उनको बतला सकता हूँ। वे महात्मा हैं, जो वे करते हैं उसमें मैं हस्तक्षेप क्यों करूँ ? इस उत्तर से श्री करपात्री जी महाराज कुछ असन्तुष्ट हुए। यद्यपि वे

छात्रावस्था में नरवर में पढ़ते समय, बाबा के पास, रामघाट एवं कर्णवास में प्रत्येक अनध्याय के दिन सत्संग करने के लिये आते थे और उनकी श्रद्धा भी बहुत अधिक थी, फिर भी शास्त्र-निष्ठा के कारण उन्हें अपने व्यवहार में कुछ परिवर्तन करना पड़ा।

पण्डित श्री मदनमोहन मालवीय जी के साथ इसी विषय को लेकर ऋषिकेश में शास्त्रार्थ हुआ। कई दिनों तक श्री करपात्री जी एवं मालवीय जी अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करते रहे। मालवीय जी, पुराणों से भगवन्नाम मन्त्र, पूजा आदि के वचन उद्धृत करते। श्री करपात्री जी धर्मशास्त्र एवं मीमांसा की दृष्टि से उसी का खण्डन करते थे। दोनों अपने-अपने निश्चय पर अडिग रहे। इस शास्त्रार्थ में मध्यस्थता करने के लिए दो व्यक्ति चुने गये थे। १ जयदयाल जी गोयन्दका, गीता प्रेस के संस्थापक २) काशी के विद्वान् सेठ श्री गौरीशंकर गोयन्दका। गौरीशंकर जी ने स्पष्ट रूप से श्री करपात्री जी के पक्ष में अपना निर्णय दिया। परन्तु, सेठ जयदयाल जी ने कहा कि एक रकम से तो युक्ति परिस्थिति आदि की दृष्टि से मालवीय जी का पक्ष परिपुष्ट है और शास्त्रीय दृष्टि से श्री करपात्री जी का। इससे श्री करपात्री जी महाराज किञ्चित अप्रसन्न हुए। परन्तु, शास्त्रार्थ में उनकी विजय तो हो ही गई थी। उस समय यह बात आगे नहीं बढ़ी।

जिन दिनों मैं गोरखपुर में कल्याण के सम्पादनविभाग में काम करता था, सेठ श्री सेठ जयदयाल जी ने 'विद्या-अविद्या एवं सम्भूति-असम्भूति' के सम्बन्ध में एक लेख लिखा। लेख में प्रत्यक्ष रूप से ही शांकरभाष्य का खण्डन था। उन्होंने अपने लेख में 'विद्या' का अर्थ ब्रह्मविद्या किया था तथा 'असम्भूति' का अर्थ ईश्वर। जहाँ तक मुझे स्मरण है दोनों के सम-समुच्चय का प्रतिपादन किया था। श्री करपात्री जी महाराज ने उस लेख का खण्डन कल्याण में प्रकाशित करने के लिये लिख भेजा। परन्तु, कल्याण में वह लेख प्रकाशित नहीं हुआ। श्री करपात्री जी इससे असन्तुष्ट हुए। 'कल्याण' को अपना लेख तो देना बन्द कर ही दिया, कहीं से उद्धृत करके भी अपने लेखों को छापने से मना कर दिया। वे अपनी निष्ठा में अत्यन्त दृढ़ एवं असंदिग्ध थे। मैंने भाई जी से कहा कि शांकर-भाष्य सर्वथा युक्ति-युक्त एवं अनुभव-संगत है। श्री करपात्री जी ने उसका उचित समर्थन किया है। उनका लेख न छापना ठीक नहीं है। भाई जी ने कहा, कि आप एक लेख लिख दीजिए, वह छाप दिया जायेगा।

बात यह थी कि अविद्या रूप कर्म के साथ जो विद्या का समुच्चय है, वह विद्या देवलोकादिप्रापक उपासना-विद्या है, अथवा ब्रह्म-विद्या? सामान्य दृष्टि से उसका अर्थ ब्रह्मविद्या लगता है। इस बात पर ध्यान नहीं जाता कि वहाँ

'अविद्या' से अन्धतम में प्रवेश होना कहा गया है तो विद्या से उससे भी अधिक घने अन्धतम में प्रवेश कहा गया है। यह बात ब्रह्मविद्या के साथ कदापि संगत नहीं हो सकती। अतएव यहाँ विद्या 'शब्द का अर्थ देवलोकादिप्रापक होना चाहिए, ब्रह्मविद्या नहीं। वैसी-ही विद्या का समुच्चय अविद्या' के साथ अभिप्रेत है। इसी से अमृत का अर्थ भी सापेक्ष ही है, निरपेक्ष अमृत नहीं है। यही बात सम्भूति और असम्भूति के सम्बन्ध में भी है। ईश्वर की उपासना, सम्भूति की उपासना की अपेक्षा अधिक अन्धकार में ले जाने वाली नहीं हो सकती। केवल शब्दों के चक्कर में पड़कर शास्त्र सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ब्रह्मविद्या एवं उपासना-विद्या में स्पष्ट रूप से अन्तर है। 'ब्रह्मविद्या' वस्तुतन्त्र है उपासना विद्या कर्तृ-तन्त्र। कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण में वैराग्य हो सकता है। परन्तु देवलोक में भोगाधिक्य के कारण वैराग्य नहीं हो सकता। परमार्थ वस्तु के साक्षात्कार के सामने वह घोर अन्धतम ही है। ईश्वरोपासना भी अन्धतम की प्रापक नहीं हो सकती। उपासना एवं ब्रह्मविद्या के स्वरूप, हेतु एवं फल में भिन्नता है। यह सब बातें 'ईशावास्य' के उपसंहार भाष्य में आचार्य शंकर ने स्पष्ट कर दी हैं। मैंने श्री करपात्री जी के विचारों का समर्थन करने के लिए, 'कल्याण' में यह लेख लिखा जो, 'लेखक—एक विद्वान्' के नाम से प्रकाशित हुआ।

श्री करपात्री जी मुझसे प्रसन्न थे और बहुत स्नेह करते थे। विशेषकर के 'कल्याण' के साधारण अंकों में मेरे सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए। भागवत की भूमिका (जो अब 'भागवत-दर्शन' में प्रकाशित हुई है) भागवत का अनुवाद, साधना-अंक आदि में मेरे लिखे लेखों को देखकर, पढ़-सुनकर वे कभी-कभी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते थे और प्रशंसा भी करते थे। मैं उनके सिद्धान्त को भली-भाँति समझता था। धर्म एवं ब्रह्म शास्त्रैकगम्य हैं। नित्य-परोक्ष एवं नित्य-अपरोक्ष वस्तु के साक्षात्कार में वाक्य ही प्रमाण होते हैं, प्रत्यक्ष अनुमानादि नहीं। प्रत्यक्ष, अनुमानादि के द्वारा शास्त्रोक्त पदार्थ को युक्ति-युक्त सिद्ध करना चाहिए। वे सहायक हैं, परन्तु शास्त्र के विरुद्ध होने पर वे तुच्छ एवं अकिंचित्कर हैं।

'कल्याण' के सम्पादन विभाग ने परस्पर परामर्श करके यह निश्चय किया कि मुझ पर श्री करपात्री जी प्रसन्न रहते हैं, अतः उनके प्रसाद का लाभ उठाकर उन्हें मना लिया जाय। मुझे बलिया भेजा गया। भृगु मुनि के स्थान में श्रीकरपात्रीजी ठहरे हुए थे। काशी के पण्डितराज श्री सभापति उपाध्याय वहाँ आए हुए थे। सत्संग की चर्चा के अनन्तर मैंने उनसे 'कल्याण' के लेख के लिए प्रार्थना की। वे हँसते हुए प्रसन्न मुद्रा में बात करते रहे। सेठ जयदयालजी में क्या विशेषता है,

हनुमान प्रसाद को भगवान् के दर्शन हुए हैं क्या ? उन लोगों के भक्त जैसा मुझे बताया करते थे, वह सब मैंने उनको बताया। सेठ जी में विचार एवं उदारता की प्रधानता है। वे वर्ण की श्रेष्ठता में कर्म को विशेष, जाति को गौण मानते हैं। ब्राह्मणों से कोई सकाम अनुष्ठान नहीं कराते। भाई जी में भक्ति एवं सहृदयता की प्रधानता है। वे देने में अधिकारी-अनधिकारी का विचार नहीं करते। ब्राह्मणों से सकाम अनुष्ठान करवाते हैं। रासलीला, नाम जप में भाई जी की विशेष श्रद्धा है। सेठ जी निष्काम कर्म पर बल देते हैं।"—मैंने बताया। श्री करपात्री जी महाराज ने कहा—"लेख तो मैं अब 'कल्याण' को सीधे नहीं दे सकता। हाँ, मेरा कोई लेख कहीं भी प्रकाशित हो और तुम लोगों को पसन्द आए तो छाप दिया करो। मेरे लिए इतनी छूट, उनका अनुग्रह था।

श्री करपात्री जी महाराज ने काशी के स्वामी श्री ब्रह्मानन्द जी महाराज से संन्यास ग्रहण किया था। उस समय तक स्वामी श्री ब्रह्मानन्द जी महाराज, ज्योतिष पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य नहीं हुए थे। वे श्री करपात्री जी महाराज के गुरु हैं, यह जान कर मेरे हृदय में उनके प्रति श्रद्धा जाग्रत हुई। मैं वहाँ आने-जाने लगा। मेरे संन्यास का निश्चय हुआ। परन्तु, इसमें 'कल्याण' परिवार के कार्यवश दो-तीन वर्ष का विलम्ब हो गया। तब तक वे शंकराचार्य हो गये। मैं दण्ड ग्रहण के अनन्तर पहले-पहल ऋषिकेश की कोयलघाटी में करपात्री जी के दर्शन करने गया। वहाँ उन्होंने मुझे अपने आसन पर ही बैठा लिया और श्रीकृष्ण-लीला पर प्रवचन करने को कहा। मैंने बड़े संकोच के साथ उनकी आज्ञा स्वीकार की।

मुझे स्मरण है, मैंने उनके सामने सुनाया कि जैसे परब्रह्म परमात्मा अनिर्वचनीय माया शक्ति के योग से विश्व का कर्ता, हर्ता होता है, वैसे ही अपनी स्वरूप भूत अनिर्वचनीय आह्लादिनी शक्ति के योग से लीला पुरुषोत्तम के रूप में अवतार भी लेता है। निराकार होने पर अविद्या के कारण आत्मा का जन्म होता है। निर्गुण, निर्विकार होने पर भी आह्लादिनी शक्ति के द्वारा लीला होती है। यह लीला न हो तो जीव को प्रपञ्चासक्ति छोड़ने के लिए कोई आलम्बन ही न रहे। जैसे अनिर्वचनीय अविद्या की निवृत्ति के लिये अनिर्वचनीय विद्या होती है। इसी प्रकार प्रपञ्चासक्ति छुड़ाने के लिये भगवदासक्ति अपेक्षित है। भक्ति से प्रपञ्च की ममता छूटती है और तत्त्वज्ञान से परिच्छिन्न में अहंता। महावाक्य से ब्रह्माकारता का उदय होने पर तत्क्षण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार देवकी-यशोदादि से भगवान् के प्रकट होने पर प्रपञ्चासक्ति मिट जाती है। मैंने श्री हरि सूरि के 'भक्ति रसायन' का आधार लेकर, भगवान् की जन्म-लीला सुनाई। श्री करपात्री जी महाराज बहुत प्रसन्न हुए।

मैं जब हरिद्वार से वृन्दावन के लिये पैदल लौट रहा था तब मेरठ में श्री करपात्री जी महाराज की अध्यक्षता में कोई यज्ञ हो रहा था। श्री गिरिधर शर्मा, श्री अखिलानन्द आदि विद्वान् वहाँ इकट्ठे थे। पूतना-उद्धार का प्रसंग सुनाने के पश्चात् उनके निवास स्थान पर जाकर मैंने वेदों की अपौरुषेयता के सम्बन्ध में प्रश्न किया। मन्त्रों की आनुपूर्वी अनादि एवं नित्य है, यह बात मेरे विश्वास का विषय नहीं हो रही थी। उस समय उन्होंने मुझे पण्डित नकच्छेद राम द्विवेदी द्वारा लिखित एवं हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'सनातन-धर्मोद्धार' ग्रन्थ को देखने का परामर्श दिया। वैसे वह ग्रन्थ मैंने पहले पढ़ा तो था किन्तु इस दृष्टि से नहीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने हँसते हुए कहा कि वास्तविक नित्यता तो ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही होती है। वेद का यथार्थ परमार्थ आत्मा ही है। और तो सभी अनात्म-पदार्थों की नित्यता आरोपित एवं कल्पित ही है। यह बात मुझे अच्छी तरह जम गई।

कभी-कभी उनके अनुग्रह का स्मरण कर हृदय भर आता है। वे काशी के नगवा स्थित 'गंगा-तरंग' में ठहरे हुए थे। मैं ग्यारह बजे दिन में उनके पास पहुँच गया। मैंने उनसे प्रश्न किया कि सभी आस्तिक दर्शनों में यह देखने में आता है कि ईश्वर को पूरा पूरा महत्त्व नहीं दिया गया है। न्याय-वैशेषिक में आत्मा एक द्रव्य है--ज्ञानाधिकरण। उसके दो भेद हैं--जीवात्मा और परमात्मा। योग--दर्शन में ईश्वर समाधि का साधन मात्र है। निरोध दशा में या द्रष्टा के स्वरूपावस्थान में ईश्वर की चर्चा नहीं की जा सकती। अनुमान से प्रकृति ही सिद्ध होती है, ईश्वर नहीं। पूर्व-मीमांसा में कर्म ही प्रधान है। वही अपूर्व बनकर अपना फल भी दे लेता है। वेदान्त-दर्शन में माया की उपाधि से ब्रह्म में ईश्वरत्व है। ऐसी स्थिति में आप कुछ अपना अनुभव सुनाइये। प्रश्न सुनकर प्रसन्न मुद्रा में वे बैठ गये। चार बजे तक समझाते रहे। उस दिन भिक्षा करने नहीं गये।

जैसे श्रोत्र, त्वचा, नेत्र आदि प्रमाण अपने शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों में ही प्रमाण होते हैं; श्रोत्र के द्वारा रूप या नेत्र के द्वारा शब्द की प्रमा नहीं होती, वैसे सभी शास्त्रों के अवान्तर प्रमेय पृथक्-पृथक् होते हैं और परम प्रमेय अद्वयतत्त्व के साक्षात्कार में वे सहायक होते हैं। वैशेषिक दर्शन भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो विशेष है, भेद है, उसका निरूपण करता है। उसका अभिप्राय यह है कि कोई भी पदार्थ केवल विज्ञान मात्र नहीं है। यदि विषय में भेद न हो तो विज्ञान में भी भेद या भेद का संस्कार कहाँ से आवेगा। अतः प्रत्येक पदार्थ में एक विशेष होता है और उसकी प्रमा होती है प्रत्यक्षादि प्रमाणों से। प्रमेय का प्रतिपादन करता है, वैशेषिक दर्शन और प्रमाणों का निरूपण करता है न्याय दर्शन। ये दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें आत्मा का भी द्रव्य के

अन्तर्गत निरूपण है। द्रव्य, गुणों का आश्रय आत्मा है। उसके दो भेद हैं—आत्मा परमात्मा। उन्होंने अनुमान से परमात्मा को जगत् का निमित्त कारण तो सिद्ध किया है। जगत् की शून्यता, विज्ञानरूपता, निरीश्वरता एवं नैरात्म्य के खण्डन में इनका अवान्तर तात्पर्य है। परम तात्पर्य है—इनके भावपदार्थत्व की सिद्धि के द्वारा 'एकं सत्' की ओर संकेत। वह 'एकं सत्' इनका मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है। अनुमान के द्वारा ईश्वर सिद्ध किया गया है और वह उपास्य है। प्रायः सभी नैयायिकों ने अपने-अपने ग्रन्थों के आरम्भ में ईश्वर की वन्दना की है और श्री उदयनाचार्य ने तो भक्ति-भाव का उत्तम निरूपण किया है।

सांख्य-दर्शन, आत्मा-अनात्मा का विवेक मुख्य रूप से प्रतिपादित करता है। उसमें तत्त्वों के बाहुल्य का निराकरण करके एक प्रकृति में सबका समावेश कर दिया गया है। यद्यपि मुखतः यह बात नहीं प्रतीत होती, तथापि उपाधिगत कारणों से ही द्रष्टा में भेद की कल्पना की गई है। जन्म-मरण करणादि का भेद दृश्य में है। दृश्यगत भेद से द्रष्टा में भेद की कल्पना स्पष्ट रूप से असंगत प्रतीत होती है, तथापि त्वं पद वाच्यार्थ के शोधन में उपयोगी होने से वह भी ब्रह्मात्मैक्यबोध में सहायक है। मलिन-प्रकृति भोग देती है। शुद्ध प्रकृति अपवर्ग देती है। द्रष्टा के स्वरूप में भोगापवर्ग का भेद नहीं है। योग-दर्शन, सांख्योक्त तत्त्व को ही साक्षात्कृत करने के लिए, आत्मसात् करने के लिए, प्रायोगिक रूप से योग की शिक्षा देता है। यद्यपि प्रकृति, अनुमान से ही सिद्ध होती है, तथापि निरोध काल में उसका अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। दूसरा द्रष्टा भी उत्थान काल में प्रतीत होता है। ईश्वर अनादि गुरु भी हैं, और समाधि का आलम्बन भी है। सांख्य एवं योग का एक युग्म है। योग साधन है, सांख्योक्त सिद्धान्त साध्य है।

ये चारों दर्शन प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर ही मुख्यतः जोर देते हैं। एवं व्यावहारिक रूप से प्रपञ्च का जैसा अनुभव होता है, वह करा देते हैं। योग व्यावहारिक भेद, प्रकृति रूप कारण सत्ता एवं आत्मा को स्वीकार नहीं करते, ये उन्हीं के द्वारा माने हुए प्रत्यक्ष, अनुमान एवं समाधि के द्वारा उन्हें व्यावहारिक सिद्ध कर देते हैं। इनमें वाक्य रूप प्रमाण को प्रधानता नहीं दी गई है। वाक्य रूप प्रमाण को इन दर्शनों में गौण ही माना गया है।

ज्ञान का आदि या अन्त अनुभव का विषय नहीं होता है। क्योंकि यदि वह विषय हो तो पूर्व सिद्ध ज्ञान के द्वारा ही होगा। अतः ज्ञान जीव या ईश्वर के द्वारा निर्मित नहीं है, स्वयंप्रकाश है। वह घट-पटादि के समान वेद्य न होने पर भी साक्षात् अपरोक्ष ही है। जो कुछ भी बीज-निर्बीज, भाव-अभाव, व्यष्टि-समष्टि विषय

होगा, वह ज्ञान के द्वारा ही होगा। ज्ञान यदि अन्य हो तो उसका प्रकाशक क्या होगा ? परिच्छिन्न हो तो वह किसे प्रतीत होगा ? ज्ञान से अलग होने पर आत्मा में जड़ता आ जायेगी और आत्मा से ज्ञान अलग होने पर वह जड़ हो जायेगा। निर्विकार बोध रूप आत्मा ही वैदिक महावाक्यों का प्रतिपाद्य है। इसी तत्त्व में यह प्रपञ्च कहाँ से आया, इसका उपपादन करने के लिए अनिर्वचनीय माया का अध्यारोप श्रुति ने किया है। इसी अघटित घटना-घटनपटीयसी माया के द्वारा परमार्थ ब्रह्म-सत्ता से किञ्चित् न्यून सत्ताक ईश्वर का निरूपण किया जाता है। उसी में निमित्तता एवं उपादानता दोनों है। बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से वही ईश्वर-जीव है। ईश्वर एवं उसकी उपासना, जीव और उसकी मुक्ति केवल वेद अथवा वेदानुसारी शास्त्रों से ही जानी जा सकती है। यह ज्ञान अन्तःकरण के शुद्ध होने पर अर्थात् प्रपञ्चोन्मुखता का त्याग करके ईश्वरोन्मुख होने पर ही होता है। इसी अन्तःकरण-शुद्धि का साधन पूर्व-मीमांसा दर्शन में, यज्ञ-यागादि के रूप में उपदिष्ट है। इसका अर्थ यह है कि सभी दर्शन परम्परया कार्य-कारण, जीव-ईश्वर के विचार के द्वारा शुद्ध तत्त्व के साक्षात्कार में उपयोगी हो जाते हैं। जैसे व्यावहारिक सत्य के रहते ही प्रातिभासिक सत्य का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, वैसे परमार्थ सत्य ब्रह्म के ज्ञान से ही, प्रपञ्च का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। ब्रह्मज्ञान के अव्यवहितपूर्व क्षण में भी, प्रपञ्च अबाधित सत्य ही रहता है। ब्रह्मज्ञान के पूर्व, प्रपञ्च को मिथ्या कहने का किसी को अधिकार नहीं है। प्रपञ्च है तो अनिर्वचनीय माया है। माया है तो ईश्वर का भवन-विलास है। अतः अन्तिम सत्य का बोध वेदान्त से ही होता है, पहले नहीं, उसी में सब दर्शनों का परम तात्पर्य है।

श्री हरि बाबा जी महाराज के प्रणव-संकीर्तन को लेकर श्री करपात्री जी महाराज ने परम पूज्य श्री उड़िया बाबा जी के पास आना बन्द कर दिया था। मुझे यह बात खटकती रहती थी। जो पहले बाबा के प्रति इतना आदर भाव रखते थे, सत्संग के लिये आया करते थे, वे अब कभी बाबा के दर्शन के लिये भी नहीं आते, यह कुछ असमंजस-सा लगता है। मैंने एक दिन श्री उड़िया बाबा जी महाराज से कहा कि वे नहीं आते तो क्या हुआ, विद्वान् हैं, त्यागी हैं, महात्मा हैं, आप ही उनके पास कभी चले चलिये तो क्या है ? बाबा ने कहा, क्यों नहीं। जब कहो, मैं उनके पास चल सकता हूँ। मैंने कहा बाबा, वे आजकल वृन्दावन में ही हैं। धर्म-संघ विद्यालय में ठहरे हुये हैं, आप चले चलिये न ? बाबा एक बालक की रुचि पर भी ध्यान देते थे। उनके मन में तो जैसे कोई आग्रह ही नहीं था। उठ खड़े हुए, 'चलो बेटा'। मैं उनके पीछे-पीछे पैदल चलने लगा। एक व्यक्ति को चुपके से दौड़ा दिया कि वह जाकर श्री करपात्री जी को बता दे। श्री करपात्री जी महाराज

समाचार सुनते ही बिना पादुका के ही छत पर से उतर कर रास्ते में आ गये, प्रणाम किया एवं बाबा को ऊपर ले गये। थोड़ी देर तक बात चीत होती रही, बाबा आश्रम में लौट आये। दूसरे ही दिन श्री करपात्री जी एवं श्रीकृष्ण बोधाश्रम जी बाबा से एकान्त में मिलने के लिये समय लेकर आये। १-२ घण्टे तक गोष्ठी होती रही। मुझे भी उसमें सम्मिलित कर लिया गया था।

उपर्युक्त गोष्ठी में प्रश्न यह था कि कोटि आहुति के यज्ञ होते हैं, लक्षचण्डी होती है परन्तु धर्म रक्षा की दिशा में कोई विशेष सफलता नहीं मिलती। इसका कारण क्या है? पूज्य बाबा के सामने यही प्रश्न रखा गया था। बाबा ने बताया समय विपरीत है, कलियुग है; काल का भी अपना अधिकार होता है। जितना बड़ा लक्ष्य है, उसके सामने यह अनुष्ठान कोई बड़े नहीं हैं। बड़े-बड़े अनुष्ठानों में अंग-वैगुण्य भी होता है। यजमान, आचार्य, विद्वान् सभी पूरे-पूरे नियमों का पालन भी नहीं कर पाते। अन्न-धन भी अनुष्ठान के लिये जितना पवित्र होना चाहिए, उतना नहीं होता। फिर भी फल तो होता ही है। धर्म-हानि का वेग कम हो जाता है। कोई बैलगाड़ी गड्ढे की ओर लुढ़कती जा रही हो तो अपनी ओर से उसे रोकने का प्रयास करना चाहिये। अपनी ओर से यत्न करें, फल तो भगवान् की ओर से मिलता है। इस प्रसंग के बाद, बाबा एवं श्री करपात्री जी का मिलना-जुलना फिर से होने लगा।

दिल्ली में गायत्री महायज्ञ का आयोजन हुआ। देश के पीठाधीश्वर, मण्डलेश्वर, विद्वान् आमन्त्रित किये गए। गायत्री की कोटि आहुति का यज्ञ था। ब्रह्मचारी श्री जीवनदत्त जी को यजमान बनाया गया। दक्षिण के विद्वानों ने आपत्ति कर दी कि यजमान सपत्नीक ही होना चाहिए। कुश की कन्या से विवाह कराया गया। समागत अभ्यागतों के लिये बड़े-बड़े सिंहासन-मंच निर्माण किये गये। श्री उड़िया बाबा जी को बड़े आदर एवं आग्रह से आमन्त्रित किया गया। मैंने श्री करपात्री जी महाराज को कहा कि वे इन सिंहासनों पर तो बैठेंगे नहीं, वे तो बिना आसन के धूल में भी बैठ जाते हैं। श्री करपात्री जी ने हँसकर कहा कि सिंहासन पर बैठना अथवा धूल में बैठना दोनों लोक-संग्रह ही है। लोक-श्रद्धा कभी वैभव की ओर जाती है, कभीं त्याग की ओर। तत्त्वज्ञ की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है। वहाँ-जहाँ जैसे बैठेंगे, वही ठीक होगा। मुझे उनका यह दृष्टिकोण बहुत पसन्द आया।

उसी यज्ञ में एक दिन उन्होंने मुझसे कहा—"आओ, तुम भी मेरे साथ भिक्षा कर लो। किसी ब्रह्मचारी ने मूँग की दाल की खिचड़ी बनाई थी। नमक, न घी, छौंक तक नहीं लगी थी। उन्होंने कहा, "तुम अपने अनुकूल भोजन कर

लिया करो। मेरे साथ तो ऐसा ही मिलेगा।" उनकी उदारता देख-देख कर मैं मुग्ध होता रहता था।

एक दिन मैंने पूछा—"अमुक सज्जन पञ्चदशी के आभासवाद का बहुत ही विरोध करते हैं।" श्री करपात्री जी महाराज ने कहा—"यदि वे अद्वैत सिद्धान्त को उपनिषदों का परम तात्पर्य मानते हैं तो आभासवाद को मानें या नहीं, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रतिबिम्ब, अवच्छेद, दृष्टि-सृष्टि कोई भी वाद सही, सिद्धान्ततः ब्रह्मात्मैक्य-बोध होना चाहिए जिससे अविद्या की निवृत्ति हो जाय। यह भी एक उत्तम भाव का उत्कृष्ट निदर्शन था।

उसी यज्ञ में आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ। आर्य-समाज की ओर से श्री रामचन्द्र देहलवी प्रमुख थे। सनातन धर्म की ओर से शास्त्रार्थ महारथी श्री माधवाचार्य थे। सनातन धर्म के मंच पर श्री करपात्री जी महाराज, गिरिधर शर्मा, अनन्तकृष्ण शास्त्री, पं० अखिलानन्द शर्मा आदि दिग्गज विद्वान् विराज-मान थे। मैं श्री करपात्री जी महाराज के ठीक पीछे बैठा हुआ था। यज्ञ में गोवध के सम्बन्ध में श्री करपात्री जी महाराज सरल भाव से श्रौत सूत्रों के अनुसार शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध हो गए। सनातनधर्मी विद्वानों ने प्रार्थना की कि महाराज आप देखते रहिए, शास्त्रार्थ हम करेंगे। वे हँसकर चुप हो गए। सर्व श्री गिरिधर शर्मा, अखिला-नन्द शर्मा एवं श्री माधवाचार्य ने परस्पर विमर्श करके आर्य समाजियों से प्रतिप्रश्न किया—"वेदों में भला गौवध की बात कहाँ लिखी है?" शास्त्रार्थ लिखित रूप से होता था और पढ़ कर जनता को सुना दिया जाता था। आर्य समाज की ओर से मन्त्रों, भाष्यों और ग्रन्थों का नाम लिखकर आया कि यहाँ-यहाँ शास्त्रों में गौवध की बात लिखी हुई है। जन-समूह में पढ़कर सुनाया गया। पण्डित अखिलानन्द जी ने खड़े होकर कहा—"देखो भाई, आर्यसमाजी लोग कहते हैं कि वेदों में गौवध लिखा हुआ है। कितने दुःख की बात है।" अब तो क्या था, बस जनता आर्यसमाजिओं के विरुद्ध हो गई। ताली पिटने लगी। लोगों ने उन लोगों का बोलना दूभर कर दिया। वे कहते ही रह गए, "यह हमने अपना मत नहीं बताया है। यह उन्हीं लोगों का मत है", पर वहाँ कौन सुनता था? पण्डित माधवाचार्य जी ने कहा, कि महाराज! इन लोगों के साथ ऐसा ही शास्त्रार्थ होता है। कोई पूर्वोत्तर-मीमांसा के अनुसार अधिकरणरचना नहीं होती। श्री करपात्री जी की सरलता और सनातन धर्मी-आर्यसमाजी के शास्त्रार्थ का एक अच्छा नमूना देखने को मिला।

बम्बई में एक विशाल यज्ञ का आयोजन हुआ। 'मरीन-ड्राइव' पर सेक्सरिया बिल्डिंग से लेकर बम्बई-जिमखाने तक सब खाली मैदान था। श्री करपात्री जी

महाराज ने स्वामी मस्तराम जी को भेजकर मुझे वहाँ बुलवाया। कल्याणपरिवार में रहने के कारण बम्बई के लोगों से मेरा परिचय बहुत था। मेरे प्रवचन प्रारम्भ हुए। बम्बई वाले के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मलीन श्री कृष्णानन्द जी को भी आमन्त्रित किया गया। उनके लिए अलग संकीर्तत मण्डप बना दिया गया। उत्तर भारतीयों का संगठन उनके साथ था। अखण्ड भगवन्नाम की ध्वनि से पास पड़ोस गूँज उठा। कुछ लोगों ने हरिजनों को भड़का दिया कि ये लोग हरिजनों से घृणा करते हैं तथा अस्पृश्य मानते हैं। श्री करपात्री जी महाराज ने स्वयं उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया। उन्हें समझाकर उनके लिए एक अलग संकीर्तन मण्डप बनवा दिया। उनका भी नाम संकीर्तन होने लगा। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्य इकट्ठे हुए थे। यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि श्री करपात्री जी महाराज में संघटन को एक विशिष्ट शक्ति थी वे अपनी निपुणता, बुद्धि-कौशल एवं सौजन्य से विरोधियों को भी अपने अनुकूल बना लिया करते थे मुझपर उनका सहज स्नेह था। उन्होंने धर्मसंध के अन्तर्गत सन्त-सम्मेलन का संघठन किया था, जिसमें अध्यक्ष थे वेद भगवान् और उपाध्यक्षों में मेरा नाम भी था। लोगों ने मेरे व्याख्यान के लिए जब आग्रह किया किया और मैंने संकोच प्रकट किया तो भरी सभा में श्री करपात्री जी ने मुझे देखकर लोगों से कहा कि ये तो हमारे निधि हैं, इनको जैसे अनुकूल पड़े वैसे ठीक है, संकोच में डालने की आवश्यकता नहीं है।

सन् १९४८ की वसन्त ऋतु में श्री करपात्री जी महाराज़ वृन्दावन पधारे थे। वे रमणरेती में श्री राधाकृष्ण धानुका की कोठी में ठहरे हुए थे। वे उन दिनों पांच या सात दिन तक गंगा जल पर रहने के बाद भिक्षा लेते थे। इतना मुझे अवश्य स्मरण है कि वे धानुका जी की कोठी में एक साधारण से आसन पर बैठ जाते थे और मैं उन्हें श्रीमद्‌भागवत पर प्रवचन सुनाया करता था। प्रतिदिन सायंकाल का यह नियम ही हो गया था। जब वे सुन सुनकर प्रसन्न होते तो मेरे हृदय में आनन्द का समुद्र लहराने लगता था। सिद्धान्ततः अद्वैत एवं भावतः भक्ति का प्रतिपादन उन्हें बहुत प्रिय था। वे कभी-कभी गद्‌गद् हो जाया करते थे। यह निश्चित है कि वे वेदों से लेकर अवकहड़ा-चक्र एवं हनुमान चालीसा पर्यन्त के जानकार थे, सबको मानते थे, सबका समर्थन करते थे। उनको मुझसे श्रीमद्‌भागवत सुनने की कोई आवश्यकता नहीं थी, फिर भी यह उनका स्नेह ही था कि मुझे आदर देते थे। "अमानी मानदो मान्यः" का यह प्रत्यक्ष निदर्शन था।

श्रीकरपात्री जी महाराज, अन्य शास्त्रों के समान रस-शास्त्र के भी अप्रतिम विद्वान् थे। जब वे रस-तत्त्व का प्रतिपादन करने लगते तो वड़े-बड़े रस-मनीषि

भी आश्चर्य ...चकित रह जाते थे। वे जब रस के सम्बन्ध में अनुमानवादी, प्रत्यक्षवादी एवं अपरोक्षवादी आचार्यों का खण्डन करते, श्री मधुसूदन सरस्वती के द्वारा भक्ति रसायन में प्रतिपादित रस-तत्त्व के समर्थन में अपनी लोक-विलक्षण, विचक्षण प्रतिभा को प्रकाशित करने लगते थे तब ऐसा कौन रस-मर्मज्ञ है जो मुग्ध न हो जाय ? उनका कहना था—जब स्थायिभावावच्छिन्न चैतन्य, आलम्बन विभावावच्छिन्न चैतन्य से एक होता है, तभी रस का अनुभव होता है। रस-प्रणाली में आलम्बन-विभावावच्छिन्न-चैतन्य का आवरण-भंग तो हो जाता है, परन्तु स्थायिभावावच्छिन्न चैतन्य का आवरणभंग नहीं होता। वह तो ब्रह्मात्मैक्य-बोध होने पर ही होता है। वस्तुतः उपनिषदों में रस, आनन्द, सुख-भूमा आदि के नाम से निरुक्त रसस्वरूप आत्मा का ही निरूपण है। वही अपनी अनिर्वचनीय ह्लादिनी शक्ति के योग से आस्वादन का विषय होता है। वस्तुतः रस में आस्वाद्य-आस्वादक भाव नहीं है। रस्य एवं रसिक की एकता में ही रसानुभूति है।

श्रीकरपात्री जी महाराज का मुझ पर कितना स्नेह था, इसके दो उदाहरण आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं—

(१) बम्बई वाले श्री प्रेमपुरी जी महाराज एवं दैवी-सम्पत-महामण्डल के अध्यक्ष स्वामी श्री शुकदेवानन्द जी महाराज से अत्यन्त गाढ़-सम्बन्ध होने के कारण, मैंने अखिल भारतीय भारत साधु समाज का अध्यक्ष पद स्वीकार कर लिया था। निश्चय ही वह संस्था उन दिनों भारत के गृहमन्त्री श्री गुलजारी लाल नन्दा की प्रेरणा और भारत सेवक समाज के कार्यकलाप से सम्बद्ध थी। मेरा अध्यक्ष होना श्रीकरपात्री जी महाराज को पसन्द नहीं था। मैं जब उनका दर्शन करने गया तो वे मुझ पर बरस पड़े—"तुम इस सरकारी संस्था में क्यों सम्मिलित हुए ?" लगभग एक घंटे तक वे मुझे समझाते रहे। उन्होंने यहाँ तक कहा कि अच्छा, कोई बात नहीं, मैं अब ऐसे कहा करूँगा कि जैसे कांग्रेस में एक सम्पूर्णानन्द विद्वान् है वैसे ही भारत साधु समाज में एक अखण्डानन्द हैं। उनके इस स्नेह को देखकर मैं कुछ बोल नहीं सका, चुपचाप प्रणाम करके चला आया। तब से साधु-समाज के प्रति मैं उदासीन हो गया और फिर किसी अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुआ।

(२) दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—स्वामी करपात्री जी महाराज प्रायः प्रतिवर्ष एक-दो बार श्री वृन्दावन धाम अवश्य आ जाया करते। यहाँ श्री 'राधाकृष्ण-तत्त्व' पर प्रवचन करते। कई बार 'श्रीराधा-सुधा-निधि' पर भी प्रवचन किया। यहाँ के रस में उनका इतना गम्भीर प्रवेश एवं अनुभव है, यह देखकर यहाँ के रसिक गण मुग्ध-मुग्ध हो जाया करते थे। बाबा श्री प्रियाशरण जी महाराज के

रस-प्रवचन में रसिकों की जितनी उपस्थिति होती थी उससे भी अधिक श्रीकरपात्री जी महाराज की। मैं कभी-कभी जाया करता था।

एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि तुम मेरे लिखे श्रीभक्तिरसार्णव ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद कर दो, क्योंकि यह काम तुम्हारे अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। मैंने कहा—"महाराज ! आप ऐसा क्यों कहते हैं ? वे बोले कि जो वृन्दावन के रस और अद्वैत सिद्धान्त दोनों का जानकार है, वही इसका अनुवाद कर सकता है। मैंने उनकी आज्ञा मानकर अधिकांश भक्ति-रसार्णव का अनुवाद कर दिया और उन्हों के नाम में विभिन्न पत्रों में प्रकाशित हुआ। वे मुझसे बहुत प्रसन्न थे। मैं उन्हें अपने गुरु के समान ही मानता था। ब्रह्म एवं धर्म का जैसा निरूपण वे करते थे, वह पूर्णतः मुझे मान्य था।

वृन्दावन के श्री मस्तराम बाबा श्रीकरपात्री जी महाराज से और मुझसे अत्यधिक स्नेह करते थे। काशी के श्री साधुबेला आश्रम में एक बार विद्यार्थियों की प्रतियोगिता हुई थी—शास्त्रार्थ के रूप में। पुरस्कार-पदक देना था। श्री मस्तराम बाबा ने कहा—"मेरा संकल्प, यह पदक श्री करपात्री जी महाराज के नाम से देने का है।" मैंने उन्हें स्वर्ण-रजत पदकों में जो व्यय होना था दे दिया। उनसे श्री करपात्री जी महाराज का संवाद मुझे और मेरा, महाराज को मिलता रहता था। किसी प्रसंगवश श्री करपात्री जी महाराज ने श्रीमद्भागवत कथा के सम्बन्ध में मेरी मस्तराम बाबा से प्रशंसा कर दी। प्रशंसा में अत्यधिक अतिशयोक्ति थी। मस्तराम बाबा को वह बात ठीक नहीं लगी तो मुझसे आकर कहा। मैंने कहा कि श्री करपात्री जी महाराज सर्वथा ठीक कहते हैं क्योंकि मैं सात दिन में श्रीमद्भागवत पूरा कर लेता हूँ, वे नहीं कर सकते। उन्हें एक श्लोक की व्याख्या करने में वर्षों लग सकते हैं। मस्तराम बाबा ने यह बात जाकर जब महाराज से कही तो वे हँसने लगे और बोले कि सचमुच ऐसा ही है।

स्वामी श्री करपात्री जी महाराज जब भक्तिरस का प्रवचन करने लगते थे—चाहे दर्शन शास्त्र के प्रसंग हो, चाहे वृन्दावनी मधुर भक्ति रस हो, वे अपनी प्रतिभा से ऐसे अद्भुत, अपूर्व एवं विद्वत्जन मनोहारी अभिप्राय बता देते थे कि लोग आश्चर्यमय आनन्द में मग्न हो जाते थे। देखिये उदाहरण—

'नटवर वपु' की व्याख्या कर रहे थे। श्रीकृष्ण का सुधा-श्रावी वपु (वं=अमृतबीजं, पुष्णाति) नट एवं वर दोनों के सदृश है। 'नट' विप्रलम्भ शृंगार अर्थात् विरह का प्रतिनिधित्व करता है। 'वर' सम्भोग शृंगार अर्थात् मिलन के रस का प्रतिनिधित्व करता है। स्पष्ट है कि जो उस समय वहाँ नहीं है—शीतल

मन्द-सुगन्ध वायु, चन्द्रोदय आदि उद्दीपन तथा नायक-नायिका रूप आलम्बन अपने अभिनय के द्वारा उपस्थित कर देता है। सामाजिक का उस दृश्य से तादात्म्य हो जाता है अर्थात् स्थायिभावावच्छिन्न चैतन्य, आलम्बनविभावावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न हो जाता है। रसानुभूति होने लगती है। 'वर', सम्भोग शृंगार अर्थात् मिलन के प्रतिनिधि के रूप में आता है और वह मिलन का रस अनुभव कराता है। श्रीकृष्ण आज नट एवं वर दोनों को ही प्रकट करके आ रहे हैं। क्या आश्चर्य है? एक में ही मिलन एवं विरह दोनों का आनन्द!! हाँ, तो यही वृन्दावन का मधुर रस है।

'मिले रहत मानो कबहुँ मिले ना'।

पिपासा विरहवत् होती है। तृप्ति मिलनवत् होती है। प्रेम में इन दोनों का युगपत् निवास है। तृप्ति, पिपासा को बढ़ाती है। पिपासा तृप्ति के आनन्द को बढ़ाती है यही श्री राधाकृष्ण का स्वरूप है। अनादिकाल से अनवरत यह लीला हो रही है, परन्तु एक ने दूसरे को पहिचाना नहीं। जहाँ अनुभव साक्षात् अपरोक्ष है—वहाँ पूर्वानुभूत पहिचान की स्फूर्ति ही क्यों हो? अनुभव जब परोक्ष होता है तब बाद में उसकी स्मृति होती है। यहाँ साक्षात् अपरोक्ष रस में स्मृति क्या?

'लाल-प्रिया में भई न चिन्हारी'

यह है 'नटवर वपु'।

जिन सात समुद्रों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है वे तो भौतिक हैं। भगवान् के नामोच्चारण से वे सूख जाते हैं। वानर भट उन्हें लांघ भी जाते हैं। परन्तु, स्वयं भगवान् दिव्यातिदिव्य प्रेमामृतमहासमुद्र हैं। गोपियाँ उस दिव्य सिन्धु की तरंग हैं। जैसे तरंग में जल की व्याप्ति होती है, वैसे ही गोपियों के रोम-रोम में परमप्रेमपियूषाम्बुनिधि भगवान् व्याप्त हैं। भगवान् के रोग-रोम में गोपियाँ हैं। परन्तु, तरंग एवं रोम-रोम बहिरंग हैं उस अमृत-समुद्र में जो शीतलता है म्रदिमा है, मधुरिमा है—उस अमृत समुद्र में जो मिठास है, वह वृषभानुनन्दिनी है। यह ह्लादिनीसार-सर्वस्व ही सच्चिदानन्द घन भगवान् श्रीकृष्ण को ह्लादित करता है।

"ह्लादिनी के आनन्द श्याम

आनन्द की ह्लादिनि श्यामा"

परमानन्द कन्द रस घन को भी मधुरातिमधुर रस देने वाले—

"परस्पर दो चकोर दौ चन्दा"

रस-रीति की परिपाटी का पालन जहाँ श्री स्वामी जी अत्यन्त दक्षता और प्रामाणिकता से करते थे, वहाँ वे 'रसो वै सः', 'एकञ्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधा-माधव-रूपकम्' इन वेद-वेदान्तों की उक्तियों को भी ललित वाक्य-कदम्बों—वचनामृतों के द्वारा पूर्ण चरितार्थ करते थे। 'क्लीं' बीज और 'कृष्ण' नाम की रसात्मकता और दार्शनिकता का युगपत् निर्वाह वे जिस अनुपम-रीति से करते थे, उसका समास्वादन रसिकवृन्द उन्हीं के शब्दों में करें—

श्री राधा माधुर्याधिष्ठात्री शक्ति हैं। वे माधुर्यसारसर्वस्व श्रीकृष्ण चन्द्र के अमृतमय मुखचन्द्र में अधरसुधा के रूप में विराजमान हैं। जब उन्होंने अधर-सुधा को वंशी के छिद्र में निक्षिप्त कर व्रजाङ्गनाओं के हृदय में पहुँचाया तो वही अधर-सुधा व्रजाङ्गनाओं के मुखपङ्कज में आयी। उनके अन्तरात्मा में अन्तःकरण में प्राणों में, रोम-रोम में छा गयी। जहाँ वृषभानुनन्दिनी का संचार है, वहीं श्रीकृष्ण-परमानन्द का रमण होता है। पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् अपनी ही माधुर्याधिष्ठात्री शक्ति का आस्वादन करते हैं। फूलों में स्वयं आघ्राण-शक्ति हो तो वे जैसा आघ्राण करेंगे, वैसा ही यह रमण है।

माना जाता है कि 'क्लीं' जो कि कामबीज है, उसमें 'क्' का अर्थ है श्रीकृष्णचन्द्रपरमानन्दकन्दमदनमोहनव्रजेन्द्रनन्दन, 'ल्' का अर्थ है राधा-रानी वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी, 'ई' जो कि दीर्घ चतुर्थ स्वर है उसका अर्थ है तन्त्रों में 'कामकला', जिसका तात्पर्य है उत्कट प्रीति और 'ं' (बिन्दु) का अर्थ है रसोद्रेक। अर्थात् 'क्' = अचिन्त्य परमानन्दसुधासिन्धु श्रीकृष्ण, 'ल' = सुधासिन्धु के माधुर्य-सारसर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी, 'ई' = आनन्दसारसर्वस्व श्रीकृष्ण और माधुर्य-सारसर्वस्व श्री राधा रानी दोनों का परस्पर प्रेम, 'ं' = श्री राधा-कृष्ण के परस्पर सम्मिलन से प्रादुर्भूत रसोद्रेक। इस तरह काम बीज 'क्लीं' का अर्थ है, 'श्री राधाकृष्ण के परस्पर प्रेमपूर्ण सम्मिलन से प्रादुर्भूत लोकोत्तर रसोद्रेक'। श्री राधा-कृष्ण दोनों का सम्बन्ध अकाट्य है। मरकतमणि में जैसे काञ्चन की तादात्म्यपत्ति हो गयी हो अर्थात् मरकतमणि में काञ्चन खचित हो गया हो और काञ्चन में मरकतमणि खचित हो गयी हो। लेकिन इस सम्बन्ध से भी ऊँचा सम्बन्ध है तरंग और जल का। तरङ्ग को जल का विप्रलम्भ (वियोग, विच्छेद) नहीं होता।

श्री कृष्ण शब्द का अर्थ है सदानन्द। कहा है—'कृषि र्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः', 'भू'-सत्ता और 'ण'-निर्वृति आनन्द है। तथा च 'सत्ता और आनन्द' कृष्ण पद का अर्थ है। श्री कृष्णतत्त्व में राधा और कृष्ण दोनों आ जाते हैं। वह सत्ता महासत्ता रूप है जिसके बिना सब असत् है। उसी स्वप्रकाश सत् से सबकी सत्ता है, वही 'कृष्ण' हैं। निर्वृति अर्थात् निरुपद्रव निर्विशेष स्वप्रकाश आनन्द है,

वही 'राधा' हैं। यह सत् और आनन्द कभी वियुक्त नहीं होते। इसलिये श्री वृषभानु-नन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर-अन्तरात्मा हैं। उभय-उभय भावात्मा, उभय-उभय रसात्मा हैं। जैसे चन्द्रमा में चन्द्रिका, भानु में प्रभा; वैसे ही परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण में व्रजाङ्गना हैं। इससे भी अन्तरङ्ग यह सम्बन्ध है कि अमृत में मधुरिमा, वैसे परम रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण में उनकी माधुर्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी। अमृत से मधुरिमा को अलग किया, फिर अमृतत्व ही क्या? वेदान्ती गुण-गुणी दोनों का तादात्म्य मानते हैं। इसलिये सत्ता-आनन्दरूप वृषभानुनन्दिनी और कृष्ण दोनों एक ही हैं। एक ही सदानन्दरूप भगवान् गौरतेज-श्यामतेज राधा-माधव रूप में प्रकट हुए हैं। मानो गौर-श्याम शीशियों में श्याम-गौर-रस भरा हो। गौर-शीशी श्याम हृदय की वस्तु है और श्याम शीशी गौर-हृदय की वस्तु। गौर में श्यामरस भरा है एवं श्याम में गौररस। दोनों में परस्पर अन्तरङ्गता है।

'तमालश्यामलत्विट् यशोदास्तनन्धय' श्रीकृष्ण ही 'कृष्ण' शब्द का अर्थ है, ऐसा भी कोई कहते हैं। ऐसा, कहने पर भी कोई विरोध नहीं है। सत्ता और आनन्द दोनों का ऐक्य है।

साधारण शृङ्गार में भावना अभिमानमात्र है। यहाँ तो स्वरूप परिवर्तन भी है। वृन्दावन, श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द, वृषभानुनन्दिनी, व्रजाङ्गनाएँ सतत समवेत लीला भूमि उस अचिन्त्य, अनन्त, अद्भुत प्रेमानन्दरस सिन्धु में क्षणे-क्षणे आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं; उन्मज्जन-निमज्जन करते रहते हैं। उस स्थिति में कभी श्रीकृष्ण चन्द्र वृषभानुनन्दिनी के रूप में प्रकट होते हैं तो कभी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्ण चन्द्र के रूप में प्रकट होती हैं। यही कहा—'उभयोभयभावात्मा'। तात्पर्य यह कि साधारण नायक में उत्कृष्ट रस ही व्यक्त नहीं हो सकता, पर निखिलरसामृत-मूर्ति उद्बुद्ध उभयविध शृंगार-रसात्मक श्रीकृष्ण तो रसस्वरूप ही हैं। इनके सम्पर्क से इतना उत्कट अद्भुत अनन्तरस उद्भूत होता है कि परस्पर भावापत्ति हो जाती है।

निरतिशय स्वप्रकाश सदानन्दस्वरूप राधा-माधवरूप श्री कृष्णतत्त्व यद्यपि तारतम्य विहीन है, फिर भी व्रज, वन और निकुंज में उसकी उत्तरोत्तर उज्ज्वल अभिव्यक्ति का रस-रहस्य श्री स्वामी जी इस प्रकार व्यक्त करते थे—'कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्चनिर्वृतिवाचकः' के अनुसार श्री कृष्ण वेदवेद्य परिपूर्ण स्वप्रकाश सदानन्द-स्वरूप परब्रह्म तत्त्व ही हैं। परब्रह्म निरतिशय होने के कारण तारतम्यविहीन है। फिर भी व्रजभूमि सर्वस्व श्रीमद्वृन्दावन धाम में वह जैसा मधुर अनुभूयमान होता है, वैसा अन्यत्र नहीं। अतएव भावुकों ने द्वारकास्थ, मथुरास्थ और

ब्रजस्थ श्रीकृष्ण में भी व्रजस्थ, वृन्दावनस्थ और निकुञ्जस्थ भेद से तारतम्य माना है। 'व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैठ्यमत्रोत्तरोत्तरम् ।'

अभिप्राय यह है कि जैसे एक ही प्रकार का स्वाति बिन्दु स्थलवैचित्र्य से विचित्र परिणाम वाला होता है, शुक्तिका में पड़कर मोती के रूप से, बाँस में वंशलोचन रूप से, गोकर्ण में गोरोचन रूप से, गजकर्ण में गजमुक्ता रूप से परिणत होता है; वैसे ही वेदान्तवेद्य तत्त्व एक रूप होता हुआ भी अभिव्यंजक स्थलकी स्वच्छता के तारतम्य से अभिव्यक्तितारतम्य होने के कारण तारतम्योपेत होता है। जैसे सूर्यतत्त्व की अभिव्यक्ति काष्ठ-कुड्यादि अस्वच्छ पदार्थो पर वैसी नहीं होती, जैसी निर्मल जल-काँच आदि पर होती है, वैसे ही राजस-तामस स्थलों में ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति वैसी नहीं हो सकती, जैसी निर्मल विशुद्ध स्थलों में। यह निर्मलता जैसे पार्थिव प्रपञ्च में स्पष्ट अनुभूयमान है, वैसे ही त्रिगुणात्मक प्रपञ्च में गुणविमर्द-वैचित्र्यसे क्वचित् प्रत्यक्षानुमान द्वारा, क्वचित् आगम तथा श्रुतार्थापत्ति द्वारा तारतम्योपेत होकर ज्ञात होती है। इसीलिये किसी स्थल में जाने से वहाँ अकस्मात् चित्तप्रसाद और किसी स्थल में चित्तक्षोभ आदि चिह्नों से भी स्थलवैचित्र्य की अनुभूति होती है। व्रज, वन, निकुञ्जों में क्रमशः एक की अपेक्षा दूसरे में वैचित्र्य है। अतएव वहाँ पूर्णतर-पूर्णतम रूप से एक ही श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्दकन्द का प्राकट्य होता है। जिसके कृपा कटाक्ष की प्रतीक्षा ब्रह्मेन्द्रादि देवाधिदेव भी करते हैं, वह वैकुण्ठाधिष्ठात्री सर्वसेव्या महालक्ष्मी ही जहाँ सेविका बनकर रहने के लिये लालायित हैं, उस सर्वोच्च विराजमान व्रजभूमि का कौन वर्णन कर सकता है? 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि'। विशुद्ध माधुर्यभाव का प्राकट्य श्रीवृन्दावन धाम में ही माना जाता है। यह बात दूसरी है कि ऐश्वर्य शक्ति मूर्तिमती होकर प्रभु की सेवा करने के सुअवसर की यहाँ प्रतीक्षा करती रहती है। प्रभु भी मृद्भक्षण आदि लीलाओं में मुखान्तर्गत ब्रह्माण्ड-दर्शन आदि के अवसर पर उसे स्वीकार करते हैं।

यहाँ नित्य-निकुञ्ज श्रीवृन्दावन से भी अन्तरङ्ग समझाजाता है। नित्य-निकुञ्ज में वृषभानुनन्दिनीस्वरूप महाभाव परिवेष्टित शृंगार स्वरूप श्रीकृष्ण चन्द्रपरमानन्दकन्द नित्य हो रसाक्रान्त रहते हैं। यहाँ प्रिया-प्रियतम के सर्वदिक् सर्वाङ्गीण संम्प्रयोग का भान भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कि सन्निपात ज्वर से आक्रान्त पुरुष जिस समय में शीतल-मधुर जल का पान करता है, ठीक उसी समय में पूर्ण तीव्र पिपासा का भी अनुभव करता है; वैसे ही नित्य-निकुञ्ज धाम में जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिक परिरम्भणजन्य रस में निमग्न रहते

हैं, उसी समय तीव्रातितीव्र वियोगजन्य तीव्रताप का भी अनुभव करते हैं। सारस पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोगजन्य रस का ही अनुभव करती है, चक्रवाकी विप्रयोग-जन्य तीव्रताप के अनन्तर सहृदयवेद्य संयोगजन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है; किन्तु नित्य-निकुञ्ज में श्री निकुंजेश्वरी को अपने प्रियतम परमप्रेमास्पद श्री व्रजराज किशोर के साथ सारस पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शतकोटि-गुणित अधिक विप्रयोग जन्य तीव्रताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रस की भी अनुभूति होती है।

अन्यत्र संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक दोनों ही शृङ्गार एक कालावच्छेदेन उद्‌बुद्ध एवं उद्वेलित नहीं होते। यहाँ परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' प्रभु श्यामसुन्दर में तो दोनों ही शृङ्गार रस एक कालावच्छेदेन व्यक्त होते हैं। कह सकते हैं कि एक में ज्वार होगा और दूसरे में भाटा। नहीं, नहीं; दोनों में ज्वार ही है। इस तरह 'श्रीकृष्ण कौन हैं ?' चन्द्र। 'कौन चन्द्र ?' श्री राधारानी में जो कृष्णविषयक सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्‌बुद्ध-उद्वेलित उभयविध शृङ्गाररसमहासमुद्र उस से निकले हुए निर्मल निष्कलंक पूर्णचन्द्र, वही श्रीकृष्ण चन्द्र हैं। इसी तरह राधारानी भी चन्द्र हैं। कौन चन्द्र ? श्रीकृष्ण चन्द्र में जो राधारानी विषयक संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्‌बुद्ध उभयविध शृङ्गार रस महासमुद्र उसी से जो आविर्भूत निर्मल-निष्कलंक पूर्णचन्द्र वे ही हैं श्रीराधारानी।

प्रेमानन्द-सुधा-सार-सर्वस्वमूर्ति हैं भगवान् श्रीकृष्ण। उनके हृदय से पूर्णानुराग रस-सार-सुधाजलनिधि समुद्‌भूत निर्मल-निष्कलङ्क चन्द्र स्वरूपा हैं वृषभानु-नन्दिनी। उनका हृदय ही है वृन्दावन। उसमें रसोद्रेक से जो जडिमा है वही है इस वनराज की जडिमा। 'श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा', 'जाड्यं रसमयं यच्च तद्‌वृन्दावन मेव हि'।

यह वृन्दावन व्रजाङ्गना वृन्द का जीवन है—'व्रजाङ्गनावृन्दस्य जीवनं वृन्दावनम्', रसिकवृन्द और गुणवृन्द का अवन-संत्राण (रक्षण) इससे है अर्थात् रसिक जनों के एकमात्र जीवन का आलम्बन यह श्री वृन्दावन धाम है—'वृन्दस्य गुणसमूहस्य, गुणिसमूहस्य अवनं यस्मात् तत्।'

यह श्री वृन्दावन वृन्दा का यौवन अर्थात् देदीप्यमान स्वरूप ही है—'वृन्दायाः यौवनं वृन्दावनम्', वृन्दा की स्थिति यह है कि हर स्थिति में श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों से सुशोभित होना। जब प्रभु शालग्राम रूप में विराजमान हों, तब वह तुलसी रूप में सेवा करती है। जब प्रियतम प्राणधन पूर्णतम पुरुषोत्तम रूप में प्रभु अवतार लेते हैं, तब वृन्दावन के रूप में प्रकट होती है। यहाँ जो यमुना है, वह वृन्दा के हृदय की प्रेमानन्दरससरिता है। जो तरु हैं, वे वृन्दा के रोमाञ्च हैं और जो भूमि है वह देह है।

इस विपिनराज की महिमा अद्‌भुत है। श्री व्रज भक्तों के पद-पङ्कज-रज के संस्पर्श के लोभ से 'नोद्धवोऽण्वपि मन्यून:' के अनुसार साक्षात् श्रीकृष्ण से भी अन्यून महाभागवत उद्धव भी वृन्दावन धाम के तृण-गुल्मादि होने की स्पृहा प्रकट करते हैं—'बृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।'

श्रीमद्‌प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभृति महानुभाव श्री वृन्दावनधाम-बहिर्भूत अनन्त चिन्तामणियों की ही नहीं, वरञ्च श्रीहरि की भी उपेक्षा करने की सलाह देते हैं—'मिलन्तु चिन्तामणिकोटिकोटय:, स्वयं हरिर्द्वारमुपैति सत्वर: ।' 'विपिन-राज-सीमा के बाहर हरि हूँ को न निहार। यद्यपि मिले कोटि चिन्तामणि तउ न हाथ पसार।'

भगवदाकार से आकारित वृत्ति पर भगवत् तत्त्व का प्राकट्य होता है, उसे भी 'वृन्दावन' कहते हैं। इस तरह साभास अव्याकृत एवं साभास चरमा वृत्ति को भी 'वृन्दावन' कहते हैं। इसीलिये जो महानुभाव वृन्दावन के उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावन में प्रारब्धवश नहीं रह पाते, वे भी व्यापी वैकुण्ठ कारणतत्त्व स्वरूप ब्रह्म के व्यापक होने से तत्-स्वरूप वृन्दावन का प्राकट्यसम्पादन शक्ति बल से कहीं भी रहकर कर लेते हैं।

भावुकों ने व्रज तत्त्व को हिततम वेदवेद्य प्रेमतत्त्व का स्वरूप अर्थात् शरीर ही माना है। प्रेम तत्त्व के व्रजधामरूप शरीर में श्री व्रजनवयुवतिजन इन्द्रियाँ रूपा हैं। मन:स्वरूप रसिकेन्द्रवर्गमूर्धन्यमणि श्रीव्रजराजकिशोर हैं। प्राणरूपा प्रज्ञास्वरूपा श्री व्रजनवयुवतिकदम्बमुकुटमणि कीर्तिकुमारी श्रीराधा हैं। 'यो वै प्राण: सा प्रज्ञा' ऐसे स्थलों में क्रियाशक्ति प्रधान प्राण और ज्ञानशक्ति प्रधान प्रज्ञा का ऐक्य विवक्षित है। प्रेममय व्रज प्रेमोद्रेक में व्रजाङ्गनारूप हो जाता है। 'तदात्मिका:', 'कृष्णोऽहं', 'मधुरिपुरहमिति' इत्यादि वचनों के अनुसार श्रीकृष्णभावरसभाविता होकर व्रजाङ्गनाएँ नन्दनन्दनस्वरूपा हो जाती हैं। रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेमोन्माद में निज प्रेयसी श्री वृषभानुनन्दिनी स्वरूप हो जाते हैं। श्री राधिका प्रेमस्वरूप से ही साक्षात् अपने प्रियतम के साथ निमग्न होती है। इस प्रकार साक्षात् वेदान्तवेद्य परमरसात्मकसुधाजलनिधि के ही दिव्य विकास प्रेममय तत्त्व उसी में पर्यवसित होते हैं। इसी तरह अनाद्यनन्तरसमागर में रसमय प्रिया-प्रियतम और उनके परिकर की रसमयी लीला का धाम अप्राकृत श्री व्रज भी रसमय ही है, सौख्य-सुधासिन्धुसार-सर्वस्व ही है। 'यत्र प्रविष्ट: सकलोऽपि जन्तु:, आनन्दसच्चिद्‌घनता-मुपैति' अर्थात् 'जिस वृन्दावन धाम में प्रविष्ट होते ही कीट-पतङ्गादि भी सच्चिदा-नन्दघन स्वरूप हो जाते हैं।

भावुकों ने सच्चिदानन्द रससारसरोवरसमुद्भूतसरोजस्वरूप व्रज को माना है। सरोजस्थ केशरों को व्रज-सीमन्तिनी, तदन्तर्गत पराग को श्रीकृष्ण और परागान्तर्गत मकरन्द को श्री वृषभानुनन्दिनी माना है। यह सभी उत्कर्षतारतम्य भगवत्स्वरूप में ही दिव्य लीलाशक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है। यद्यपि संसार भी परब्रह्म स्वरूप में मायाकृत विलासविशेष ही है, तथापि जैसे नेत्र और सूर्य के मध्य में मेघादि अस्वच्छ उपाधि सूर्य का आच्छादन करती है, जब कि उपनेत्र एवं दूरवीक्षणादि सूर्य स्वरूप के आच्छादक न होकर अभिव्यंजक ही होते हैं; उसी प्रकार सत्त्वादिमयी मायाशक्ति स्वरूप को प्रावृत्त करके प्रपञ्च को प्रतिभासित करती है; परन्तु अचिन्त्य, दिव्य परमान्तरंगा लीलाशक्ति स्वरूपप्रावरण के विना ही विविध माधुर्यमय भावों की अभिव्यञ्जिका होती है। अतएव ब्रह्मविद्रवरिष्ठ भी पूर्णानुराग-रससारसरोवरसमुद्भूतसरोजरूप प्रभु में अपने मनोमिलिन्द को रमाने में लोकोत्तर रस का अनुभव करते हैं।

भावुकों के भावनाराज्य वाले शून्य-निकुञ्ज में ही प्रियतम सङ्केतित समय में पधारते हैं, किसी अन्य के सानिध्य में नहीं; वैसे ही वेदान्तियों के यहाँ भी भगवान् से व्यतिरिक्त जो दृश्य पदार्थ हैं उनके संसर्ग से शून्य निर्वृतिक और निर्मल अन्तःकरण में ही 'तत्पदार्थ' का प्राकट्य होता है।

· जैसे सर्व-व्यापारों से रहित होकर पूर्ण प्रतीक्षा ही प्रियतम के संगम का असाधारण हेतु है; वैसे ही वेदान्तियों के यहाँ भी पूर्ण प्रतीक्षा अर्थात् कायिकी, मानसी आदि सर्व चेष्टाओं का निरोध होने पर ही 'त्वं पदार्थ' को 'तत्पदार्थ' का सङ्गम प्राप्त होता है। सर्वदृश्य-संसर्ग-शून्य निर्वृत्तिक निर्मल अन्तःकरण रूप निकुञ्ज में पूर्णप्रतीक्षा-परायण व्रजाङ्गना-भावापन्न 'त्वं' पदार्थ श्रीकृष्ण स्वरूप 'तत्पदार्थ' के साथ यथेष्टतादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त करता है।

नाम, रस, धाम और श्री राधा-कृष्ण के उक्त रस-रहस्यमय दिव्य निरूपण के साथ ही माहात्म्य-प्रकाश, मङ्गल श्लोक-व्याख्या, शुकागमन-शुक-परीक्षित्-संवाद, प्रह्लाद-बलि-चरित, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामभद्र और लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र की लीलाओं का मार्मिक दिग्दर्शन प्रस्तुत 'भागवत-सुधा' में में मनोरम रीति से श्री स्वामी जो के श्री मुखारविन्द से अभिव्यक्त हुआ है।

धर्म और ब्रह्म के मर्मज्ञ श्री स्वामी जी ने भक्तिसुधा, भक्तिरसार्णव और इस भागवत-सुधा के माध्यम से लोकोत्तर अमलात्मा-मुनीन्द्र-श्रीमत्परमहंसों के जिस जीवन का अनुपम रीति से चित्रण किया है, उसके स्वयं मूर्तिमान् स्वरूप ही थे। जीवन के चरम-चरण में देश-काल-कलना-विमुक्त अखण्ड 'बोधरूप शिवतत्त्व के रूप में ही वे

श्री वाराणसी केदारखण्ड में विराजमान् थे। भागवत-कथामृत का पान करते अघाते नहीं थे। रोमाञ्चकण्टकित प्रेमाश्रुपरिप्लुत उनके स्वरूप का वह मङ्गलमय दर्शन भावुक रसिकों के और रसज्ञों के हृदय में स्फुरित रहे। अरसिकों के हृदय में उन्हीं के शब्दों में यह रहस्य अभिव्यक्त करे—कई लोग कहते हैं, 'जो द्वैत मिथ्या मानेगा, वह भक्ति कर ही नहीं सकता। सगुण-साकार जिसकी दृष्टि में सर्वथा मिथ्या एवं असत् है, उसकी भक्ति विडम्बनामात्र है।' परन्तु ऐसा कथन तथ्यहीन है। ब्रह्म को सत्य का भी सत्य कहा गया है, 'सत्यस्य सत्यम्'। षष्ठ्यन्त सत्य प्रथमान्त सत्य की अपेक्षा न्यून है। इसी आधार पर सत्तात्रैविध्य की कल्पना भी है। मिथ्या शब्द का अपह्नव या अपलाप अर्थ, लोगों को भ्रम में डालता है। शुक्ति-रजतादि बाध्य होते हैं; अतः वे प्रातिभासिक सत्य कहे जाते हैं। घटादि उनकी अपेक्षा अबाध्य होने से व्यावहारिक सत्य सिद्ध होते हैं। घटादि कार्य भी स्व-कारण मृत्तिकादि की अपेक्षा बाध्य, मिथ्या एवं न्यून सत्ता वाले होते हैं। मृत्तिकादि उनकी अपेक्षा अबाध्य, सत्य एवं अधिक सत्ता वाली होती हैं। क्रमेण इसी तरह बढ़ते-बढ़ते भगवद्गुणादि सर्वापेक्षया सत्य, उत्कृष्ट, अबाध्य एवं अधिक सत्तावाले होते हैं। 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे' के अनुसार गुणगण शेष हैं और भगवान् शेषी। सर्वान्तरतम भगवत्—स्वरूप उनकी अपेक्षा भी अधिक उत्कृष्ट सत्य एवं अत्यन्ताबाध्य होता है। इस तरह भगवत्स्वरूपापेक्षया गुणादि के किञ्चिन्न्यून सत्ता वाला होने पर भी कोई बाधा नहीं। स्वसमान सत्तावाले किसी अन्य के सिद्ध न होने के कारण भगवान् की अद्वितीयता सिद्ध है।

अचिन्त्य आनन्द-सुधासिन्धु भगवान् के जिस माधुर्य का समास्वादन केवल वृत्तिशून्य अन्तःकरण से नहीं किया जा सकता, उसका भी तत्त्वज्ञ भावुकगण भगवान् की दिव्य लीलाशक्ति की सहायता से अनुभव करते हैं। उपाधिविशुद्धि के तारतम्य से माधुर्य-विशेष के प्राकट्य का भी तारतम्य रहता है। यद्यपि और इन्द्रियों (करणों) की अपेक्षा तो शुद्ध निर्वृत्तिक अन्तःकरण की स्वच्छता विशेष है तथापि भगवान् की जो लीला शक्ति है, वह उसकी अपेक्षा भी अनन्तगुणित स्वच्छ है। वह रजोगुण-तमोगुण के स्पर्श से रहित है। वही अशेष-विशेषातीत परमानन्दात्मक शुद्ध स्वरूप को अचिन्त्य एवं अनन्त आनन्दमय सौन्दर्यसुधानिधि परमदिव्य श्रीकृष्ण-विग्रह में अभिव्यक्त कर देती है। जिस प्रकार पुष्प के बीज में कण्टकादि उत्पन्न करने वाली शक्तियों की अपेक्षा सुकोमल एवं सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करने वाली शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट और विशुद्ध होती है, उसी प्रकार प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तियों की अपेक्षा भगवान् की मङ्गलमयी मूर्ति का स्फुरण करने वाली शक्ति परम विलक्षण होनी ही चाहिये। उसी के द्वारा भगवान् अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधानिधि मङ्गलमूर्ति धारण करते हैं।

वह देह सोपाधिक चेतन का कार्य होने पर भी प्राकृतिक कार्यों से विलक्षण होता है। तामस, राजस देहों की अपेक्षा विशुद्ध सत्त्वमय शरीरों में विशेषता रहती ही है। तामसी या अविशुद्ध सत्त्वप्रधान प्रकृति से चैतन्य आवृत होता है; परन्तु विशुद्ध सत्त्वप्रधान प्रवृति, माया या दिव्य शक्ति से निरावरण ही रहता है। सूर्य मेघ से आवृत हो जाता है, परन्तु नेत्र और सूर्य के मध्य में दूरवीक्षण यन्त्र होने से वह आवृत नहीं होता। जैसे स्पर्श विहीन आकाश स्पर्शवान् वायु के रूप में प्रकट होकर भी अपने आकाश रूप में बना ही रहता है, वैसे ही अनेक रूपों में प्रकट होकर भी परमात्मा अपने निर्गुण-निराकार रूप में बने ही रहते हैं। समान सत्ता वाले भावाभाव का ही विरोध होता है, विषम सत्ता वाले भावाभाव का नहीं, अतएव पारमार्थिक सत्तापेक्षया किञ्चिन्न्यून-सत्ताकत्व ही उस दिव्य शक्ति का व्यावहारिकत्व है, जिसके योग से अवतार सम्भव है। तथा च ब्रह्म में पारमार्थिक-दृष्टि से अजायमानता रहने पर भी व्यावहारिक-दृष्टि से जायमानता हो सकती है।

श्रीराम-कृष्णादि भगवान् की प्रथम अद्वैत-निष्ठा योग्यताप्राप्ति के लिये भक्ति की जाती है, परन्तु अन्त में भक्ति करना ज्ञानी का स्वभाव बन जाता है। यही बात 'त्रिपुरा-रहस्य' में कही गयी है—'विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः', परम आप्तकाम, पूर्णकाम ज्ञानी फलानुसन्धान विना ही स्वभाव से ही भगवान् में प्रेम करते हैं'। शुक के सम्बन्ध में कहा ही गया है—'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये', निर्गुण ब्रह्म में परिनिष्ठित होने पर भी हरि-गुणों से आकृष्ट होकर ही भागवत के अभ्यास में संलग्न हुये'। कुन्ती ने तो यहाँ तक कह डाला कि अमलात्मा-परमहंस-महामुनीन्द्रों को भक्तियोग का विधान कर श्री परमहंस बनाने के लिये निर्गुण-निराकार परब्रह्म सगुण-साकार रूप में प्रकट होते हैं—'तथा परमहंसानाम्'। भगवान् के अवतार का प्रधान प्रयोजन अमलात्मा परमहंसों के लिये भक्तियोग का विधान है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे अपनी महामायाशक्ति को स्वीकार करते हैं, जो कि अनन्त शक्तियों का पुंज है। उसमें जिस प्रकार अनन्तकोटिब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्वर्ती विचित्र भोग्य, भोक्ता और उनके नियामकादि प्रपञ्च को उत्पन्न करने की अनन्त शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार उन अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर श्री भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह में आविर्भूत होने के अनुकूल भी एक परम विशुद्धा अन्तरंग शक्ति है। वह भगवान् की अनिर्वचनीया आत्मयोगभूता महाशक्ति के अन्तर्गत होने के कारण अनिर्वचनीयता में अन्य प्रपञ्चोत्पादनानुकूल शक्तियों के समान होने पर भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ है। इसी विलक्षण शक्ति का निर्देश पराशक्ति एवं अन्तरंगा शक्ति आदि शब्दों से भी किया जाता है। वह शक्ति भी भगवत्स्वरूप में अप्रविष्ट रहती हुई ही उनके प्राकट्य का निमित्त होती है। जिस प्रकार उपाधि

विरहित, अतएव दाहकत्व-प्रकाशकत्व रहित अग्नि के दाहकत्व-प्रकाशकत्व विशिष्ट दीप-शिखादि रूप की अभिव्यक्ति में तेल और बत्ती आदि केवल निमित्त मात्र ही हैं, मुख्य अग्नि तो दीप-शिखा ही है; अथवा जिस प्रकार तरङ्ग विरहित नीरनिधि के तरङ्गयुक्त होने में वायु केवल निमित्त मात्र ही है, वास्तव में तो तरङ्गयुक्त समुद्र विलक्षणावस्था में प्रतीत होने पर भी सर्वथा वही है जो कि निस्तरंगावस्था में था, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध लीलाशक्ति रूप निमित्त से शुद्ध परब्रह्म ही अनन्त कल्याणगुणगणविशिष्ट सगुण ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त हैं, किन्तु वस्तुतः उनका वह विग्रह मूर्तिमान् शुद्ध परमानन्द ही है। उसमें उस दिव्य शक्ति का निवेश नहीं है। वह तो तट स्वरूप से ही उसका निमित्त होती है। इसी लिये भगवान् की सगुण मूर्ति के विषय में 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः', 'आनन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इसी से उसकी मधुरिमा बड़े-बड़े सिद्ध मुनीश्वरों के मनों को मोहित कर देती है। जिस समय बाल योगी सनकादि बैकुण्ठ धाम में पहुँचे, उस समय प्रभु के पादारविन्द मकरन्द के आघ्राण मात्र से उनका प्रशान्त चित्त क्षुभित हो गया। मुक्ति-मुक्तिस्पृहा से रहित भक्तों को भगवान् का निर्विशेष स्वरूप संतृप्त नहीं कर सकता, उनके लिये भगवान् को श्रीराम-कृष्णादि रूपों में व्यक्त होना पड़ता है।

श्रीमद्भागवत एवं श्रीरामचरितमानस तो इसी आधार पर भक्ति, विरक्ति तथा भगवत्प्रबोध का सामञ्जस्य बतलाते हैं। वेद, उपनिषदों तथा अन्य पुराणों का भी ऐसा ही स्वारस्य प्रतीत होता है। सन्त ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, मुक्ताबाई, तुकाराम, एकनाथ, समर्थरामदास आदि सब अद्वैतवादो होते हुए भी अनन्य वैष्णव थे।

इस तरह 'नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्वितासीत्' यह उक्ति श्री स्वामी करपात्री जी महाराज के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से चरितार्थ हुई है। वेद वाणी और तदनुकूल समस्त शास्त्रों का जैसा समन्वित और समञ्जस स्वरूप उन्होंने अपनी वाणी और लेखनी के द्वारा व्यक्त किया है, वह आत्मसात् करने योग्य है।

दिग्दर्शन

स्वामी श्रीनिश्चलानन्दजी महाराज

श्रीभगवान् अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, वेदों के परम तात्पर्य हैं। वस्तुतः वे ही निगमकल्पतरु के गलित फल हैं, साक्षात्—'रस' ही हैं[1]। उन्हीं का प्रतिपादन श्रीमद्भागवत में हुआ है। यही कारण है कि प्रतिपाद्य परब्रह्म के अनुरूप ही प्रतिपादक श्रीमद्भागवत को भी निगमकल्पतरु का गलितफल कहा गया है। यद्यपि वेद, उपनिषद् और तदनुकूल गीतादि शास्त्रों का सार-सर्वस्व मानकर ही श्रीमद्भागवत को निगमकल्पतरु का गलित फल माना गया है, तथापि इसमें 'परम सत्य' अर्थात् 'वास्तव-वस्तु' का सुस्वादु और सुस्फुट निरूपण होने के कारण ही इसे यह महत्त्व प्राप्त है।

श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में 'सत्यं परं धीमहि' (भा० १.१.१) कहकर परम सत्यको 'ध्येय' सिद्ध किया गया है। इसके द्वितीय श्लोक में 'वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्' (भाग० १.१.२) कहकर उसी वास्तव-वस्तुको 'वेद्य' कहा गया है। इसके तृतीय श्लोक में 'शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् पिबत भागवतं रसमालयं' कहकर उसी परमानन्दस्वरूप परम तत्त्वको 'गेय' और 'पेय' भी कहा गया है। इस तरह परब्रह्म ही ध्येय, ज्ञेय, गेय और पेय है। उसी की श्रीराम-कृष्णादि और सीता-राधादि रूपों में अचिन्त्य लीला-शक्ति अर्थात् आत्मयोग या स्वात्मवैभव के अमोघ प्रभाव से अभिव्यक्ति होती है। उसके ध्यान, ज्ञान, गान और पान से तापत्रय की निवृत्ति और शिवपद की प्राप्ति होती है। उसकी जिज्ञासा ही जीवन की सार्थकता है। 'जीविका जीवन के लिये है और जीवन है जीवनधन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये—'जीवस्य तत्त्व-जिज्ञासा' (भाग० १.२.१०)। उस जीवनधन निरावरण परब्रह्म श्रीराम-कृष्णादि का ही आद्योपान्त अभिव्यंजक होने के कारण यह पद-पद में सुस्वादु है, 'स्वादु स्वादु पदे पदे' (भाग० १.१.१९)।

---

१. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद् २.१)
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदारण्यकोपनिषत् ३.९.२८)
रसो वै सः (तैत्तिरीयोपनिषत् २.७)
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति (कठोपनिषत् १.२.१५)
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (भगवद्गीता १५.१५)

यद्यपि भागवत स्वयं ही निगमकल्पतरु का गलित फल है, श्रीशुकमुख-निगदित अमृतद्रवसंयुत पेय है। परन्तु इसका भी रस-रहस्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य के मुखारविन्द से ही अभिव्यक्त होता है। धर्म और ब्रह्म के मर्मज्ञ, सर्वभूतहृदय श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य प्रातःस्मरणीय सद्गुरुदेव अनन्त श्रीविभूषित धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज के मुखारविन्द से 'पारमहंस्य-संहिता'—श्रीमद्भागवत के रस-रहस्य का वर्णन श्रीमद्वृन्दावन धाम में रसिक विद्वानों के बीच हुआ। जिनके लिए आठ वर्ष का समय भी स्वल्प ही होता, उन्हें आठ दिनों में* वह भी केवल पन्द्रह घण्टों में सम्पूर्ण भागवत का प्रवचन करना था, अतः 'मण्डूक-प्लुति न्याय' से ही प्रवचन हो सका। फिर भी इस 'प्रवचन माला' को श्रीमद्भागवत का रस और रहस्य ही समझना चाहिये।

प्रथम दिन के प्रवचन में निगमकल्पतरु के गलित फल श्रीमद्भागवत के लोकोत्तर माहात्म्य का, भगवन्नाम के लोकोत्तर माहात्म्य, भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार के लिये श्रवण-मनन और निदिध्यासनकी उपयोगिता का, भगवत्तत्त्व के अनुसन्धान की श्रौत-स्मार्त शैली का तथा भगवतत्त्व का अद्भुत रीति से प्रतिपादन हुआ है।

द्वितीय दिवस के प्रवचन में 'जन्माद्यस्य यतः' (भाग० १.१.१) की मार्मिक व्याख्या की गई है। साथ ही शुक मनमोहक 'बर्हापीडं नटवर वपुः' (भाग० १०.२१.५) इस श्लोक की मनोरम व्याख्या की गई है। अकारणकरुण करुणावरुणालय श्रीहरि के लोकोत्तर स्वभाव, प्रभाव और स्वरूप का अनुपम दिग्दर्शन भी कराया गया है।

तृतीय दिन के प्रवचन में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक की परब्रह्मरूपता का दार्शनिक दृष्टिकोण से मार्मिक चित्रण किया गया है। 'विविध प्रवक्ताओं के रूप में स्वयं श्रीभगवान् ही श्रीमद्भागवत के प्रवक्ता हैं' इस रहस्य का प्रतिपादन उक्त न्याय से मनोरम ढंग से किया गया है। श्रीमद्भागवत के परमरसिक विरक्त श्रोता और प्रवक्ता परीक्षित् एवं श्रीशुक का परिचय दिया गया है। साथ ही 'लीला-शुक और निकुञ्ज-शुक' के रूप में श्रीमत्परमहंस शुकदेवजी का मनोरम दर्शन चित्रित किया गया है। पुनः मोक्षपर्यवसायी धर्म अर्थ और काम का वर्णन करते हुए 'तत्त्व की तात्त्विक परिभाषा' भी उपपत्ति सहित की गई है।

चतुर्थ दिन के प्रवचन में देवर्षि नारद का मार्मिक वृत्तान्त प्रस्तुत करते हुए भगवद्दर्शन की उत्कट उत्कण्ठा उदित करने वाली 'द्वा सुपर्णा' (मुण्डक ३.१.१) श्रुति की परम आह्लादिनी व्याख्या की गई है। कुन्तीकृत श्रीकृष्णस्तुति के सन्दर्भ में भगवदाविर्भाव के अनन्यथासिद्ध प्रयोजन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

---

* फाल्गुन शुक्ल द्वादशी मंगलवार से चैत्र कृष्ण चतुर्थी मंगलवार तक वि० सं० २०३७ (१६.३.१९८१ से २४.३.१९८१ तक)

'आत्मारामचित्ताकर्षक भगवद्-गुण-गणों से आकृष्ट अमलात्मा महामुनीन्द्र परमहंसों की भी भगवद्भक्ति में प्रवृत्ति' का रहस्योद्घाटन भी अद्भुत ढंग से ही हो पाया है। यहाँ तक की 'इन्द्रियों की सार्थकता सगुण-साकार श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के आविर्भाव से ही संभव है' यह अनुपम रस-रहस्य भी समारोहपूर्वक व्यक्त किया गया है।

पञ्चम दिन के प्रवचन में शुक-समागम के सन्दर्भ में इस रहस्य का समाकर्षक चित्रण किया गया है बिम्बरूप परमात्मा की आराधना से ही प्रतिबिम्ब-रूप जीवों की शोभा और सद्गति संभव है। इसी सन्दर्भ में एक जिज्ञासु द्वारा प्रश्न किए जाने पर बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद की श्रुति और सारगर्भित उपपत्ति पूर्वक मीमांसा की गई है। साथ ही सगुण-निराकार भगवत्स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए नाम और धाम की अद्भुत महिमा बताते हुए भगवत्प्राप्ति का जहाँ वर्णन किया गया है, वहाँ भगवत्साक्षात्कार में उपयोगी सांख्य और योग के रस-रहस्य पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। पुनः 'तेषां के योगवित्तमाः' (भगवद्गीता १२.१) अर्जुन की इस गीतोक्त शङ्का का भागवत के 'पानेन ते देव···' (भाग० ३.५.४५,४६) इन दो श्लोकों के माध्यम से अद्भुत रीति से समाधान भी किया गया है। साथ ही 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' (भाग० ११.१४.४८) का तात्त्विक अभिप्राय भी उपपत्ति सहित दर्शाया गया है।

छठे दिन के प्रवचन में ब्रह्म-नारद-संवाद के अन्तर्गत 'मोह की निवृत्ति का अमोघ उपाय— माया का श्रवण, वर्णन और अनुमोदन' पर भली-भाँति प्रकाश डाला गया है। साथ ही भक्त शिरोमणि प्रह्लाद के चरित्र का भी प्रभावशाली चित्रण करते हुए शरण्य की शरणागति और शरण्य के स्वरूप का निरूपण करते हुए सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व, सर्वशेषित्व, सुलभत्व और वात्सल्यपूर्ण मातृत्व की दृष्टि से श्री जी को ही सर्वोपरि शरण्य सिद्ध किया गया है।

सातवें दिन के प्रवचन में राजा बलि के पूर्व जन्म का वृत्तान्त और भगवान् वामन के प्रादुर्भाव का वर्णन है। इसमें राजा बलि की सत्यनिष्ठा का हृद्य-चित्रण किया गया है।

आठवें दिन के प्रवचन में भगवान् श्रीरामभद्र को वेदान्तवेद्य पूर्णतम पुरुषोत्तम आदिकर्ता 'स्वयं प्रभुः' (वाल्मीकि रामायण ६.११७.१८; ६.११७.७) अर्थात् प्रभुओं के भी प्रभु, लताओं तक को प्रेम देने वाले एवं धर्मरक्षक, समारोह पूर्वक सिद्ध किया गया है। पुनः लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के अद्भुत प्राकट्य का वर्णन किया गया है। श्रीवृन्दावन, गोपाङ्गनाएँ, श्रीकृष्णचन्द्र और श्री राधाचन्द्र के अद्भुत आलोक का वर्णन किया गया है। साथ ही मृद्भक्षण और दामोदर आदि लीलाओं का दिग्दर्शन कराते हुए प्रवचन को विश्राम दिया गया है।

आद्योपान्त प्रवचन रस-रहस्य से भरपूर है। साक्षात् शुकतुल्य श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य धर्मसम्राट् श्रीकरपात्री महाभाग के मुखारविन्द से विनिःसृत वचनामृत का पान करते ही बनता है।

प्रवचनमाला में आठ पुष्प हैं। लगभग चार सौ पचास श्लोक हैं। अठहत्तर टिप्पणियाँ हैं। ये प्रवचन धर्मसंघ, रमणरेती, श्रीवृन्दावन में होलिकोत्सव के सुअवसर पर सं० २०३७ में हुए थे। प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री महाराजश्री के इन प्रवचनों को श्री हनुमान् प्रसाद धानुका जी ने टेप कर लिया था। उन्हीं के हृदय में यह भावना हुई कि इन प्रवचनों को ग्रन्थ का रूप दिया जाय। अनन्त श्री विभूषित श्री महाराजश्री की अनुमति प्राप्त कर श्री १०८ स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती जी ने यन्त्रस्थ प्रवचनों को अद्भुत उत्साह और दक्षतापूर्वक उतारा। मनोयोगपूर्वक प्रेसकापी भी इन्होंने ही तैयार की। श्री १०८ स्वामी विपिनचन्द्रानन्द सरस्वती जी की यह सम्मति प्राप्त हुई कि समुद्धृत श्लोकों का स्थलनिर्देश और अनुवाद भी लिखा जाय। स्थलनिर्देश में पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी कृष्णानन्द सरस्वती जी महाराज और श्री पण्डित मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी से समुचित सहयोग प्राप्त हुआ। इन सभी विद्वान् सन्तों का अभिनन्दन है।

भूमिका

डा० विद्यानिवास मिश्र

ब्रह्मलीन स्वामी करपात्रीजी इस युग के अप्रतिम विद्वान, साधक और भक्त थे। यह अत्यन्त दुःखद है कि उनके ग्रन्थों का समुचित प्रचार नहीं हुआ। एक तो कारण यह था कि वे निःस्पृह थे—लिखा, फेंक दिया, पूछा भी नहीं कि कब छप रहा है। ग्रन्थों की बिक्री की आमदनी ट्रस्टों में गयी। दूसरा कारण यह था कि उनकी उपलब्धि का ठीक तरह मूल्यांकन नहीं हुआ। वेद-मीमांसा, दर्शन, तन्त्र, वेदान्त-मीमांसा, समकालीन-राजनीति, भक्ति, उपासना और साहित्य विशेषतः भक्ति-साहित्य—इन सब विषयों पर उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में ग्रन्थ लिखे। उनकी तार्किक शैली जितनी प्रखर और तीक्ष्ण है, उतनी ही सरस है उनकी भाव-प्रवण शैली। उनके व्यक्तित्व में एक ओर भास्वर तर्क-कर्कशता थी, निर्भीकता थी और बौद्धिकता का प्रबल आग्रह था, दूसरी ओर उसी व्यक्तित्व में भक्ति-विगलित भाव था, प्रेमानुगा भक्ति की तल्लीनता थी। इन दोनों में ऊपर से विरोध भले दिखता हो, दोनों का विलय परमहंस-भाव में हो गया था। वे सनक, नारद, शुकदेव और शाण्डिल्य की परम्परा की एक कड़ी थे—बिल्कुल निरपेक्ष होते हुए भी निरन्तर परमतत्व के लिए साकांक्ष। उनसे मेरी लगभग अन्तिम भेंट हुई तो उनके पार्श्ववर्ती शिष्य ने बतलाया—महाराज जी अब केवल रामचरितमानस और श्रीमद्‌भागवत पढ़वाकर सुनते हैं, इस समय चिकित्सकों ने पढ़ने से मना किया है। पहले कुछ दूसरी रचनाएँ भी, विशेष करके आस्तिक भाव का रचनात्मक साहित्य भी सुनते थे। अब यही दो ग्रन्थ सुनना चाहते हैं। मैंने स्वामीजी से पूछा—महाराज जी, ऐसा क्यों? बोले—जहाँ मुझे लगता है कि लिखने वाले ने कुछ अपेक्षा की है—चाहे वह अपेक्षा यश की ही क्यों न हो—वहाँ मेरी रुचि अब नहीं होती। श्रीमद्‌भागवत और रामचरितमानस लिखने वाले ने कोई अपेक्षा नहीं की, उनसे अपेक्षा अवश्य की गयी थी कि तुमने मेरा काम नहीं किया, तुमने लीलागान नहीं किया, तुम्हारी वाणी व्यर्थ है। इतना कहकर चुप हो गये। इसके बाद संकेत दिया, मानस से प्रसंग सुनने लगे और उनकी स्थिति हनुमान जी की तरह हो गयी, जब सीता का सन्देश प्रभु को सुना चुके, आँखों में आँसू, शरीर में रोमांच था।

स्वामीजी के भक्तिपरक व्याख्यान जिन्हें सुनने का सौभाग्य मिला है, उन्हें अनुभव होगा कि कितना डूबकर वे बोलते थे, उन्हें सुधि नहीं रहती थी।

उनकी विद्वता, उनकी कठिन साधना और उनकी कारयित्री प्रतिभा, इन तीनों की त्रिवेणी जब भक्ति के प्रयाग में मिलती हैं तो उनका सबसे महत्वपूर्ण अवदान है "भक्ति-सुधा" और "भागवत-सुधा"।

भक्तिसुधा एक प्रकार से प्रस्तुत भागवत सुधा की भूमिका है। भागवत सुधा में आठ पुष्पों में भागवत के कुछ मार्मिक प्रसंगों पर पूज्य स्वामी जी के प्रवचन संकलित हैं। प्रथम पुष्प में भक्ति के वैदिक और औपनिषद आधारों का गम्भीर विवेचन है। द्वितीय पुष्प में भागवत के जीवनभूत दो श्लोकों की व्याख्या है जिसमें पहला भागवत का प्रथम श्लोक है और दूसरा श्रीकृष्ण के वृन्दावन-प्रवेश का वर्णन करने वाला 'बर्हापीडम्' श्लोक है। तृतीय पुष्प में भागवत के वक्ता-श्रोता तथा प्रतिपाद्य का विवेचन है। चतुर्थ पुष्प में भागवत के प्रारम्भ की सार्थकता का विवेचन है तथा प्रथम स्कन्ध के कई मार्मिक प्रसंगों का विवेचन है। पंचम पुष्प में द्वितीय और तृतीय के प्रसंग हैं। षष्ठ पुष्प में सप्तम स्कन्ध के प्रसंग हैं तथा शरणागति का निरूपण है। सातवें पुष्प में वामनावतार का प्रसंग वर्णित हुआ है। आठवें में नवम एवं दशम के चुने हुए प्रसंग सरस ढंग से प्रतिपादित किये गये हैं। ये प्रवचन श्रीवृन्दावन में फाल्गुन शुक्ल द्वादशी से चैत्र कृष्ण चतुर्थी मंगलवार तक संवत् २०३७ में दिये गये थे और ये टेप पर अंकित होते गये थे। उसी टेप के आधार पर इन प्रवचनों को लिपिबद्ध किया गया है। पूज्य स्वामी जी की रससिद्ध वाणी में परिवर्तन करना अपराध होता इसलिए उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। उनके प्रारम्भिक प्रतिदिन के मंगलाचरण श्लोक भी ज्यों के त्यों दिये गये हैं केवल यत्र-तत्र सन्दर्भ मूल से मिला दिये गये हैं।

जब हम इस पूरी प्रवचन की माला को पढ़ते हैं तो लगता है कि इस प्रवचन माला का अन्त न होता, यह चलती ही रहती। पूज्य स्वामी जी कोरे विद्वान् नहीं थे, वे भगवत्परायण परमहंस थे। जहाँ कहीं वे तार्किक शैली से भागवत की शैली उपनिषदों के साथ मिलाते हैं वहाँ उनकी मेधा एक दूसरे स्तर पर कार्य करती है और जहाँ वे सगुण लीला से सम्बद्ध प्रसंगों की व्याख्या करते हैं वहाँ उनकी मेधा भाव बन जाती है और वे तब एक रसधारा बन जाते हैं। भागवत-सुधा मननीय है किन्तु विशेष रूप से द्वितीय, तृतीय, षष्ठ और अष्टम पुष्प में भक्तिरस का विवेचन अपूर्व माधुर्य के साथ हुआ है।

भक्तिरस के विवेचन में एक महत्वपूर्ण संकेत भागवत से स्वामी जी ने निकाला है कि भगवान् का सगुणरूप परमहंस तत्व को आकृष्ट करता है और उनकी लीला का चरम प्रयोजन ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले परमहंस को श्रीपरमहंस बनाना है अर्थात् ऐसा परमहंस जो भागवत की शोभा से शोभित हो। दूसरे शब्दों में

ब्रह्मज्ञान की शोभा भगवत्-प्रीति या भक्ति है। पूज्य स्वामी जी ने इसीलिए 'परित्राणाय साधूनाम्' गीता के वचन में आये हुए अंश 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' का अर्थ यह किया है कि साधु से सर्वात्मभाव से प्रीति करने वाली वे गोपांगनाएँ अभीष्ट हैं जो उनके विना एक क्षण भी सुखी नहीं रह सकती थीं। साधारण से अभिप्राय यहाँ यही है कि उनकी रक्षा के लिये अवतार की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार जिन दुष्कृतों का विनाश करना है वे दुष्कृत भी सामान्य नहीं है। वे दुष्कृत ऐसे हैं जिन्होंने भगवान् के लिये जान बूझकर दुष्कृत्य किया है। जैसे उनके ही जय-विजय इसलिए बार-बार राक्षस बनते हैं कि भगवान् की लीला की पूर्ति हो, ये लड़ते भी हैं तो इसलिए कि लड़कर भगवान् को प्राप्त करें। धर्म की संस्थापन का भी अर्थ यही है कि मोक्ष से भी बड़ा जो पुरुषार्थ भगवत्-भक्ति है उसकी स्थापना के लिये भगवान् को विवश होकर आलंबन बनना पड़ता है। इस प्रकार भगवान् की भक्ति **बिवलता** का ही परिणाम है।

पूज्य स्वामी जी ने स्थान-स्थान पर श्रीमद्भागवत की व्याख्या में न केवल श्रुति, स्मृति, प्रकरण के सन्दर्भ दिये हैं अपितु उत्तरवर्ती श्रीकृष्ण काव्य, संस्कृत में हो या व्रजभाषा में, से भी यथेच्छ उद्धरण दिये हैं। उन्होंने भागवत **भावम्** को एक ग्रन्थ मान लिया है और इसकी यात्रा को एक सुधापगा की यात्रा बना दिया है। इस सुधापगा की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इससे कभी भी तृप्ति नहीं होती, यह सुधापगा दो चन्द्रमाओं की अमृतधारा है। एक चन्द्रमा श्रीकृष्ण के अनन्त सौन्दर्य माधुर्य सौरस्य सुधानिधि में से उद्भूत होता है और उसी में बार-बार अवगाहन भी करता है। दूसरा चन्द्र श्री वृषभानुनन्दिनी के अनन्त माधुर्यामृत, सौन्दर्यामृत, सौरस्यामृत के रससिन्धु में से उद्भूत होता है और उसी में बार-बार निमज्जन करता है। ये चन्द्र एक दूसरे को पहचानते नहीं, क्योंकि पहचान का अर्थ होता है पूर्वानुभूत का अनुभव। यहाँ पूर्वानुभूत का अनुभव होता ही नहीं, निरन्तर साक्षात् का अनुभव होता है। उन्होंने एक पद का उद्धर दिया है 'प्रिया प्रियतम में भई न चिन्हारी'। पूज्य स्वामी जी के शब्दों में राधा-कृष्ण उभय-उभय भावात्मा, उभय-उभय रसात्मा हैं अर्थात् दोनों-दोनों के भावस्वरूप हैं और दोनों के रसस्वरूप हैं। इसी राधा-कृष्ण तत्व का निरन्तर स्मरण और ध्यान भागवत का चरम लक्ष्य है और उस स्मरण में ही नित्य वृन्दावन है। इस संसार की सार्थकता जिन दो **रसात्मक** तत्वों से होती है वे हैं सत्ता और **सहजता**। इसी **सहजता** को निर्वृत्ति भी कहा जाता है। भक्ति का लक्ष्य कृष्ण रूप में सत्ता और निर्वृत्ति का तादात्म्य निरन्तर ध्याते रहना है। पूज्य स्वामी जी की भागवत-सुधा उस तादात्म्य के अनवच्छिन्न अनुध्यान की परिणति है। निश्चय ही सुधी भक्तों के लिए यह सुधा निरन्तर अतृप्ति की प्यास बढ़ाने वाली परितृप्ति की धारा के रूप में बहती रहेगी।

स्वामी जो दोनों तरह से वशीभूत कर लेते हैं। यह ग्रन्थ उनके प्रवचनों का संकलन है इसलिये कभी एक बात दो-तीन बार बल देने के लिये दुहरायी भी गयी है पर अलग-अलग पढ़ते समय ऐसा अनुभव होता है कि स्वामी जी साक्षात् उपस्थित हैं और उनका कथा-प्रवाह चल रहा है। उन्होंने उत्तम साहित्य की परिभाषा अप्रत्यक्ष रूप से बतलायी थी कि जो साहित्य अपेक्षा न रखे वही उत्तम है, वही श्रव्य है। वह परिभाषा उनके इस ग्रन्थ भागवत-सुधा पर पूरी तरह घटित होती है। उन्होने कोई अपेक्षा नहीं रखी, उन्होंने अपने परितोष के लिए नहीं लिखा, स्वान्तः सुख के लिये भी नहीं लिखा। उन्होंने यह ग्रन्थ और विशेष रूप से गोपी-प्रसंग से सम्बद्ध निबन्ध अपनी भीतरी विवशता से लिखा। वे भक्ति के बिना रह नहीं सकते थे इसलिए उनका समस्त ज्ञान, समस्त पाण्डित्य, समस्त तप सद्भाव से विगलित होकर इस शब्द राशि में समा गया है। ऐसे परमभागवत परमहंस हरिहरानन्द सरस्वती को विनम्रतापूर्वक प्रणाम अर्पित करता हूँ।

पूज्य स्वामी जी ने आज्ञा की थी, भागवत-सुधा पढ़ कर एक बार देख लेना। उनके आदेश की पूर्त्ति उनके जीवन काल में हुई होती तो बड़ी तृप्ति मिलती, परन्तु इसे पढ़ने और इस पर लिखने का उन्होंने आदेश दिया, यही मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ।

• 'श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान' को हार्दिक बधाई देता हूँ कि वह इस भागवत-सुधा का दान कराने का यश पा रही है।

मार्गशीर्ष शुक्ल, २०४० वि०

डा० विद्यानिवास मिश्र

—: ❀ :—

प्रकाशकीय

परमपूज्य धर्मसम्राट् परमब्रह्मस्वरूप अनन्तश्रीविभूषित स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा प्रणीत परम पावन ग्रन्थ 'भागवत सुधा" सहृदय, भक्त, रसिक एवं भगवच्चरणानुरागी भक्तों को सौंपते हुये हमें अत्यन्त हर्षानुभूति हो रही है। परमपूज्य श्रीचरणों का अलौकिक व्यक्तित्व आज भी अपने यशःशरीर से अस्तिवादी (आस्तिक) भक्तों के हृदय को अनुप्राणित कर रहा है। जिन लोगों को उनके श्रीमुख से भागवत की कथा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे ही उस परमपुनीत वाणी की दिव्यानुभूति का, रसास्वाद का आनन्द समझ सकते हैं। हमारे परिवार पर उनकी सदैव से अनुकम्पा रही है और हमें सदैव उस वाणी को सुनने का सुअवसर अपने अनेक जन्मों के संचित पुण्यों के परिणामस्वरूप प्राप्त होता आया है। पहले हम लोग अपने कलकत्ता के निवास स्थान पर आठ दस दिनों तक भक्ति-ज्ञान विषयक प्रवचन करने के लिये उनसे प्रार्थना करते थे और वे प्रति वर्ष अत्यन्त कृपा कर स्वीकार करते थे और हम लोगों को प्रवचन की पीयूषधारा में निमज्जित कर देते थे। अनेक सालों तक कलकता में जनता को उनकी वाणी सुन कर अपने मन-क्रम-वचन-व्यवहार को पवित्र करने का अवसर मिलता था। धीरे-धीरे कलकत्ता की अत्यन्त व्यस्त नगरी से उनका मन ऊबने लगा, फलतः आनन्दकन्द ब्रजेन्द्रनन्दन भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के नित्यलीलाधाम में प्रवचन करने की प्रार्थना जब हम लोगों ने की तो उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक इसे स्वीकार कर लिया। प्रति वर्ष फाल्गुन मास में होली के अवसर पर यह कार्यक्रम चलता था, जो लगभग दस वर्षों तक चला। इन प्रवचनों में श्रीमद्भागवत के 'वेणु गीत' एवं 'रास पञ्चाध्यायी' प्रसंगों पर प्रवचन होता था। लगभग दो वर्षों तक अनेक सत्संगियों के अनुरोध पर 'श्री राधासुधानिधि' पर प्रवचन हुआ। उसका आनन्द अलौकिक था। राधा-नागरि की सजीव आभा-प्रभा में भक्त एवं श्रोता सुध-बुध खोकर लवलीन हो जाया करते थे। इन प्रवचनों का टेप भी हुआ और हम उन्हें पुस्तकाकार में प्रकाशित करना चाहते थे, परन्तु दैवयोग से वह कार्य नहीं हो सका। पुनः सबकी इच्छा सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत पर पूज्य चरणों का प्रवचन सुनने की थी। हमने इस आशय की प्रार्थना उनसे की और उन्होंने कृपा कर श्रीमद्भागवत पर प्रवचन करना स्वीकार किया। फलतः श्री धर्मसंघ महाविद्यालय रमणरेती वृन्दावन में १७.३.८१ से २४.३.८१ तक परमपूज्य चरणों ने श्रीमद्भागवत पर प्रवचन किया। वह प्रवचन वृन्दावन की रसिक कथाओं के इतिहास में अपना अनन्य स्थान रखता है। इसे टेपवद्ध किया गया था और इसे पुस्तकाकार रूप देने का निर्णय पूज्य चरणों के सम्मुख ही किया गया था। सबसे बड़ी समस्या इन टेपों

को लिपिबद्ध करने की थी। संयोग से परमपूज्य स्वामी जी के प्रिय शिष्य स्वामी निश्चलानन्द सरस्वती जी ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर इन्हें लिपिबद्ध कर इसकी प्रेस कापी बना दी। उन्होंने परिश्रम कर अपना अमूल्य समय लगा कर चार महीनों में यह कार्य किया है। इस कार्य में उनका सहयोग स्वामी चिन्मयानन्द जी ने किया। हम इन दोनों महात्माओं को प्रणाम करते हुये इनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं। परमपूज्य श्री चरणों ने इसकी प्रेस कापी देखी थी और जल्द से जल्द छपवाने की इच्छा व्यक्त की थी। कई कारणों से उनके रहते-रहते यह नहीं हो सका, जिसका हमें हार्दिक खेद है।

सुविज्ञ पाठकों को यह विदित ही है कि पूज्य चरणों ने 'वेदार्थ पारिजात' नामक वेद भाष्य भूमिका भाग (दो खण्ड) में अब तक के पाश्चात्य एवं सुधारवादी पौरस्त्य विद्वानों की शंकाओं का संकलन कर सनातन मर्यादाओं के सन्दर्भों में उनका समाधान प्रस्तुत कर दिया है। उन्होंने यजुर्वेद के ४० अध्यायों पर भाष्य लिखा। ऋग्वेद का एक मंडल ही वे लिख पाये थे कि उन्हें शिव-सायुज्य की प्राप्ति हो गयी। अब इन भाष्यों का छपाना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। श्री सायणाचार्य जी के बाद, जिनका समय १६वीं शताब्दी माना जाता है, कोई भी प्रामाणिक वेदभाष्य नहीं लिखा गया। पूज्य चरणों ने अपनी अलौकिक दैवी प्रतिभा के बल पर अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा वेदों का भाष्य लिखा है। उनके जीवन काल में ही उनके द्वारा लिखे गये यजुर्वेद के दो अध्यायों का भाष्य छपवाने की योजना बन चुकी थी और उनकी स्वीकृति भी प्राप्त हो चुकी थी। सामान्य व्यक्ति भी वेद की पवित्र, गम्भीर एवं गूढ़ वाणी का अर्थ समझ सके, इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद पूज्य श्री के भाष्य के हिन्दी अनुवाद के साथ छापा जाय। महाराजश्री की आज्ञानुसार हम दो अध्यायों का सानुवाद भाष्य अति शीघ्र ही प्रकाशित करा रहे हैं। लगभग ६०० पृष्ठों की यह पुस्तक अपने ढंग की एक अद्वितीय पुस्तक होगी। शेष यजुर्वेदभाष्य तथा ऋग्वेद का एक मण्डल का भाष्य छपना भी आवश्यक है। सरकार, विद्वत्-मंडली एवं परम पूज्य श्री चरणों के भक्तों का यह पावन कर्तव्य है कि वे इस महान् कार्य में हमारा सहयोग करें, जिससे हम इस पवित्रतम कार्य को अति शीघ्र ही सम्पादित कर सकें। पूज्य चरणों की शिवसायुज्य प्राप्ति के अनन्तर भाष्य-संदर्भ में यह हमारा प्रथम प्रकाशन होगा। इसलिए हम सम्बद्ध लोगों से सहयोग का अनुरोध करते हैं।

पूज्य स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज ने हमारी प्रार्थना पर परम पूज्य श्री चरणों का अत्यन्त भाव मय परिचय लिखा है। स्वामी अखन्डानन्दजी पर महाराजश्री का अत्यन्त स्नेह था और ये भी उनके प्रति अनन्य श्रद्धा रखते

थे। अतः यह एक प्रामाणिक परिचय है। हम स्वामी अखन्डानन्द जी महाराज के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

पूज्य महाराज श्री ने अपने जीवन काल में ही डा० विद्यानिवास मिश्र को भागवतसुधा की प्रेसकापी देखने और उस पर भूमिका लिखने की आज्ञा दी थी। डा० साहब के इस कार्य के लिए हम बहुत आभारी हैं। श्रीमार्कण्डेय जी ब्रह्मचारी ने इस प्रेसकापी के सन्दर्भो को अत्यन्त परिश्रम पूर्वक ठीक किया है। इसके लिए हम उनके प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं। हमारे प्रकाशनसंस्थान की वाराणसी शाखा के व्यवस्थापक श्री श्रीप्रकाश मिश्र, डा० गिरीश दत्त पाण्डेय एवं तारा प्रिंटिंग प्रेस के व्यवस्थापक श्री रमाशंकर जी पण्ड्या के भी हम आभारी हैं, जिनके परिश्रम एवं सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हो सका है। हम उन सभी व्यक्तियों के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने इस पुनीत कार्य में हमारा ज्ञाताज्ञात सहयोग किया है। अन्त में हम पूज्य श्री चरणों के प्रति अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हुये वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि वे हमें ऐसे पुनीत कार्यों में तत्पर बने रहने की प्रेरणा देते रहें। भागवत सुधा लोगों को पवित्र कर लोक कल्याण के मार्ग पर ले चले, यही हमारी कामना है।

हनुमानप्रसाद धानुका

॥ श्रीहरिः ॥

भागवत–सुधा

श्रीमद्भागवत-प्रवचन-माला

प्रथम-पुष्प

ॐ नमः परमहंसास्वादितचरणकमलचिन्मकरन्दाय-
भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय ॥
वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि ।
यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे ॥
विश्वसर्गविसर्गादि नवलक्षणलक्षितम् ।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत् ॥

(१) निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् :—

श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदादि शास्त्रों का सार है। इसलिए कहा गया है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
(भागवत १।१।३)

हे रसिको ! यह श्रीमद्भागवत वेद रूप कल्पवृक्ष का परिपक्व (सुपक्व) फल है। श्रीशुक के मुख से संस्पृष्ट होने के कारण आनन्द पूर्ण अनन्त अमृत से भरपूर है। इस फल में छिलका गुठली आदि त्याज्य अंश तनिक भी नहीं है। यह रसस्वरूप परमात्मा का अभिव्यञ्जक, प्रकाशक होने के कारण साक्षात् रस ही है। मुक्त हो जाने पर भी पुनः पुनः (बार-बार) इसका पान करते ही रहिये। यह भूलोक में ही सुलभ है ॥ स्वर्गलोक, कैलासपुरी, वैकुण्ठ में भी सुदुर्लभ है। अतः भाग्यवान भक्तो ! पियो, पियो, पीते रहो, कभी मत छोड़ो, कभी मत छोड़ो—

स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः ।
अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित् ॥ (माहात्म्य ६।८३)

आम्र के अङ्कुर-नाल-स्कन्ध-शाखा-उपशाखा सबकी अपेक्षा महत्त्व फल का है, अङ्कुर में वह चमत्कार नहीं, नाल-स्कन्ध-शाखा-उपशाखा-मुकुल (बौर) में वह चमत्कार नहीं जो चमत्कार फल में है। वह फल भी कहीं स्वयं परिपक्व हो तो

फिर कहना ही क्या ? आजकल मसाला से पका लेते हैं, यह ठीक नहीं। फल स्वयं परिपक्व हो और शुकतुण्डसंस्पृष्ट हो (तोते की चोंच लग गयी हो) तो उसका मिठास अद्‌भुत हो जाता है। पर यह तो आम्र का फल नहीं है, कल्पवृक्ष का फल है। कल्पवृक्ष के भी नाल-स्कन्ध-शाखा-उपशाखा से अधिक महत्त्व उसके फल का होता है ! परन्तु यह सामान्य कल्पवृक्ष का फल नहीं किन्तु निगम-कल्पवृक्ष का फल है। देवताओं का कल्पवृक्ष बड़े महत्त्व का है, उससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और कामधेनु ये सब देवलोक की असाधारण वस्तुएँ हैं। इनसे चिन्तित पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है, भोग और भोग्य सामग्री ही मिल सकती हैं। दिव्यातिदिव्य विमान मिल जाय, उत्तम-उत्तम वस्त्र, उत्तम-उत्तम अलंकार मिल जाय, अमृत मिल जाय, परन्तु उनसे भगवान् मिल जाँय तो यह चमत्कार कल्पवृक्षादि में नहीं हैं। यह चमत्कार तो निगमकल्पतरु में ही है।

(२) पुरुषार्थ चतुष्टय प्रदायक निगमकल्पतरु :—

निगमकल्पतरु पुरुषार्थ चतुष्टय का साधन है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों ही दे सकता है। हाथों-हाथ भगवान् को पकड़ा सकता है निगमकल्पवृक्ष। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक अनादि अपौरुषेय वेद ही निगमकल्पतरु हैं। उस निगमकल्पतरु से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों ही पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। इसी निगमकल्पतरु का गलित फल है श्रीमद्भागवत। गलित अर्थात् परिपक्व। परिपक्व फल होने पर भी अमलात्मा महामुनीन्द्र भगवान् शुकदेव जी के मुखारविन्द से प्रादुर्भूत है। इसलिए कहा गया है—'**निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।**'

(३) रसमालयम् :—

श्रीमद्भागवत रस ही है। इसका निरन्तर पान करना चाहिए। एतावता मालूम पड़ता है कि यह सामान्य शब्दात्मक नहीं है। यह तो शुद्ध रसात्मक ही है। जैसे निखिलरसात्मकसारसर्वस्व साक्षात् परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रकट हो जाते हैं, परात्पर परब्रह्म प्रभु श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रकट हो जाते हैं; वैसे ही वह रस ही श्रीमद्भागवत के रूप में प्रकट होता है। 'रसवत्' है ऐसा नहीं। 'गुणवचनात् मतुप् का लोप हुआ है' यह कहने की आवश्यकता नहीं। रसवत् कहना है तब तो '**रसोऽस्यास्तीति**' इस अर्थ में 'मतुप्' का लोप हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। यहाँ तो रसतादात्म्य की विवक्षा है। अतः श्रीमद्भागवत रसस्वरूप ही है। इसलिए 'पिबत' कहा गया है। नहीं तो फल पिया नहीं जाता, चूसा जाता है, खाया जाता है। जो चूसा जाता है उसमें वकला होता है, कुछ गुठली होती है। उस तरह कुछ त्याज्य अंश होता है, वहाँ

चूसना कहा जाता है। पर यहाँ त्याज्य अंश कुछ भी नहीं है। श्रीमद्भागवत का 'अथ' से 'इति' तक कोई भी अंश त्याज्य नहीं है। सब रसस्वरूप ही है। इसलिये इसे पियो, पीने की चीज है। बोले—'कब तक पियें ?' कहा—'आलयम्' मोक्ष हो जाने पर भी पियो।

(४) आत्माराम का भी भगवद्गुणगणार्णव में अवगाहन :—

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

(भागवत २।१।७)

राजन् ! जो निर्गुण ब्रह्मात्मतत्त्व में स्थित हैं; विधि-निषेध की सीमाओं को पार कर चुके हैं, ऐसे मुनीन्द्रगण श्रीहरि के अनन्त कल्याणमय गुण-गणों के वर्णन में प्रायः रमे ही रहते हैं।

तत्त्वदर्शी ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसम्पन्न मुनीन्द्रगण विधि-निषेधपारंगत होने पर भी भगवान् के गुणानुकथन में रमण करते हैं। भगवान् के गुणगणार्णव में अवगाहन करते रहते हैं।

(५) देवदुर्लभ श्रीमद्भागवत :—

श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में कहा गया है—जब श्रीशुकदेवजी परीक्षित् को कथा सुनाने लगे तब देवता लोग आये। देवताओं ने कहा—"आप हमसे अमृत ले लीजिये, राजा परीक्षित् को पिला दीजिये। राजा परीक्षित् अमर हो जायेंगे। यह कथासुधा हमको पिला दीजिये।" श्रीशुकदेव जी ने कहा—"कहाँ कथा कहाँ सुधा ? कहाँ मणि कहाँ काँच ? मणि का मुकाबला काँच कर सकता है क्या ? कथा का मुकाबला सुधा कर सकती है क्या ?" अतः अनधिकारी समझकर देवताओं को कथामृत नहीं प्रदान किया, सुधा को ठुकरा दिया। ऐसा है सुरदुर्लभ यह श्रीमद्भागवत।

एवं विनिमये जाते सुधा राज्ञा प्रपीयताम्।
प्रपास्यामो वयं सर्वे श्रीमद्भागवतामृतम्॥
क्व सुधा क्व कथा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान्।
ब्रह्मरातो विचार्यैवं तदा देवाञ्जहास ह॥
अभक्तांस्तांश्च विज्ञाय न ददौ स कथामृतम्।
श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा॥

(भागवत माहात्म्य १।१५-१७)

अर्थात् जब शुकदेव जी राजा परीक्षित् को यह कथा सुनाने के लिये सभा में विराजमान हुए, तब देवता लोग उनके पास अमृत का कलश लेकर आये। देवगण

अपना काम बनाने में बड़े कुशल होते हैं। वे इस अवसर पर भी भला कब चूकने वाले थे ? उन्होंने शुकदेव जी को नमस्कार करके कहा—'आप यह अमृत ले लीजिये। बदले में हमें कथासुधा प्रदान कीजिये' इस प्रकार परस्पर विनिमय का प्रस्ताव देवताओं ने रखा—'राजा परीक्षित् अमृत का पान करें और हम श्रीमद्भागवतरूप अमृत का पान करेंगे॥' 'इस संसार में कहाँ काँच और कहाँ महामूल्य मणि ? कहाँ सुधा और कहाँ कथा ?' श्रीशुकदेव जी ने यह विचारकर उस समय देवताओं की हँसी उड़ा दी॥ उन्हे भक्तिशून्य जानकर कथामृत का दान नहीं किया। इस प्रकार यह श्रीमद्भागवत की कथा देवताओं को भी दुर्लभ है।

हमें तो ऐसा लगता है कि जैसे निराकार निर्विकार अखण्ड परात्पर परब्रह्म का चिन्तन करने का अद्भुत महत्त्व है, वैसे ही चरित्र का भी वही महत्त्व है। जो चरित्रनायक है वही चरित्र है। **'भक्तों के हृदय में** भगवान् कैसे प्रवेश करते हैं, कहाँ से आते हैं ?' इसपर कहते हैं—**'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण'** (भाग० २।८।५) कर्णरन्ध्र से ही सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् भक्तों के हृदय में प्रवेश करते हैं।

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

(भगवत ३।९।११)

(भगवन् ! आपकी प्राप्ति का मार्ग केवल गुण-श्रवण से ही जाना जाता है। आप निश्चय ही भावुकों के भक्तियोग द्वारा विशुद्ध हुए हृदय-कमल में निवास करते हैं। पुण्यश्लोक प्रभो ! आपके भक्तजन जिस-जिस भावना से आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु-पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए आप वही-वही रूप धारण कर लेते हैं॥)

भावयोग से जिनका अन्तःकरण परिमार्जित है, परिशुद्ध है, उसमें आप आते हैं। पहले आपके अनन्त गुण-गणों का भक्त श्रवण करता है। श्रवण करने के बाद हृदय में आपके आने की बाट जोहने लगता है। 'कब भगवान् पधारते हैं ? अशरण-शरण अकारणकरुण करुणावरुणालय सर्वेश्वर भगवान् कब पधारते हैं ?' यही प्रतीक्षा करता है। फिर धीरे-धीरे भगवान् भक्त के हृदय में आ जाते हैं।

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्।

(भागवत १।१।२)

जिस समय भी सुकृती पुरुष इसके श्रवण की इच्छा करते हैं, भगवान् उसी समय अविलम्ब उनके हृदय में आकर बन्दी बन जाते हैं। **भगवच्चरितामृत का श्रवण ही एकमात्र वह मार्ग है, जिससे भगवान् हृदय में प्रकट हो जाते हैं। अवरुद्ध कर लिये जाते हैं। हृदय में बन्दी बना लिये जाते हैं।**

निर्गुण-निर्विकार-निराकार-अद्वैत-अखण्ड-अनन्त-परब्रह्म या सगुण-निराकार-परात्पर-परब्रह्म या अचिन्त्य-कल्याण-गुणगणनिधान, अनन्तकोटिकन्दर्पदर्पदलनपटीयान् सगुण साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा को हृदय में लाना हो (प्रकट करना हो) तो बड़ी कठिनाई है। भगवान् का स्वरूप-सौन्दर्य हृदय में प्रकट होता ही नहीं तो ध्यान कैसे लगेगा ? ध्यान तो तब लगे, जब मन एकाग्र हो मन एकाग्र तब हो जब उसकी ओर मन का आकर्षण हो। आकर्षण तब हो जब उसमें लोकोत्तर सौन्दर्य का प्राकट्य हो, माधुर्य का प्राकट्य हो।

वाल्मीकि-रामायण में लिखा है—

न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥
(वाल्मीकि रामायण २।१७।१३)

(श्रीरामभद्र की ओर जो एक बार देख लेता, वह उन्हें देखता ही रह जाता था। श्रीराम के दूर चले जाने पर भी कोई उन पुरुषोत्तम की ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटा पाता था।)

भगवान् राघवेन्द्र रामभद्र पधार रहे हैं, पुरवासी भगवान् का दर्शन कर रहे हैं। उनके नयन भगवान् के मधुर मंगलमय श्रीअंग के सौन्दर्य, माधुर्य के रसास्वादन में संलग्न हैं। मन भी भगवान् के मुखचन्द्र के अनन्त सौन्दर्यामृत, सौरस्यामृत, सौगन्ध्यामृत के रसास्वादन में संलग्न है। किसी में सामर्थ्य नहीं कि अपने नयनों को लौटा ले। भगवान् के माधुर्यामृत का आस्वादन करते हुए नयनों को लौटा लें,' यह किसी में सामर्थ्य नहीं। भगवान् पधार गये लेकिन देखने वालों का मन लौट कर आया नहीं। नयन लौटकर आये नहीं। अर्थात् प्रभु के पधार जाने पर भी नयनों में वही रूप जगमगा रहा है। हृदय में वही सौन्दर्य सौरस्यपूर्ण श्रीविग्रह प्रस्फुरित हो रहा है। 'उस नरोत्तम भगवान् राम के चले जाने पर भी अपने नयनों को, मन को उनकी ओर से लौटाने में कोई समर्थ हुआ ही नहीं।' यह चमत्कार भगवान् के रूप का है, परन्तु उस रूप का यदि प्राकट्य हो जाय तब। प्राकट्य न होना ही ध्यान में गड़बड़ी है। निर्गुण निराकार निर्विकार परात्पर परब्रह्म का भी स्फुरण कठिन है। सगुण निराकार निर्विकार परात्पर परब्रह्म का स्फुरण भी कठिन है। सगुण साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का प्रादुर्भाव भी कठिन है। लेकिन चरित्र तो सहज है, सुगम है।

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(भागवत १०।१४।४)

भगवन् ! आपकी भक्ति सब प्रकार के कल्याण का मूलस्रोत है। जो लोग इसे छोड़कर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है और कुछ नहीं, जैसे थोथी भूसी कूटने वाले को केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं ॥)

कहीं बैठ जाओ, जहाँ कथा हो रही हो। कानों में भगवान् का चरित्र आयेगा, कथामृत आयेगा। सानुराग कथामृत का पान करते रहो। मुक्ति माँगनी नहीं पड़ेगी, मुक्ति में हिस्सेदार हो जाओगे। दाय तो हठात् प्राप्त होता है, किसी से माँगना नहीं पड़ता। दाय में किसी का अहसान नहीं होता।

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥

जो पुरुष प्रतिक्षण बड़ी उत्सुकता से आपकी कृपा का भली-भाँति अनुदर्शन अनुभव करता रहता है और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है, उसे निर्विकार मन से भोग लेता है; जो अनुरागपूर्ण हृदय से, गद्गद् वाणी और पुलकित शरीर से अपने आप को आपके चरणों में समर्पित किये ही रहता है, इस प्रकार जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति ठीक वैसे ही आपके परम पद का अधिकारी हो जाता है, जैसे अपने पिता की सम्पत्ति का पुत्र ॥)

इस तरह भगवान् का चरित्रामृत अमृत से अनन्तकोटिगुणित महत्वपूर्ण है। यह रस दुनियाँ के सब रसों से उत्कृष्ट रस है, इसीलिए कहा गया है—

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥
(भागवत २।१।७)

निर्गुण परात्पर परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित मुनीन्द्रगण भी भगवान् के गुणगान श्रवण में, चरितामृत आस्वादन में, रमण करते हैं।

(६) युगधर्मों का निरूपण :—

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्।
म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो यासि परां गतिम् ॥
म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः।
आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसंश्रयः ॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत ॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्
(भागवत १२।३।४९-५२

राजन् ! अब शरीर की मृत्यु का समय निकट आ गया है । भक्तिभावना से भरपूर होकर सम्पूर्ण शक्ति लगाकर, अन्तःकरण की सारी वृत्तियों को सब ओर से हटाकर एकमात्र श्रीहरि में ही रमा कर, प्रभु को हृदय सिंहासन पर बैठा लो । ऐसा करने पर अवश्य ही तुम्हें परमगति की प्राप्ति होगी ।।)

(जो मृत्यु के सन्निकट हैं, उन्हें सब प्रकार से परमैश्वर्यशाली भगवान् का ध्यान करना चाहिये । प्रिय परीक्षित् ! श्रीहरि सबके परमाश्रय हैं । सबके जीवनधन आत्मा ही हैं । जो एकमात्र उन्हीं को अपना आत्मा, परम आत्मीय समझकर मन को उन्हीं में रमाये रहते हैं, उन्हे वे आत्मसात् कर लेते हैं ।।)

(राजन् यों तों कलियुग दोषों का खजाना है, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है । वह यही कि **कलियुग में करुणावरुणालय श्रीकृष्ण का संकीर्तन करने मात्र से ही सम्पूर्ण आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्मा की प्राप्ति हो** जाती है ।।)

(सत्ययुग में श्रीहरि का ध्यान करने से, त्रेता में बड़े-बड़े यज्ञों के द्वारा उनकी आराधना करने से और द्वापर में विधि पूर्वक उनकी पूजा-सेवा करने से जो फल मिलता है, वह कलियुग में केवल भगवन्नाम का कीर्तन करने से ही प्राप्त हो जाता है ।।)

इस घोर कलिकाल में मन राजस तो हो ही गया है, तामस भी हो गया है । सत्त्व का प्रकाश अत्यन्त क्षीण हो गया है । सत्ययुग में सत्त्व की प्रधानता होती है, सत्त्वगुण-प्रधान होता है । सत्त्व का स्वभाव है प्रकाश, चाञ्चल्यहीन होने के कारण स्थिर है । चंचलता नहीं है, प्रकाशात्मकता है । यदि प्रकाशात्मक चित्त किसी वस्तु को खोजने लगे तो वह वस्तु बड़ी सरलता से मिल जाती है । इसलिए अदृश्य-अग्राह्य-अलक्षण-अचिन्त्य-अव्यपदेश्य-निर्विकार परब्रह्म का स्फुरण होना, उस प्रकाशात्मक रजोविहीन तमोविहीन शुद्ध चित्त में कुछ कठिन नहीं । इसलिए कृतयुग में ध्यान में परात्पर परब्रह्म मिलते हैं, उन दिनों मन परम शान्त होता है, अत्यन्त एकाग्र होता है । कहा जाता है—

सर्वार्थविभासनशालि चित्तसत्त्वम्

प्राणी का चित्तसत्त्व 'सर्वार्थविभासनशालि' है । सर्वार्थ का प्रकाशन करने में समर्थ है । जो युक्त होते हैं उन्हें तो हरेक पदार्थ का सदा सर्वदा भान होता रहता है । **'युक्तस्य सर्वदा भानम्'** (भाषा परिच्छेद) जो युक्त योगी हैं, जिनका निर्मल चित्त है, उनकी यह अद्भुत महिमा है । मान लिया युक्त नहीं हुआ, युञ्जान हुआ

तो भी ध्यान करने से सब पता लग जाता है। सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट, अतीत-अनागत वर्तमान सब वस्तुओं का स्वतः स्फुरण मन में हो जाता है।

इस देहेन्द्रिय-मन-अहंकार के झुरमुट में आत्मा कौन? इस अहंकार की ग्रन्थि में कितना अंश आत्मा है, कितना अंश अनात्मा है, यह समझने में युक्त योगी को कुछ कठिनाई नहीं होती। क्योंकि चित्तसत्त्व अत्यन्त निर्मल है, स्वच्छ है, 'सर्वार्थविभासनशालि' है; इसलिए उसमें अजर, अमर, अखण्ड, अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अशोष्य, अक्लेद्य निर्विकार चित्त (अखण्ड भान) का स्फुरण अनायास होता है। युक्त योगी का चित्त एकाग्र होता है। उन्हें समाधि भी अपने आप हो जाती है, क्योंकि **अत्यन्त एकाग्रता ही समाधि है।**

भाष्यकार शङ्कराचार्य जी कहते हैं—

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः॥

(विवेकचूडामणि ३७६)

(अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि लाभ होता है। समाधिस्थ को ही दृढ़ बोध होता है। सुदृढ़ बोधवान् का ही संसार-बन्धन छूटता और जो संसार बन्धन से छूट गया है, उसी को नित्यानन्द का अनुभव होता है॥)

परात्पर परब्रह्म की प्राप्ति के लिए आवश्यक है वैराग्य। अत्यन्त वैराग्यवान् को समाधि होती है। उसका मन एकाग्र होता है। जो समाहित होता है उसे ही दृढ़ प्रबोध होता है। दृढ़ साक्षात्कार (अनुभव) होता है। औरों का मन तो ढुलमुल होता है। डगमगानेवाला होता है। सत्ययुग में समाधि सुलभ होती है। निर्विकल्प समाधि-असम्प्रज्ञात समाधि सुलभ होती है ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार सुलभ होता है। सगुण-निराकार परात्पर परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार सुलभ होता है। सगुण साकार सच्चिदानन्द का अपरोक्ष साक्षात्कार अत्यन्त सुलभ होता है। इस तरह कृतयुग में अनायासेन लोगों का कल्याण हो जाता है।

त्रेता में कुछ रज ने सत्त्व के साथ मेल-जोल कर लिया। तम रहा तो बहुत पीछे, थोड़ा सा रज मिल जाने से ही सत्त्व में उतना प्रकाश, उतनी प्रखरता, उतनी एकाग्रता नहीं रह गयी। यज्ञाधिकारी यज्ञ करने लग गये, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम करने लग गये। सामग्री सुलभ थी। घृत शुद्ध, दधि शुद्ध, दुग्ध शुद्ध। ब्राह्मण भी बड़े शुद्ध, ऋत्विक को भी सभी वेद-वेदाङ्ग कण्ठस्थ, ब्राह्मण भाग, सूत्र भाग कण्ठस्थ, कर्मकाण्ड की सारी पद्धति, व्यवस्था ठीक थी। कर्मकाण्ड के द्वारा उस अजर-अमर-अखण्ड भगवान् की पूजा करते थे—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(भगवद् गीता १८।४५-४६)

अपने-अपने कर्मों में तत्पर मनुष्य अपने कर्मानुष्ठान से अशुद्धि-क्षय होने पर देह और इन्द्रियों में ज्ञान निष्ठा प्राप्ति की योग्यता रूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है। अपने कर्मों में तत्पर जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त करता है, सुनो—

जिस अन्तर्यामी ईश्वर से समस्त भूतों की प्रवृत्ति-उत्पत्ति या चेष्टा होती है, जिस सर्वेश्वर से यह समस्त जगत् व्याप्त है, उसका प्रत्येक वर्णाश्रमी मनुष्य अपने-अपने कर्मों से पूजन करके ज्ञाननिष्ठा की योग्यता रूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥)

कर्मकाण्ड का लक्ष्य भगवत्-पद प्राप्ति ही था। लोग स्वकर्म (स्वधर्म) का अनुष्ठान करते थे। यज्ञ करते थे, तप करते थे, दान करते थे, व्रत करते थे **'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'** की भावना से ही सम्पूर्ण व्यवहार सम्पादित करते थे। जैसे छप्पन भोग समर्पण करने का पुण्य होता है, तुलसीदल समर्पण करने का पुण्य होता है, वैसे ही सन्ध्यावन्दन, सूर्योपस्थान, वलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य करके **'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'** करने का भी पुण्य होता है। ऐसा करने से मनीषियों का मन एकाग्र होता था। जितनी चञ्चलता थी सब अग्निहोत्र की हलचल में खत्म हो जाती थी।

(८) विद्या-अविद्या का समुच्चय :—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
(ईशावास्योपनिषद् ११)

(जो विद्या और अविद्या-इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृतत्त्व देवतात्मभाव=देवत्व प्राप्त कर लेता है ॥)

अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करो। अविद्या माने विद्या से भिन्न किन्तु विद्या-सदृश। नञ् का अर्थ पर्युदास है। विद्या माने उपासना। वेद विहितत्वेन अविद्या विद्यासदृश कही जाती है। वेद विहित विद्या भी है और अविद्या भी है। स्वरूपेण कर्म और उपासना में भिन्नता है। अविद्या का अर्थ है वैदिक काम-कर्म-ज्ञान। इसके द्वारा पाशविक काम-कर्म-ज्ञान को जीतना चाहिए।

पशु जैसा ही मनुष्य खाने, पीने, सोने, और सन्तान पैदा करने में लगा रहे, इसी को 'मृत्यु' कहते हैं। मृत्यु का उल्लंघन कैसे हो? मृत्यु का उल्लंघन करने के लिए वैदिक काम, कर्म और ज्ञान का सहारा पकड़ो। कोई आदमी दो बजे रात तक

जगे और दिन के आठ बजे तक सोये। फिर जागते ही उसे अखबार चाहिए, चाय चाहिए, यही सब मृत्यु है। मृत्यु को मोल लेना है।

अरे भाई; वैदिक काम-कर्म-ज्ञान से मृत्यु को जीतो। ब्राह्ममुहूर्त में उठकर भगवान् का चिन्तन करो—

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम्।
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिमवैति नित्यं
तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः ॥१॥

(श्रीमच्छङ्कर भगवत कृत प्रातः स्मरण स्तोत्र)

मैं प्रातः हृदय में स्फुरित होते हुए आत्मतत्त्व का स्मरण करता हूँ, जो सत्, चित् और आनन्दरूप है। परमहंसों का प्राप्य स्थान है। जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं से विलक्षण है। जो स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रत् अवस्था को नित्य जानता है, वह निष्कल ब्रह्म मैं ही हूँ। पञ्चभूतों का संघात शरीर मैं नहीं हूँ ॥)

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजाः स्मृताः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥
(बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः।
ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥)

(भागवत ७।७।२५)

(जाग्रत् अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था, ये बुद्धि की वृत्तियाँ हैं, बुद्धि का चमत्कार हैं। ये बुद्धि वृत्तियाँ जाग्रत् बुद्धि वृत्ति, स्वप्नबुद्धिवृत्ति, सुषुप्तिबुद्धि-वृत्ति, जिस अखण्डभान से प्रकाशित होती हैं, वही परात्पर प्रभु पुरुष क्षेत्रज्ञ है ॥)

अथवा—

प्रातः स्मरामि रघुनाथमुखारविन्दं
मन्दस्मितं मधुरभाषि विशालभालम्।
कर्णावलम्बिचलकुण्डलशोभिगण्डं
कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम् ॥

(जो मधुर मुस्कान युक्त, मधुर भाषी और विशाल भाल से सुशोभित हैं, कानों में लटके हुए चञ्चल कुण्डलों से जिनके दोनों कपोल शोभित हो रहे हैं; जो कर्ण पर्यन्त विस्तृत बड़े-बड़े नयनों से शोभायमान और नेत्रों को आनन्द देने वाले हैं; ऐसे श्री रघुनाथ जी के मुखारविन्द का मैं प्रातः स्मरण करता हूँ ॥)

प्रातः स्मरामि भवभीतिहरं सुरेशं
गङ्गाधरं वृषभवाहनमम्बिकेशम् ।
खट्वाङ्गशूलवरदाभयहस्तमीशं
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम् ॥

(जो सांसारिक भय को हरने वाले और देवताओं के स्वामी हैं, जो गंगाजी को धारण करते हैं, जिनका वृषभ वाहन है, जो अम्बिका के ईश हैं तथा जिनके हाथ में खट्वाङ्ग त्रिशूल है, जो वरद तथा अभय मुद्रा युक्त हैं, उन संसार रोग को हरने के निमित्त अद्वितीय ओषधि रूप 'ईश' महादेव जी का मैं प्रातः स्मरण करता हूँ ॥)

प्रातः श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदन मोहन व्रजेन्द्रनन्दन के मंगलमय पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका का चिन्तन करो। उनके मधुर मनोहर नामामृत का चिन्तन करो। उठते ही दुनियाँ की खुराफात कुछ भी नहीं, बस श्रीकृष्णचन्द्र का मङ्गलमय नाम मुख में हो। उनकी मधुर मनोहर मङ्गलमयी मूर्ति मन में हो।

'श्रवण कथा मुखनाम हृदय हरि'[1]

(विनय पत्रिका २०५)

कानों में भगवान की मंगलमयी कथा हो। मुख में भगवान् का मधुर मनोहर मंगलमय नाम हो। हृदय में भगवान् की दिव्य मंगलमयी मूर्ति हो, बेड़ा पार हो जाय। फिर क्या चाहिए ?

इस तरह से प्रातः उठो। स्नान-सन्ध्या करो, सूर्योपस्थान करो। बलिवैश्वदेव करो, अग्निहोत्र करो। इन सबका उद्देश्य रहे भगवदर्पण। जैसे कोई सती साध्वी महाभागा भोजन बनाती है, उसका उद्देश्य रहता है अपने प्राणधन प्रियतम परमप्रेमास्पद पति भगवान् की पूजा। ऐसे ही जो भी हमारा यज्ञ है, दान है, व्रत है, तप है, शुभ कर्म है, सब भगवदर्पण बुद्धि से अनुष्ठित हो तो भगवान् का स्मरण बन जाता है। मन इसी में एकाग्र भी हो जाता है। फिर वही बात जो

---

१. श्रवण कथा मुखनाम, हृदय हरि,
सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु।
नयननि निरखि कृपा समुद्र हरि,
अगजग-रूप भूप सीतावरु ॥३॥
इहै भगति वैराग्य-ज्ञान यह,
हरि-तोषण यह सुभ व्रत आचरु।
तुलसिदास सिव मतु मारग यहि,
चलत सदा सपनहुँ नाहिन डरु ॥४॥

(विनय पत्रिका २०५)

सत्ययुग में होती थी, वही कलियुग में भी होती है। वैदिक कर्मकाण्ड वैदिक कामना और वैदिक ज्ञान के द्वारा पाशविक कर्म पाशविक कामना और पाशविक ज्ञान का निवारण हो जाता है। वैदिक कर्मकाण्ड से जीवन में उपासना आ जाती है। उपासना से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है।

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

यही कारण है कि अकेली अविद्या और विद्या का निषेध किया गया है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥

(ईशावास्योपनिषद् ९)

(अन्धन्तम में उनका प्रवेश होता है जो कर्मकाण्ड में रमे रहते हैं। उससे भी और अधिक घोर अन्धकार में उनका प्रवेश होता है जो विद्या में, उपासना में रमे रहते हैं॥)

यह क्या झंझट हैं ?[२]

'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुम्'

यहाँ निन्दा का तात्पर्य निन्द्य की निन्दा में नहीं है। निन्दा का तात्पर्य विधित्सित अर्थ की स्तुति में है। विधित्सित अर्थ क्या है ? समुच्चय। विद्या एवं अविद्या का समुच्चय। यहाँ कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड के समुच्चय का विधान है। अर्थात् केवल कर्म मत करो, केवल उपासना भी मत करो अपितु कर्मकाण्ड करते चलो और भगवान् के अनन्त-अखण्ड निर्विकार रूप में मन एकाग्र करो (हिरण्यगर्भ स्वरूप में)।

विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(ईशावास्योपनिषद् ११)

(जो विद्या और अविद्या का सहानुष्ठान करता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण कर विद्या के द्वारा परब्रह्म परात्पर परमात्म-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है॥)

---

२. विद्यया देवलोकः ········· (बृहदारण्यक १।५।१६)
कर्मणा पितृलोकः ······ (बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१६)
'न हि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्', (शाङ्करभाष्य ईशा०)
शास्त्रविहित कोई भी बात अकर्तव्य नहीं हो सकती।

कई जगह अर्थ-भेद है। मुण्डक में विद्या[3] का अर्थ है, ब्रह्मात्मसाक्षात्कार और यहाँ विद्या का अर्थ है हिरण्यगर्भोपासना। किन्तु सबका समन्वय हो जाता है। प्रातः उठकर (ब्राह्ममुहूर्त से लेकर) शयन पर्यन्त वैदिक कर्म, काम और ज्ञान में लगे रहो देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि और अहंकार का नियन्त्रण हो। **नियन्त्रित देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार हो, यही तो ब्रह्मसाक्षात्कार का रास्ता है।**

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
(कठोपनिषद् २।३।१०)

जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं, बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परम गति कहते हैं॥)

पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ अत्यन्त निरुद्ध हो जाँय, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ अत्यन्त निरुद्ध हो जाँय, बुद्धि भी निर्विचेष्ट हो जाय, उस समय परात्पर परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार अनायासेन हो जाता है। सत्ययुग (कृतयुग) के समान आजकल सबसे ज्ञान-विज्ञान और अखण्ड ध्यान नहीं सध सकता है। त्रेता के समान विविध यज्ञ और भगवत्समर्पित पूजन भी नहीं बन पाता।[4]

---

३. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवापरा च। (मुण्डक १।१।४)
(ब्रह्मवेत्ताओं ने कहा है—दो विद्यायें जानने योग्य हैं एक परा और दूसरी अपरा।)
परा च परमात्मविद्या, अपरा च धर्माधर्मसाधनतत्फलविषया (शाङ्करभाष्य)
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ (मुण्डक १।१।५)
उसमें ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-अपरा है। जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है, वह परा है। उपनिषद्वेद्याक्षरविषयं हि विज्ञानमिह पराविद्येति प्राधान्येन विवक्षितम्। यहाँ पराविद्या शब्द से उपनिषद्वेद्य अक्षरब्रह्मविषयकविज्ञान विवक्षित है। उपनिषद् की शब्द राशि नहीं। (मु० १।१।५. शा० भा०)

४. कृत युग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥
(रामचरितमानस ७।१०२ ख)
कृतयुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं॥
कलियुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
(रा० मा० ७।१०२।१-४)

सत्ययुग में शुद्ध सत्त्व समता, विज्ञान के प्रभाव से अखण्ड प्रसन्नता स्वाभाविक होती है। त्रेता में सत्त्व बहुल रज के प्रभाव से यज्ञादि कर्मों में प्रीति स्वाभाविक होती है। रजोगुण बहुल स्वल्प सत्त्व और कुछ तमोगुण के प्रभाव से द्वापर में धर्मानुष्ठान और उससे प्राप्त सुख भी स्वाभाविक हैं। परन्तु यह तो कलि है। इसमें तमोगुण बहुत बढ़ रहा है।

द्वापर में सतयुग वाली बात नहीं बन सकती थी। त्रेता वाली बात भी नहीं बन सकती थी। क्योंकि जरा तम और जुड़ गया, रज थोड़ा और उग्र हो गया। तो फिर महर्षियों ने बताया—भाई! भगवान् की पूजा करो। विपुल विविध सामग्रियों के द्वारा उस अनन्त सर्वान्तरात्मा सर्वशक्तिमान् भगवान् का दिव्य मंगलमय श्री विग्रह पधरा लो। दिव्य भूषण, वसन, अलंकार से उनका सम्मान करो। खूब भोग राग लगाओ। बाहर से न बने तो मानस पूजा करो। मानसी पूजा का बहुत बड़ा महत्त्व है।

कृष्ण सेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा॥
(श्रीमद्वल्लभाचार्य)

प्राणी को सदा श्रीकृष्ण सेवा करनी चाहिए। सेवा में भी मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट है। चित्त की कृष्णोन्मुखता या कृष्ण में तन्मयता ही सेवा है। मानसी सेवा की सिद्धि के लिए ही तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिए। कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्त में मानसी सेवा की योग्यता प्राप्त होती है। विजातीय-प्रत्ययनिरास पूर्वक सेव्याकाराकारित मानसीवृत्ति का प्रवाह ही मानसी सेवा है। जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गंगा का अखण्ड प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवन्मुखी मानसी वृत्तियों का अखण्ड प्रवाह ही भगवान् की मानसी सेवा है।

आजकल बाहर से तो पञ्चामृत भी स्नान करने को नहीं मिलता। मन में कल्पना (भावना) करो भगवान् को दुग्ध-समुद्र से, घृत-समुद्र से सौन्दर्यामृत-समुद्र से, दधिसमुद्र से स्नान करा रहा हूँ। माधुर्यामृत-सार सर्वस्व से भगवान् को स्नान करा रहा हूँ। लावण्यामृत-सार-सर्वस्व से भगवान् को स्नान करा रहा हूँ। कितनी बढ़िया पूजा होगी?

सुद्ध सत्त्व समता विज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।
सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब विधि सुख त्रेता कर धर्मा॥
बहु रज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा॥
बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥
(रा० मा० ७।१०३।२-६)

आज तो नया पैसा दक्षिणा में देते हैं, शङ्कराचार्य महाराज कहते हैं—

अथ बहुमणिमिश्रैर्मौक्तिकैस्त्वां विकीर्य।
त्रिभुवन कमनीयैः पूजयित्वा च वस्त्रैः।
मिलितविविधमुक्तां दिव्यमाणिक्ययुक्तां
जननि कनकवृष्टिं दक्षिणां तेऽर्पयामि॥

(श्री बालात्रिपुर सुन्दरीमानस पूजास्तोत्रम् ४२)

जननि! आपको बहुत से हीरे-रत्न-मोती आदि बिखेर कर, न्यौछावर कर, अनन्त-अनन्त रत्न आपके ऊपर बिखेर कर, त्रिभुवन कमनीय जो दिव्य वस्त्र है, वह आपको अर्पण करें। दक्षिणा में सुवर्ण वृष्टि करें। वह भी विविध मुक्ताओं से युक्त हो। मोतियों की वर्षा और खाली मोती नहीं, दिव्य माणिक्यों से युक्त मोती। विविध मुक्ताओं से युक्त जो अखण्ड कनक वृष्टि वह आपको दक्षिणा में समर्पित करूँ ॥)

सचमुच भावना के आधार पर ऐसी उपासना करो तो कितनी बड़ी बात बने?

हाँ तो द्वापर में भगवान् की इस प्रकार पूजा करते-करते भी मन एकाग्र हो जाता है। उसी से भगवस्वरूप का प्राकट्य हो जाता है।

(८) भगवन्नाम-संकीर्तन :—

यह कलियुग है। इसमें और भी तमोगुण बढ़ गया है। तम का अधिक प्रकोप हो गया है। सत्व की टिमटिमाहट भी खतम हो रही है। इतना तमोगुण बढ़ गया है। ऐसी परिस्थिति में अब क्या हो? जोर से चिल्लाओ भगवान् का नाम, जोर से चिल्लाओ। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने भगवन्नाम-संकीर्तन का अखण्ड दान करना शुरू किया। निरन्तर भगवन्नाम के दान से 'जो कीड़े-मकोड़े भगवन्नाम नहीं ले सकते' उनका भी कल्याण हो गया। आज भी ऐसा ही करो। भगवन्नामोच्चारण करो। जो कीड़े-मकोड़े भगवन्नाम नहीं ले सकते, उनका भी कल्याण हो जायगा। बस भगवन्नाम के प्रभाव से ही अन्तःकरण का तम हटेगा, रज घटेगा, मन भी एकाग्र होगा। ऐसा होने पर क्षण भर के लिए अन्तःकरण में परात्पर परब्रह्म की अनुभूति भी हो जायगी। कुछ भी असम्भव नहीं, सब संभव है। इसी दृष्टि से भगवन्नाम संकीर्तन कर्तव्य है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यज्ञ मत करो। धारणा-ध्यान, पूजादि बिल्कुल करो ही मत। तुलसीदास जी कहते हैं—

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नाम कल्पतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

राम नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ।।
नहि कलि करम न भगति विवेकू । राम नाम अवलम्ब न एकू ।।
कालनेमि कलि कपट निधानू । नाम सुमति समरथ भगवानू ।।
(रामचरितमानस १।२७)

(परन्तु वे जब ऐसा कहते हैं) तब उनका मतलब यह नहीं कि ब्राह्मण के लड़के का यज्ञोपवीत संस्कार मत कराओ, उसको गायत्री मंत्र का उपदेश मत करो, या उसको वेद मत पढ़ाओ। यह हरगिज उनका मत नहीं। गोस्वामी जी पक्के मर्यादावादी, वर्णाश्रम धर्म के समर्थक हैं। वे स्वयं कहते हैं—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग ।।
(रामचरित मानस ७।२०)

तरपन होम करहिं विधि नाना।
विप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना ।।
(रामचरित मानस २।१२९।७)

वे कभी भी यह बरदाश्त नहीं कर सकते कि ब्राह्मण लड़के का यज्ञोपवीत संस्कार न करावें, उन्हें गायत्री मन्त्र का उपदेश ही न करो, वेदाध्ययन ही न कराओ। यदि वह वेदाध्ययन करेगा तो सन्ध्यावन्दन भी करेगा, सूर्यार्घ्य भी देगा। फिर उसको अग्निहोत्र करने में क्या आपत्ति है ? यदि कहो—यह सब कठिन है, तो ठीक नहीं। गीता का भी यही कहना है। तुलसीदास ने कभी अपने मस्तिष्क का फितूर नहीं बाँटा। जो वेदों में शास्त्रों में है, उसी को उन्होंने कहा।

गीता का कहना है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।
(भगवद् गीता ११।५३)

(इस प्रकार के मेरे स्वरूप का दर्शन जेसा कि तुमने किया है, न वेदाध्ययन से, न तप से, न दान से तथा न यज्ञ से ही हो सकता है ।।)

(हे अर्जुन ? मेरे इस प्रकार के स्वरूप को अनन्य भक्ति से मुमुक्षु पुरुष यथार्थतः जान सकते हैं, देख सकते हैं तथा मेरे स्वरूप में अवस्थित भी रह सकते हैं ।।)

'वेद से, तप से, दान से तथा यज्ञ से भी मेरा उपलम्भ नहीं होता। तो क्या यही अर्थ है गीता का ? नहीं, नहीं। इसका अर्थ है **'भक्ति विना केवलैर्वेदैः, भक्ति**

विना केवलैर्यज्ञैः, भक्तिं विना केवलेन तपसा, भक्तिं विना केवलया इज्यया' भगवान् की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा जोड़ो। नहीं तो वे स्वयं ही आगे क्यों कहते—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥
(भगवद् गीता ११।५४)

(हे अर्जुन ! मेरे इस प्रकार के स्वरूप को अनन्य भक्ति से मुमुक्षु पुरुष यथार्थतः जान सकते हैं, देख सकते हैं तथा मेरे स्वरूप में अवस्थित भी रह सकते हैं ॥)

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(भगवद् गीता ९।२७)

(हे कुन्तीपुत्र ! तू जो कुछ भी स्वतः प्राप्त कर्म करता है, जो भोजन करता है, जो कुछ श्रोत या स्मार्त यज्ञ रूप हवन करता है, जो कुछ सुवर्ण, अन्न घृतादि वस्तु ब्राह्मणादि सत्पात्रों को दान देता है और जो कुछ तप का आचरण करता है, वह सब मुझे समर्पित कर ॥)

इसलिए तुलसीदास जी का दोहा बहुत काम करता है—

नाम राम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गए कछु हाथ नहि अंक रहें दस गून ॥
(दोहावली १०)

भगवान् का मंगलमय नाम अंक है। जितने साधन हैं शून्य हैं। शून्य बेकार नहीं होता, शून्य की बड़ी कीमत है। दस्तावेज लिखाओ, एक लाख (१,००००००) रुपये का, लेकिन अंक तो एक ही होगा, बाँकी तो शून्य ही शून्य होगा।

एक अंक एक शून्य=दस (१०), एक अंक दो शून्य=सौ (१००), एक अंक तीन शून्य=एक हजार (१०००), एक अंक चार शून्य=दस हजार (१००००), एक अंक पाँच शून्य=एक लाख (१०००००)। जो एक की कीमत है शून्य उसे दस गुना बढ़ाता चलता है। परन्तु हाँ, इसमें अंक न रहे तो शून्य पाँच सौ बढ़ा लो, पर सब बेकार है। अंक हटालो शून्य बढ़ा दो तो कोई फायदा नहीं। अंक रहे शून्य बढ़ाते चले जाओ तो शून्य का बहुत महत्त्व है।

यज्ञ करो, तप करो, जप करो, बलिवैश्वदेव करो। पर (राम नाम रूप) अंक मत भूलो। अंक हटा दोगे तो शून्य ही हो जायगा। अंक रहते हुए हो शून्य का महत्त्व है। इसलिए ऐसा नहीं कि कलियुग में यज्ञ नहीं करना चाहिए, दान नहीं देना चाहिए, भगवान् की पूजा नहीं करनी चाहिए, भगवान् का ध्यान नहीं करना

चाहिए। इसलिए सभी आचार्यों के यहाँ तमाम पूजा चल रही है। ये सब सम्प्रदाय ऐसे (बिना पूजन, यजन के) थोड़े ही चल रहे हैं ? यज्ञ भी हो रहा है, दान भी हो रहा है, जप भी हो रहा है, व्रत भी हो रहा है। पर सबका उद्देश्य यह है कि मूल चीज मत भूलो। वह है भगवान् का मंगलमय नाम। इसलिए याज्ञिक लोग भी कहते हैं—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

(जिनके स्मरण तथा नामोच्चारण से तप और यज्ञ क्रियादि की न्यूनता मिटकर उनकी पूर्ति हो जाती है, उन अच्युत भगवान् की वन्दना अवश्य ही कर्मों की व्यंग्यता (न्यूनता) को मिटा देती है ॥)

यज्ञ भी हो, तप भी हो, दान भी हो, उनमें त्रुटियाँ बहुत-सी हो सकती हैं, गड़बड़ियाँ बहुत-सी हो सकती हैं। देश की गड़बड़ी, काल की गड़बड़ी वस्तु की गड़बड़ी—शुद्ध घी नहीं, शुद्ध दूध नहीं। नाना प्रकार की जो गड़बड़ियाँ हैं, वे भगवान् की स्मृति से, नामोक्ति से सब पूर्ण हो जाती हैं।

(९) माहात्म्य :—

इन सब दृष्टियों से आया यह कि (निष्कर्ष यह निकला कि) भगवान् की आराधना, भगवान् के स्वरूप का साक्षात्कार ही सर्व देश काल में मुख्य लक्ष्य है। इसी दृष्टि से श्रीमद्भागवत सप्ताह का विधान किया। और तो सब सदा-सर्वदा कठिन है, पर सप्ताह हो सकता है।

कहते हैं कि नारद जी महाराज देश-देशान्तर का भ्रमण करते-करते श्रीवृन्दावन धाम आये तो देखा—एक युवती बड़ी सुन्दरी विराजमान है। उसके साथ और कई युवतियाँ हैं। दो व्यक्ति जो कि वृद्ध से हैं, उस युवती के पुत्र सरीखे मालूम पड़ते हैं। वे बड़े खिन्न जीर्ण-शीर्ण अवस्था में हैं। उनके मन में प्रसन्नता नहीं है।

नारद जी ने पूछा—'तुम कौन हो ?', पता लगा—ये मुख्य युवती भक्ति महारानी हैं और ये सब तत्तत्तीर्थों की अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं। कोई गंगा जी महारानी हैं। कोई यमुना जी महारानी हैं। कोई सरस्वती की अधिष्ठात्री देवी हैं। ये सब भक्ति महारानी की सेवा कर रही हैं।

नारद जी ने पूछा—'ये कौन हैं दो', पता चला—'ये इन्हीं भक्ति महारानी के पुत्र हैं, ज्ञान और वैराग्य'।

'भक्ति महारानी खिन्न क्यों हैं ?', खिन्न इसलिए हैं कि माता को अपने पुत्र की प्रसन्नता में ही सुख मिलता है।

एक बार हम कलकत्ते गये तो एक बड़ी बूढी सेठानी हमसे कहती हैं—'महाराज ! हमको वरदान दो । ये बेटे-पोते हमको गंगा पर ले जाकर जला आवें'। मैंने कहा—'मरने पर कि जीते जी।' सेठानी हँसने लगी उसका मतलब यह था—'मेरे सामने बेटे-पोते न मरें ? मैं उनके सामने मर जाऊँ ? यही उसकी भावना थी।

तो माता सदा चाहती है, अपने बेटों का अभ्युदय। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' कुपुत्र तो हो भी सकता है, पर माता कभी कुमाता नहीं होती। भक्ति महारानी खिन्न हैं, वह चाहती हैं उनके पुत्र ज्ञान-वैराग्य हृष्ट-पुष्ट हों। तभी वे प्रसन्न होंगी। यद्यपि वे स्वयं श्रीवृन्दावन धाम में अच्छी हो गयीं—

ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ।
ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु २।४८)

(पहले पहल भक्ति में प्रवेश करने के लिए ही ज्ञान तथा वैराग्य की कुछ उपयोगिता है। वे भक्ति के अङ्ग न ही हैं और न वे भक्ति के बराबर ही हैं ॥)

तात्पर्य यह कि ऐसा ज्ञान, कर्म न हो जाय कि उनसे भक्ति आवृत्त हो जाय। भक्ति के साथ ज्ञान भी रहे, कर्म भी रहे, कोई हर्जा नहीं।

कई लोग कर्म जड़ होते हैं, 'कर्म जड़'। ये लोग कर्मजड़ता में कहते हैं—'कर्म ही फल देगा, ईश्वर कोई नहीं।' इसी तरह कई ज्ञान वाले कहते हैं—'काहे गुड्डा-गुड़िया की पूजा कर रहे हो ? गुड्डा-गुड्डी की पूजा से भला क्या होता है ?' परन्तु यह सब ज्ञान ऐसा है जैसे दाल में नोन ज्यादा डाल दिया, और दाल जहर हो जाय। इसलिए अनावश्यक ज्ञानाधिक्य नहीं। ज्ञान भी आवश्यक, कर्म भी, आवश्यक दोनों हों। परन्तु सभी भक्ति के आनुगुण्येन हों, प्रीति के आनुगुण्येन हों।

कर्म का प्रयोजन है भगवदाराधन और स्वरूप है भगवदाराधनबुद्ध्या स्वकर्मानुष्ठान। ज्ञान का उपयोग है भगवत्स्वरूप का अनुभव। क्योंकि—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जल बिनु चिकनाई ॥
बिनु गुरु होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ विराग बिनु।
गावहिं वेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु ॥

(रामचरितमानस ७।८९ क)

बिना जाने प्रीति नहीं होगी, इसलिए भक्त का भी कर्तव्य है कि आचार्य के पास गुरु के पास रहकर वैष्णव शास्त्र का अध्ययन करे।

वृन्दावन में कोई ज्ञान-वैराग्य का ग्राहक था नहीं। इसलिए बेचारे जीर्ण-शीर्ण हो गये। नारद जी ने देखा—ये सब तीर्थ, नदियाँ भक्ति की सेवा करती हैं। यह

मुक्ति है मुक्ति ? जो भक्ति की सेवा में संलग्न है। भक्ति जहाँ स्मरण करती है, मुक्ति वहाँ आ जाती है। इस तरह यह सब बड़ी ऊँची सामग्री है। लेकिन भक्ति को शान्ति नहीं सुख नहीं। नारद जी महाराज ने बहुत जगह पूछा-पछोड़ा, परन्तु कुछ पता नहीं चला। तो फिर तप करने लगे। फिर वहाँ दिव्यवाक्-दैवीवाक् हुई।

व्योमवाणी तदैवाभून्मा ऋषे खिद्यतामिति।
उद्यमः सफलस्तेऽयं भविष्यति न संशयः॥
एतदर्थं तु सत्कर्म सुरर्षे त्वं समाचर।
तत्ते कर्माभिधास्यन्ति साधवः साधुभूषणाः॥

(भागवत माहात्म्य २।३१, ३२)

देवर्षे ! खिन्न होने की आवश्यकता नहीं। आपका उद्यम सफल होगा। इसके लिए सत्कर्म करें। संत लोग सत्कर्म बताएंगे।" और कठिन समस्या हो गई। भिन्न-भिन्न महात्माओं से मिले, सन्तों से मिले, पता नहीं लगा। अन्त में सनत्कुमार सनक सनातन सनन्दन मिले। बताया—"भाई ! तुम इसके लिए श्रीमद्भागवत सप्ताह सुनाओ।"

फिर नारद जी ने शंका किया—"महाराज ! हमने उनको गीता पाठ सुना दिया, वेद पाठ सुना दिया, उपनिषद् पाठ सुना दिया। वेद पाठ सुनने से जो मतलब नहीं निकला वह फिर भागवत-पाठ सुनाने से क्या निकलेगा ? भागवत में भी जो कहा है, पद-पद पर गीता, वेद और उपनिषद् का ही तो सिद्धान्त है। वेद, उपनिषद् और गीता के सुनाने से भी जिनकी जीर्णता, शीर्णता नहीं मिटी, भक्ति को प्रसन्नता नहीं हुई तो फिर श्रीमद्भागवत से कैसे ज्ञान-वैराग्य की जीर्णता-शीर्णता मिटेगी, भक्ति को प्रसन्नता होगी ?"

तो फिर उन्होंने (कुमारों ने) उत्तर दिया—'गन्ने में मिठास रहती है। फिर गन्ने से बना हुआ शक्कर, गन्ने से ही बना हुआ बूरा, गन्ने से ही बनी हुई मिश्री और मिश्री से बना हुआ कन्द है, लेकिन गन्ने की अपेक्षा बूरे में चमत्कार, बूरे की अपेक्षा मिश्री और कन्द में चमत्कार है या नहीं ? उसी तरह वेद, गीता और उपनिषद् में जो तत्त्व है वही सर्वव्यापक सिद्धान्त श्रीमद्भागवत में भी है। श्रीमद्भागवत के रूप में मानो कन्द हुआ। गीता का, उपनिषद् का, वेदों का जो सार सर्वस्व है, वही श्रीमद्भागवत के रूप में मानो कन्द हो गया। मिश्री बन गई, कन्द बन गया। निगमकल्पतरु का गलित फल ही श्रीमद्भागवत है। जैसे गन्ने के भीतर रहने वाली मिठास जब मिश्री और कन्द के रूप में आ जावे तो उसमें चार चाँद लग जाते हैं। उनका लोकोत्तर चमत्कार बढ़ जाता है। इसी दृष्टि से श्रीमद्भागवत में वही वेदार्थ, वही उपनिषदर्थं, वही गीतार्थ कन्द के रूप में है। इसलिए तुम श्रीमद्भागवत का सप्ताह सुनाओ।

नारद जी की समझ में आ गया—'बात ठीक है।' फिर उन्होंने सप्ताह सुनाया। ज्ञान भी वैराग्य भी सब-हृष्ट-पुष्ट हो गये। सारा शोक निवृत्त हो गया। मोह, क्लान्ति सब दूर हो गये और भक्ति आनन्द-निमग्न हो गई। ज्ञान-वैराग्य भी आनन्द निमग्न हो गये। सारे तीर्थ आनन्दमग्न हो गये। मुक्तिदेवी भी आनन्द मग्न हो गयीं।

कहने का सार यह है कि श्रीमद्भागवत का बड़ा लोकोत्तर महत्त्व है। इसका अनुष्ठान होता है। इसकी आराधना होती है। सत्पुरुष-महात्मा इसके अनुसार जीवनचर्या धारण करने में अपना जीवन लगा देते हैं। वैष्णवों का परम उत्कृष्ट धन है श्रीमद्भागवत।

इसी तरह इसमें माहात्म्य के सम्बन्ध में और भी कथाएँ आई हैं। गोकर्ण की कथा आई, धुन्धकारी की कथा आई। धुन्धकारी प्रेत हो गया था। उसके मोक्ष के लिए बांस गाड़ दिया गया था। प्रेत था, कोई मनुष्य रूप में तो बैठ नहीं सकता था। वाय्वात्मक (वायु-आत्मक=वायुरूप) होते हैं प्रेत। इसलिए बांस गाड़ दिया था। उसी में वह रहता था। कथा सुनता था। प्रतिदिन कथा होती थी, बाँस की एक गाँठ फट जाती थी। इस तरह सातवें दिन सातों गाँठें टूट गयी। धुन्धकारी के लिए विमान आया। वह विमान पर बैठ कर भगवान् के दिव्य धाम में चला गया।

(१०) वस्तु-तत्त्व के साक्षात्कार के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपेक्षित :—

लोगों ने पूछा—"महाराज कथा तो सबने सुनी, लेकिन विमान धुन्धकारी के लिए आया? सबके लिए विमान क्यों नहीं आया?"

गोकर्ण ने कहा—भाई सुना तो सबने, परन्तु मनन इसने जैसा किया वैसा किसी ने नहीं किया।

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः।
श्रवणं तु कृतं सर्वैर्न तथा मननं कृतम्॥
फलभेदस्ततो जातो भजनादपि मानद॥
(माहात्म्य ५।७१)

"हे मानद! इस फल भेद का कारण इनके श्रवण का भेद ही है। यह ठीक है कि श्रवण तो सबने समान रूप से ही किया, किन्तु इसके जैसा मनन किसी ने भी नहीं किया, इसी से एक साथ श्रवण करने पर भी उसके फल में भेद रहा॥"

लोग बड़ी अच्छी से अच्छी बात सुनते हैं, पर एक कान से सुनते हैं, दूसरे कान से बहा देते हैं। तत्काल कुछ प्रभाव पड़ता है। लेकिन प्रभाव को स्थायित्व देने के लिए मनन की अपेक्षा होती है। इसलिये श्रवण करो, श्रवण के बाद मनन करो, मनन के बाद निदिध्यासन करो। सावधान होकर श्रवण करो। तत्त्व मन में,

फिर उसका मनन करो। मनन करके फिर उसमें परिनिष्ठित होने के लिए प्रयास करो। क्योंकि श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनों के सहयोग से वस्तुतत्त्व का साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत का लोकोत्तर महत्त्व है। माहात्म्य भी संक्षेप में ही कहना है। एक ही कथा, एक ही बात साररूप में मन में आ जाय तो बेड़ा पार है।

(११) 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' की भूमिका :—

श्रीमद्भागवत का प्रथम श्लोक है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

(श्रीमद्भागवत १।१।१)

जिसमें इस जगत् का जन्म सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है, क्योंकि वह सभी सद्रूप पदार्थों में अनुगत है और असत् पदार्थों से पृथक है। जड़ नहीं, चेतन है। परतन्त्र नहीं, स्वयं प्रकाश है। जो ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ नहीं, प्रत्युत उन्हें अपने संकल्प से ही जिसने उस वेद-ज्ञान का दान किया है, जिसके सम्बन्ध में सूरि बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्य रश्मियों में जल का, जल में स्थल का और स्थल काँचादि में जल का भ्रम होता है; वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमय भूत, इन्द्रिय और देवता रूप सर्ग मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रहे हैं, उस अपने स्वप्रकाश ज्योति में सर्वदा और सर्वथा माया और माया कार्य में पूर्ण रूप से मुक्त रहने वाले परम सत्यरूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं।।)

यह श्लोक है बड़ा सारवान्। सम्पूर्ण शास्त्रों का सार है। '**सत्यं परं धीमहि=परं परमात्मानं धीमहि।**' उस परमात्मा भगवान् सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्म का हम ध्यान करते हैं।

वह कौन है? परम अर्थात् परमेश्वर; उसका क्या लक्षण है? पहले तटस्थ लक्षण कहते हैं, फिर स्वरूप लक्षण। तटस्थ लक्षण है—**'जन्माद्यस्य यतः'।**

अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्व प्रपञ्च जिससे पैदा होता है, सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्च जिससे उत्पन्न होकर जिस में स्थित रहता है और अन्त मे जिसमें वह सब

---

५. ध्यायतेर्लिङि छान्दसं ध्यायेमेत्यर्थः। बहुवचनं शिष्याभिप्रायम्। तमेव स्वरूप-तटस्थ लक्षणाभ्यामुपलक्षयति। तत्र स्वरूप लक्षणं सत्यमिति, तटस्थ लक्षणमाह जन्मादीति। श्रीधरी

प्रविलीन हो जाता है। ऐसा भगवान् सर्वान्तरात्मा सर्वद्रष्टा परमेश्वर है। उसका हम ध्यान करते हैं।

(१२) भगवत्तत्त्व का अनुसंधान—छान्दोग्य शैली में :

पहली बात यही है कि हम भगवान् को कैसे जानें? छान्दोग्योपनिषद् कहती है—

सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छादिभः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विछ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा ॥

(छान्दोग्योपनिषद् ६।९।४)

(हे सौम्य! तू अन्न रूप शुङ्ग—अंकुर के द्वारा जल रूप मूल को खोज। हे सौम्य! जल रूप शुङ्ग के द्वारा तेज रूप मूल को खोज। तेजो रूप शुङ्ग के द्वारा सद्-रूप मूल का अनुसन्धान कर। हे सौम्य! इस तरह यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक है। सत् ही इसका आश्रय है। सत् ही इसकी प्रतिष्ठा है॥)

श्वेतकेतु के प्रति उसके पिता का उपदेश है। अन्नरूपी अंकुर से उसके बीज का पता लगाओ। जैसे अंकुर देखकर बीज का अनुमान होता है। अंकुर बिना बीज के नहीं हो सकता, बीज हो तभी अंकुर होता है। अन्न अर्थात् पृथिवी एक अंकुर है। पृथिवी जिस पर हम आप सब हैं प्रत्यक्ष है, अप्रत्यक्ष नहीं। हम आप जितने प्रत्यक्ष हैं, उतनी प्रत्यक्ष पृथिवी है। पृथिवी रूपी अंकुर के द्वारा इसके बीज को ढूँढो। इस पृथिवी रूपी अंकुर का कोई बीज होगा और वह बीज है जल। जैसे दूध का दही बन जाता है, पानी का बर्फ बन जाता है, वैसे ही जल पृथिवी बन गया। पानी से बना बर्फ कई वर्षों तक बना रहे तो नीलम बन जाता है। कौन कल्पना कर सकता है कि कभी वह नीलम मणि सूर्य की किरणों में रहा होगा? परन्तु वस्तु स्थिति यही है। सूर्य ने अपनी किरणों से धरित्रीतल के रस को आकृष्ट किया। वही इस सूर्य मण्डल में जाकर बादल बन करके वृष्टि रूप में आया। वही स्थूल जल हुआ। फिर स्थूल जल जम कर बर्फ बन गया। वह बर्फ रूप में अमुक काल (अपेक्षित समय) रहते हुए नीलम बन गया। ऐसे ही जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई।

कार्य स्थूल होता है, कारण सूक्ष्म होता है। पार्थिव प्रपञ्च का मूल पृथिवी, पृथ्वी का मूल जल। '**अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ**' (छा०उ० ६।९।४) जल रूप अंकुर से उसके मूल तेज को ढूँढो। फिर '**तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ**' (छा० उ० ६।९।४) तेज रूप अंकुर से उसके मूल स्वप्रकाश रूप पर सत्ता का पता लगाओ। कोई अखण्ड स्वप्रकाश सत्ता है, जिसके द्वारा तेज बना।

(१३) भगवत्तत्त्व का अनुसंधान—तैत्तिरीय शैली में :

तैत्तिरीय वाले आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं—वायु का मूल आकाश है।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीऽभ्योन्नम्। अन्नात् पुरुषः।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)

अष्टधा प्रकृति वाले कहते हैं—आकाश का मूल अहं तत्त्व है और अहं का मूल महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि), महत्तत्त्व का मूल अव्यक्त है।

(१४) पैङ्गलोपनिषद् पुराण और महाभारत की शैली में

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च
(भगवद् गीता १३।५)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा[६]
(भगवद् गीता ७।४)

पुराण कहता है—उस अखण्ड अनन्त पुरुषोत्तम भगवान् से अव्यक्त की उत्पत्ति हुई। अव्यक्त भी निर्गुण, निष्कल ब्रह्म में प्रविलीन हो जाता है।

अव्यक्त की उत्पत्ति और उसके प्रलय का वर्णन :

'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विज सत्तम'
(महाभारत शान्तिपर्व ३३४।३१)

(द्विजश्रेष्ठ ! उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उपत्न हुआ।)

'अव्यक्तं निष्कले ब्रह्मन् ब्रह्मणि प्रविलीयते'

(हे ब्रह्मन् ! निर्गुण निष्कल ब्रह्म में अव्यक्त लीन हो जाता है।)

तस्मात् प्रधानमुद्भूतं ततश्चाऽपि महानभूत्।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्॥

---

६. मन इति मनसः कारणमहंकारो गृह्यते।
बुद्धिरित्यहंकारकारणमहत्तत्त्वम्।
अहंकारइत्यविद्यासंयुक्तमव्यक्तम्।
यथा विषसंयुक्तमन्नं विषमुच्यते एवमहंकारकारणवासनादव्यक्तमूलकारणमहंकार इत्युच्यते प्रवर्तकत्वादहंकारस्या हंकार एव हि सर्वस्य प्रवृत्तिबीजं दृष्टं लोके।
(भगवद् गीता, शांकर भाष्य)

६. A नरसिंह पुराणे सर्ग० १।४१ श्रीपाद्मे महापुराणे तृतीय स्वर्ग खण्डे २।६

अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः ।
प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥

विष्णु पुराणे २।१।१९

(अव्यक्त कारण है। उसी को ऋषिश्रेष्ठ प्रधान प्रकृति भी कहते हैं। वह सूक्ष्म, नित्य और सत्—असदात्मक है ॥)

अव्यक्त से 'महत्तत्त्व' होता है। महत्तत्त्व का अर्थ है समष्टिबोध। समष्टि बोध से 'अहं' उत्पन्न होता है। अहं के बाद 'इदं'। इदं कोटि में पहला है आकाश। फिर आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथिवी[७]। घोर निद्रा में आप सो रहे हैं, घोर निद्रा भंग हुई बोध आया। बोध के बाद 'अहं' का स्फुरण हुआ। **'अहमस्मि'** = मैं हूँ। फिर इदं। इस तरह पहले घोर निद्रा, फिर सविकल्प बोध, पुनः अहं का उल्लेख फिर इदं आकाशादि का उल्लेख हुआ। इसी बात को बताती हुई श्रुति कहती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१)

(जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं और अन्त में विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करें, वही ब्रह्म है ॥)

वाचस्पति मिश्र (भामतीकार) इसी को अपने शब्दों में कहते हैं—

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि ।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥

(भामती २)

(वेद जिस ब्रह्म के निःश्वास हैं, पञ्चभूत जिनके वीक्षणमात्र से उत्पन्न है, यह चराचर जगत् जिसका मन्द हास है एवं महाप्रलय जिसका शयन है, उसे नमस्कार करता हूँ ॥)

(१५) परब्रह्म के निःश्वासभूत वेदों की अपौरुषयता :—

बृहदारण्यकोपनिषद् के शब्दों में—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।११)

---

७. श्रुतियाँ स्वयं ही इसी तथ्य का प्रतिपादन करती हैं—

सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूतपञ्चके संयोज्य भूमिं जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहंकारे चाहंकारं महति महदव्यक्तेऽव्यक्तं पुरुषे क्रमेण विलीयते ।

(पैङ्गलोपनिषद् ३।१)

(यह जो ऋग्वेद आदि है, वह इस सत्य ब्रह्म का निःश्वास है ।।)

श्रीभगवान् के निःश्वास से वेद पैदा हुए । भगवान् ने श्वास लिया वेद बन गये । एक पुस्तक लिखनी हो तो कई पुस्तकालय चाहिए, तब पुस्तक लिखी जाय । परन्तु भगवान् के सम्बन्ध में तुलसीदास जी ने कहा—

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी ।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ।।
(रामचरितमानस १।२०४)

सहज श्वास (स्वाँस) माने अकृत्रिम स्वाँस । स्वाँस अकृत्रिम होती ही है । अकृत्रिम माने बुद्धिप्रयत्नानपेक्ष । स्वाँस के निर्माण में बुद्धि नहीं खर्च करनी पडती । स्वाँस के लेने में प्रयत्न नहीं खर्च करना पड़ता । क्योंकि निद्राकाल में भी स्वाँस चलती है । निद्रा में बुद्धि होती नहीं । अगर निद्राकाल में बुद्धि रहे प्रयत्न रहे तो निद्रा ही नहीं । बुद्धि, प्रयत्न विना भी सुषुप्ति में स्वाँस चलता रहता है । इसलिए स्वाँस अकृत्रिम है । अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान् के सहज स्वाँस से चारों वेदों का प्रादुर्भाव हुआ ।

नैयायिक कहते हैं—'भगवान् ने बुद्धि और प्रयत्न पूर्वक ही वेद की रचना की है' ऐसा मानने में क्या हर्ज है ? जीव से वेद की सृष्टि न हो, परन्तु सर्वज्ञ ईश्वर से तो वेद की सृष्टि हो ही सकती है ? जीव अल्पज्ञ है, अल्प शक्तिमान् है । भ्रम, प्रमाद, करणापाटव दोष हो सकते हैं । परन्तु भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं । भ्रम, प्रमाद करणापाटवादि दोषों से रहित हैं । उनसे वेद की उत्पत्ति माने तो क्या हर्ज है ?

(स्वमत) परन्तु वेद भी कहता है, वेदज्ञ वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं और तुलसीदास भी कहते हैं—'परमात्मा के सहज स्वाँस से श्रुतियाँ प्रकट होती हैं । सहज स्वाँस का मतलब यह है कि वेदों के निर्माण में भगवान् की बुद्धि नहीं खर्च हुई, प्रयत्न नहीं खर्च हुआ । बुद्धि, प्रयास खर्च होगा तो कह सकते हैं कि भगवान् में भ्रम, प्रमाद, छल आदि दोषों में कुछ दोष हो भी सकते हैं ।

कहा जा सकता है कि वह पागल आदमी है जो कि भगवान् में भ्रम, प्रमादादि कहता है ।

हम कहते हैं—हाँ भगवान् में भ्रम, प्रमाद नहीं, परन्तु छल तो है, थोड़ा-सा ही सही । छल से भगवान् ने बृन्दा का व्रत भंग किया –

छल करि टारेउ तासु व्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह ।
जब तेंहि जानेउ मरम तब साप कोप करि दीन्ह ।।
(रामचरितमानस १।१२३)

इसलिए कोई कह सकता है कि वेदों के निर्माण में भगवान् का छल होगा। उन्होंने मोहिनी रूप में छल किया। असुरों के हाथ से अमृत ले लिया। तो छल भगवान् में भी सिद्ध होता है। परन्तु अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी लोक कल्याण के लिए। अरे साँप को दूध पिलाओगे तो जहर ही तो बनेगा और क्या बनेगा ? देवताओं को अमृत देना तो ठीक, परन्तु असुरों को अमृत दे देते तो वैसे ही वे प्रबल थे, फिर उनके मरने का तो कोई नाम ही नहीं।

इस तरह जालंधर दैत्य था भयंकर। वह हजारों पतिव्रताओं का पातिव्रत्य भंग करने में लगा हुआ था। एक दिन भगवती पार्वती पर हमला किया। शङ्कर बन गया जी भूतभावन विश्वनाथ शङ्कर। पार्वती के पास चला। परन्तु भगवती के अनन्त सौन्दर्य को देखकर उसका तेज स्खलित हो गया। तो भगवती को मालूम हुआ यह तो दुष्ट है। तब भगवती ने विष्णु से कहा। भगवान् विष्णु ने भगवती की प्रेरणा से वृन्दा का व्रत टाला। वृन्दा का पातिव्रत्य जालन्धर का कवच बना हुआ था। वही उसे मारने नहीं देता था। विष्णु ने सोचा—कवच भंग करना चाहिए।

इसलिए वेद के निर्माण में सुरकार्य के लिए छल करने वाले सुरनायक सर्वेश्वर भगवान के प्रयत्न और बुद्धि का भी उपयोग नहीं माना जाता। उनके सहज श्वाँस से ही वेदों का आविर्भाव माना जाता है।

उक्त रीति से वेदों की अपौरुषेयता भी अखण्ड रही और ईश्वर से उनका निर्माण भी सिद्ध हुआ। अर्थात् भगवान् की बुद्धि से, भगवान् के प्रयत्न से वेदों का आविर्भाव नहीं हुआ, किन्तु पूर्वकल्प की आनुपूर्वी का अनुस्मरण करके उत्तर कल्प में उन्होंने उपदेश किया। पूर्व-पूर्व कल्प की आनुपूर्वी को अनुस्मरण करके उत्तर-उत्तर कल्प में उपदेश करने के कारण ईश्वर को वेदों के निर्माण में बुद्धि और प्रयत्न का उपयोग नहीं करना पड़ा।

'सुप्तप्रतिबुद्धन्याय' से ही भगवान् से वेदों का आविर्भाव होता है। जैसे विद्यार्थी कल जो वेद पढ़ता रहा, कल जो व्याकरण सूत्र पढ़ता रहा—कण्ठस्थ करता रहा, आज उसी को याद कर लेता है। सोकर जब प्राणी प्रबुद्ध होता है, सोने के पहले के पाठ को 'सुप्तप्रतिबुद्धन्याय' से अभ्यास कर लेता है, वैसे ही भगवान् पूर्व कल्प की वेदानुपूर्वी का अनुस्मरण करके द्वितीय कल्प में उपदेश करते हैं। वे सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड नायक हैं, सर्वेश्वर हैं, सर्वद्रष्टा हैं। अनन्तानन्त मंत्र-ब्राह्मणात्मक वेदों को देखते हैं, पूर्व कल्पों का अनुस्मरण करके उत्तर कल्प में उपदेश करते हैं। इसलिए उनके निर्माण में भगवान् की बुद्धि नहीं खर्च होती, तदर्थ भगवान् का प्रयत्न नहीं खर्च होता। इसलिए भगवान् में छल कहीं होता हो पर वेदों में उसका लेश भी नहीं है। वेद अत्यन्त निर्दोष हैं।

श्रीगोस्वामी जी ने 'सहज श्वाँस श्रुति' कहकर वेदों को अकृत्रिम अर्थात् अपौरुषेय बताया है। वाचस्पति मिश्र का वह वचन प्रसिद्ध ही है, 'भगवान् ने निहार

दिया तो अनन्त ब्रह्माण्ड का मूल पञ्चभूत बनकर तैयार हो गये। भगवान् ने जरा मुस्करा दिया तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड फलित प्रफुल्लित हो गया। भगवान् ने आँख मींच लिया तो अनन्त ब्रह्माण्ड का बंटाढार हो गया।'

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

ठीक ही है—

छूछी भरे, भरी ढरकावै, जब चाहे तब फेर भरावे॥

(१६) वेदों के प्रतिपाद्य सगुण या निर्गुण :—

वेद स्तुति के प्रारम्भ में पहले शंका की गई है—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥
(भागवत १०।८७।१)

(भगवन्! ब्रह्म कार्य-कारणातीत है। सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण उसमें हैं नहीं। वह सर्वथा अनिर्देश्य है। मन और वाणी से संकेत रूप में भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। वैसे भी श्रुतियों की प्रवृत्ति सगुण में ही होती है। वे जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध का अथवा रूढ़ि का निर्देश करती हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किस प्रकार करती हैं। क्योंकि निर्गुण के प्रतिपादन में उनकी पहुँच हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता॥)

ब्रह्म तो अनिर्देश्य है। **'डित्थः'**, **'डवित्थः'** ये निर्देष्टुं शक्य हैं निर्देश्य है। कह सकते हैं—**'अयं डित्थः'**, **'अयं डवित्थः'**, **डित्थः काष्ठमयो हस्ती, डवित्थस्तन्मयो मृगः'** 'डित्थ' काष्ठमय (हस्ती) को कहते हैं। डवित्थ काष्ठमय मृग को कहते हैं। प्रत्यक्ष वस्तु में शक्तिग्रह कराया जा सकता है। ऐसा ब्रह्म प्रत्यक्ष हो तो कोई शक्तिग्रह कराया जा सकता है। पर ऐसा है नहीं। हाँ जाति के आधार पर भी शक्तिग्रह होता है। गो पद का शक्तिग्रह सास्नादिमती व्यक्ति में होता है। **'ब्राह्मण'** यहाँ जाति के आधार पर ब्राह्मण पद की प्रवृत्ति जाति में होती है। **'नीलमुत्पलं'** यहाँ नील शब्द गुण के आधार पर नील में प्रवृत्त होता है। **'लावकः पाचकः'** इन शब्दों की प्रवृत्ति क्रिया के आधार पर अर्थ प्रकाशन में होती है। 'धनी, गोमान्' आदि शब्दों का सम्बन्ध के आधार पर प्रवृत्ति होती है। परन्तु ब्रह्म तो रूप, जाति, गुण, क्रिया सम्बन्ध से रहित है।[८]

---

८. तत्र तावन्मुख्या लक्षणा गुणभेदेन त्रिधा शब्दप्रवृत्तिः। मुख्यापि रूढियोगभेदेन द्विधा। रूढिश्च स्वरूपेण जात्या गुणेन चानिर्देशार्हवस्तुनि संज्ञासंज्ञि संकेतेन प्रवर्तते। यथा

ब्रह्म निर्देष्टुं अशक्य है। न तो ब्रह्म में जाति है, न गुण और न सङ्ग ही। एकत्वात् (एक होने के कारण) जाति नहीं। **'नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वं जातित्वम्'** नित्य होकर अनेक में जो समवाय सम्बन्ध से रहे सो (वह) जाति। नित्य तो (वेदान्तमत में) एक ही है। अतः अनेक समवेत न होने से जाति नहीं। **'निर्गुणं'** निर्गुण होने से गुण नहीं। **'असंगः'** असङ्ग होने से कोई सम्बन्ध नहीं।[९] इसलिए शब्द कैसे ब्रह्म में प्रवृत्त होते हैं? वेदस्तुति के प्रारम्भ में यही प्रश्न किया है—ब्रह्म अनिर्देश्य है, वह तो सत्-असत् दोनों से परे हैं—**'सदसतः परे'** (भागवत १०।८७।१) ऐसे कार्यकारणातीत ब्रह्म में गुणवृत्त्या श्रुतियाँ कैसे प्रवृत्त होती हैं? श्रुतियों की प्रवृत्ति तो गुण में होती है। ब्रह्म तो निर्गुण है। निर्गुण में गुणवृत्या **'कथं चरन्ति'** (निर्गुण का निरूपण कैसे करती हैं)?[१०] यह शंका है।

समाधान का प्रारम्भिक स्वरूप इस प्रकार है—

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणाञ्जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्राऽर्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च॥

(भागवत १०।८७।२)

यद्यपि श्रुतियाँ शब्द रूप होने के कारण स्पष्टतः सगुण ब्रह्म का ही निरूपण करती हैं तथापि विचार करने पर उनका पर्यवसान निर्गुण ब्रह्म में ही होता है। विचार करने के लिए ही) सर्व समर्थ प्रभु ने जीवों के लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणों की रचना की। इनके द्वारा वे मात्रा (विषय) भव (जन्म, तदुपलक्षित कर्म अर्थात् धर्म) आत्मा (कर्म फल भोग) और अकल्पन अर्थात् मोक्ष फलतः अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ प्राप्त कर सकें।

डित्थो गौः शुक्लः इति। लक्षणा च तेनैव संकेतेनाभिहितार्थसम्बन्धिनि यथा गङ्गायां घोष इति। गौणी चाभिहितार्थलक्षितगुणयुक्तेति तत्सादृश्ये यथा सिंहो देवदत्त इति।

(श्रीधरी भागवत १०।८७।१)

९. 'निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं' (अध्यात्मो०), 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० ६।११)
नेति नेति (बृहदारण्यकोपनिषद् २।३।६, एकमेवाद्वितीयम् (छा. उ. ६।२।१),
दिव्यो ह्यमूर्तः (मु. उ. २।१।२), निष्कलं निष्क्रियं शान्तं (श्वेता० ६।१९)
महानज आत्मा (बृ. उ. ३।४।४)
अस्थूलोऽनणुः (बृ. उ ३।९।२६
असङ्गो ह्ययं पुरुषः (बृह. उ. ४।३।१५)

१० 'सदसतः पर' इति कार्यकारणाभ्यां परस्मिन्नसंगे केनचिदपि सम्बन्धाभावान्न लक्षणायोगवृत्ती संभवत इत्यर्थः। एवं पदार्थत्वायोगादपदार्थस्य च वाक्यार्थत्वायोगान्न श्रुतिगोचरत्वं ब्रह्मण इत्यभिप्रायः। (श्रीधरी भाग० १०।८७।१)

यद्यपि श्रुतियाँ ज्ञान इच्छा क्रियावान् सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर सगुण परमेश्वर का ही प्रत्यक्ष में निरूपण करती हैं, परन्तु निर्गुण में ही चरितार्थ होती हैं। श्रवण, मननादि की सामग्री भी कृपाकर भगवान् ही जीवों को प्रदान करते हैं। यद्यपि उनका उपयोग भोगापवर्ग दोनों के लिए किया जा सकता है, परन्तु भगवत्प्रदत्त जीवन का भगवदर्थ उपयोग हुए बिना जीवन सार्थक नहीं। ऐसा अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहते हैं

श्रीभगवान् ने जीवों के लिए मन, इन्द्रिय और प्राणों की सृष्टि की है। इनके द्वारा ये स्वेच्छा से अर्थ, धर्म, काम अथवा मोक्ष[११] का अर्जन कर सकते हैं। इत्यादि—

(उत्तर सुनकर लगता तो यही है) **'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे'** पूछा आम बताया इमली। हमने पूछा—निर्गुण में गुण वृत्त्या श्रुतियाँ कैसे प्रवृत्त होती हैं? आपने कहा—'भगवान् ने बुद्धि, इन्द्रिय, मन, प्राण को बनाया।' यह कोई उत्तर हुआ? उत्तर के ढंग से उत्तर दो भाई।

तो भक्तों ने एक उत्तर दिया। भाई इसका उत्तर सरल सा है। बात बिल्कुल सीधी-सी है। जो जन्मान्ध है, उसके लिए जैसा ब्रह्म दुर्लभ है, वैसे रूप दुर्लभ है। जैसे ब्रह्म दुर्गम है, वैसे जन्मान्ध को रूप दुर्गम है। ब्रह्म के तुल्य दुर्गम रूप को सर्वशक्तिमान् ने आँख बनाकर सुगम बना दिया। जिसे घ्राण शक्ति नहीं है, वह गन्ध को क्या जाने? हिना का इत्र है या गुलाब का? जिसकी घ्राणशक्ति काम नहीं करती, उसके लिए भगवान् ने ब्रह्म के तुल्य दुर्गम गन्ध को घ्राण बनाकर सुगम बना दिया। कान जिसको नहीं है, उसके लिए शब्द वैसे ही दुर्गम है जैसे ब्रह्म। फिर जिसने काम बना करके दुर्गम शब्द को सुगम बना दिया, भक्तों को चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह भगवान् दुर्गम ब्रह्म को वैसे ही सुगम बना देगा जैसे दुर्गम रूप को सुगम बना दिया, दुर्गम शब्द को सुगम बना दिया। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं —

जाना चहँहि गूढ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥

(रामचरितमानस १।८१।३)

---

११. बुद्धयादीनुपाधीन् जनानामनुशयिनां जीवानां मात्राद्यर्थं प्रभुरीश्वरोऽसृजत्। मीयन्त इति मात्राविषयासदर्थं भवार्थं भवो जन्म लक्षणं कर्म तत्प्रभृति कर्म करणार्थ-मित्यर्थः। आत्मने लोकान्तरगामिने आत्मनस्तत्तल्लोकभोगायेत्यर्थः अकल्पनाय कल्पना निवृत्तये मुक्तय इत्यर्थः। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षार्थानितिक्रमेण पदचतुष्टय-स्यार्थः। जनानामिति वदन् जीवार्थमीश्वरस्य सृष्टयादिषु प्रवृत्तिरिति दर्शयति। प्रभुरितीश्वरस्योपाधिवश्यताभावेन नित्यमुक्ततां दर्शयति।

('श्रीधरी भागवत १०।८७।२

जो गूढ़गति परात्पर परब्रह्म को जानना चाहते हैं, वे मंगलमय मधुर मनोहर नाम का उच्चारण करें। भगवान् का साक्षात्कार हो जायगा। भगवान् के नाम में चमत्कार है। शब्दों में चमत्कार है। शब्दों में अचिन्त्य शक्ति होती है।

भक्तों का यह भी कहना है—कौन कहता श्रुतियां निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं? श्रुतियाँ तो सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं। निर्गुण ब्रह्म का नहीं। क्योंकि सत् से पर, असत् से परे अर्थात् कार्यकारणातीत परात्पर परब्रह्म में श्रुतियों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। वेदों ने आकर श्रीरामचन्द्र राघवेन्द्र की स्तुति की—

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
(रामचरितमानस ७।१३।६)

'जो निराकार निर्विकार परात्पर परब्रह्म की बात करते हैं करें, हम तो आपका सगुण यश ही नित्य गाते हैं।

बात सरल है। क्या मिट्टी घड़ा बनाने वाला कुम्भकार निर्गुण है? यदि वह ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् न हो तो मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता। लकड़ी से मेज बनाने वाला वर्द्धकी (तक्षा, बढ़ई) ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् है। इसी तरह लोहे का विविध यन्त्र बनाने वाला (Scientist) वैज्ञानिक ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् ही होता है। इसी तरह चन्द्रमण्डल, भूमण्डल, गगन, सागर, पर्वत का निर्माण करने वाला परमात्मा ज्ञानवान्, इच्छावान् क्रियावान् है। ज्ञान गुण है कि नहीं, इच्छा गुण है कि नहीं, क्रिया गुण है कि नहीं? इसलिए ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् परमात्मा सगुण है। जब मिट्टी का घड़ा बनाने वाला ज्ञानवान् इच्छावान्, क्रियावान्, लोहे की मेज बनाने वाला ज्ञानवान्, क्रियावान् तो चन्द्रमण्डल, भूमण्डल, गगन, सागर, पर्वत आदि का निर्माण करने वाला परमात्मा ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् सगुण है, ऐसा ही जानना चाहिये।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'[१२]
(तैत्तिरीय० उ० ३।१)

---

१२. जहदजहत्स्वार्थलक्षणया सोऽयं देवदत्त इतिवद्विरुद्धांशत्यागेनानुगतचिदंशेनैकार्थेन सामानाधिकरण्येन निर्गुणे पर्यवसानम्। अस्थूलादिवाक्यानां तु साक्षादुपाधिनिषेधेन तत्पदार्थशोधन उपयोगान्निर्गुण एव पर्यवसानम्। तथा चात्रैवोपक्रमे स्वसृष्टमिदमापीयेत्यादिना विशिष्टमालंबनं वक्ष्यति। अन्ते च श्रुतयस्त्वयि हि फलंत्यतन्निरसनेन भवन्निधना इत्युपसंहरिष्यन्ति। उपासनादिवाक्यानां तु क्रियार्थप्रवृत्तसृष्टयाद्यवलम्बनेन ज्ञानसाधनविधानेन तत्परत्वम्। (श्रीधरी, भागवत १०।८७।२)

सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् परमेश्वर विश्वप्रपञ्च को किस रीति से बनाता है ? इसका उत्तर भगवान् व्यास ने लिखा है—

देवादिवदपि लोके (ब्रह्मसूत्र २।१।२५)

(देवता, पितर, ऋषिगण चेतन होते हैं। ये संकल्प मात्र से विविध कार्य करने में समर्थ होते हैं। इन्हें बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती। इस तथ्य का प्रतिपादन मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण आदि करते हैं। लोक में ऐन्द्रजालिक का दृष्टान्त भी प्रसिद्ध ही है। मकड़ी अपने आप ही तन्तुओं का सृजन करती है। बलाका (बगुली) शुक्र (वीर्य) के बिना ही गर्भ धारण करती है।)

ऐसे ही चेतन ब्रह्म भी बाह्यसाधनों की अपेक्षा के बिना ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होने में समर्थ है। 'जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।' (रामचरितमानस १।१८६)

भिन्न-भिन्न स्थलों के अलग-अलग साधन होते हैं। आमतौर पर कुम्भकार को घोड़ा बनाने के लिए दण्ड, चक्र, चीवर आदि चाहिए। ऐसे ही लकड़ी की मेज बनाने वाले बढ़ई को वसुला चाहिए, लकड़ी चाहिए, सूत चाहिए। ऐसे ही मशीन बनाने वाले को अनेक साधन चाहिए। लेकिन कहते हैं, कल्पवृक्ष में यह चमत्कार है कि बिना साधन के जो चाहो सो मिल जाय, चिन्तामणि में यह चमत्कार है कि जो चाहो सो मिल जाय, कामधेनु में वह चमत्कार है कि जो चाहो वह उससे मिल जाय। जो साधन कुम्भकार को चाहिये, जो साधन बढ़ई को चाहिये, जो साधन स्वर्णकार को चाहिए, वह सब साधन कल्पवृक्ष को नहीं चाहिये, चिन्तामणि को नहीं चाहिए, कामधेनु को नहीं चाहिए। कल्पतरु, कामधेनु और चिन्तामणि से भी अधिक चमत्कार पूर्ण ऋषि हैं, उनमें बहुत चमत्कार है, बहुत शक्ति है। वे बिना वाह्यसाधन के संकल्प मात्र से अभीष्ट वस्तु प्रदान कर सकते हैं। संकल्प किया और काम सिद्ध हुआ। अनन्त कोई ब्रह्माण्ड नायक भगवान् में तो देवताओं से भी अरबों गुना ज्यादा, ऋषियों से भी अरबों गुना ज्यादा अनन्त-अनन्त चमत्कार है। वे तो बिना किसी साधन के (बिना अन्तःकरण रूप साधन के भी) सब कुछ बना सकते हैं। इसलिए अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नायक परब्रह्म परमात्मा में सब तर्क खत्म (समाप्त) हो जाते हैं। कहते हैं—

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥

अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-
मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति।
अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो
यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे॥

(शिवमहिम्नस्तोत्रम् ५।६)

त्रिभुवन निर्माण के समय वह त्रिभुवन निर्माता किस आधार पर बैठ कर किस इच्छा से किसके लिए, किस शरीर से किन उपायों से साधनों और किन उपादानों-उपकरणों से तीनों लोकों या समस्त ब्रह्माण्ड का सृजन करता है ? बुद्धिहीन ही इस तरह के कुतर्कों का आलम्बन लेकर व्यर्थ का बकवाद करते हैं, और कुतर्क-जाल में फँसकर मोहग्रस्त होते हैं। ऐसे कुतर्क मलिनबुद्धि ही उद्भावित कर सकते हैं क्योंकि आपका ऐश्वर्य ही वाङ्मनसातीत है और कुतर्क अनवसरपराहत है अर्थात् इस कुतर्क के लिए कुछ भी अवकाश नहीं है क्योंकि यह सुतर्क जागरूक है।)

(हे अमरवर देवदेव महादेव ! ये पृथिवी आदि लोक या दृश्यमान पदार्थ सावयव होने पर भी क्या जन्मरहित हो सकते हैं ? कदापि नहीं। क्या जगत् के जन्मादिक कार्य भू आदि चतुर्दश भुवनों के कर्ता के बिना हो सकते हैं ? या सामर्थ्यहीन कोई जीव ही इस जगत् का कर्ता हो सकता है ? यदि हाँ तो भू आदि भुवनों के उत्पादन में सामर्थ्यहीन उस जीव रूप कर्ता के पास इसे उत्पन्न करने के लिए कौन-सी साधन-सामग्री है ? उत्तर होगा—कुछ भी नहीं। तो फिर वे लोग इस प्रकार का अनर्गल प्रलाप आखिर करते ही क्यों हैं ? इसलिए कि वे मन्दभाग्य और मन्दबुद्धि हैं, अतएव आपके विषय में संशयात्मा ही बने रहते हैं।)

किसी कार्य के निर्माण के लिए ईहा (चेष्टा) हलचल चाहिए। कीदृशी ईहा (कैसी चेष्टा) से भगवान् परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं ? **'किं कायः'** बिना शरीर के कोई काम बनता है ? बिना शरीर के कोई काम नहीं बनता। इसलिए कुम्भकार शरीर के द्वारा घट निर्माण करता है। बढ़ई शरीर के द्वारा मेज निर्माण करता है। वैज्ञानिक शरीर के द्वारा यन्त्रों का निर्माण करता है। ईश्वर के तो शरीर ही नहीं, कैसे प्रपञ्च का निर्माण करेगा ? भला कौन-सा उपाय उसके पास है ? वह किन-किन उपायों से जगत् का निर्माण करता है ? किमाधारः ? अन्त में कुम्भकार (कुम्हार) धरती पर बैठकर घट का निर्माण करता है, बढ़ई धरती पर बैठकर मेज का निर्माण करता है।

परमात्मा कहाँ बैठकर जगत् को बनाता है ? कहो, पृथिवी पर ! नहीं। यह पृथिवी तो बनाने के बाद आई। फिर कहाँ बैठा परमात्मा ? फिर जगत् रूप कार्य के लिए उपादान चाहिए। अरे भाई ! बढ़ई तो लकड़ी से मेज बनाता है, लकड़ी

तो नहीं बनाता है। स्वर्णकार सोना से कटक, मुकुट, कुण्डल बनाता है, सोना तो नहीं बनाता। इसी तरह जगत् रूप कार्य किस उपादान से बना? उपादान कहाँ से आया? उपादान तो परमात्मा से भिन्न है ही नहीं? कहते हैं **'अवयववन्तोऽपि पदार्थाः किं अजन्मानो भवन्ति'**; सारा संसार अवयववान् होने पर भी क्या जन्म रहित है? एतावता कहना होगा कि कार्यत्व का प्रयोजक सावयवत्व है। जो सावयव है वही कार्य है। जो सावयव नहीं वह कार्य भी नहीं। जगत् तो सावयव ही है। पृथिवी, जल, तेज ये सब सावयव हैं। अवयववान् पदार्थ भी क्या अजन्मा होते हैं? अवयववान् है सम्पूर्ण जगत्, अजन्मा नहीं हो सकता। **'अधिष्ठातारं किं अनादृत्य उपेक्ष्य भवविधिः भवोत्पत्तिर्भवति'** क्या अधिष्ठान के विना कहीं भव की उत्पत्ति हो सकती है? ऐसी परिस्थिति में वस्तुस्थिति पर विचार करना ही चाहिए।

(१७) ईश्वर-सिद्धि :—

मन्द लोग संशय करते हैं कि ईश्वर है कि नहीं? उदयनाचार्य ने बड़ी सुन्दर-सुन्दर युक्तियों के द्वारा अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सिद्धि की है। गंगेश उपाध्याय आदिकों ने तर्कों के द्वारा व्याप्ति बनायी। व्याप्ति के दूषणों पर विचार किया। हेत्वाभासों का विचार किया। हेतुओं का साङ्गोपाङ्ग विचार करके अनुमान की सारी सामग्री सुसज्जित की। फिर उसके द्वारा अनुमान किया, अनुमान के द्वारा अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परमात्मा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को सिद्ध किया।

(१८) नास्तिकों के भी उद्धार का उपक्रम :—

फिर भी उदयनाचार्य कहते हैं—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते,
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुत विप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः,
काले कारुणिक! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥

(न्यायकुसुमाञ्जलिः ५।१८)

'हे प्रभो! हमने यद्यपि श्रुति-युक्ति रूपी निर्मल जल से नास्तिकों के दुस्तर्क-पङ्कमलिन मानस को धोने का प्रयास किया। दुस्तर्ककलङ्कपङ्क से मलिन जिनका मन है, उन नास्तिकों की बुद्धि को स्वच्छ करने का प्रयास किया। न्यायकुसुमाञ्जलि के तर्कों एवं न्यायकुमाञ्जलि-समुद्धृत श्रुतियों के बल पर उस अनन्तब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर परमात्मा को सिद्ध करने का प्रयास किया। फिर भी जिनके हृदय में अब भी आप पर विश्वास नहीं होता तो उनका हृदय तो वज्र का टुकड़ा है। हम क्या

करें ? हमारा जहाँ तक प्रयत्न हुआ, हमने कर लिया। अब जो हमसे न बना हो, वह आप करो। सर्वेश्वर प्रभो! आप करो। क्योंकि आप अकारणकरुण हो, करुणावरुणालय हो। ये जीव नास्तिक अपार संसार-समुद्र में पड़े रहें, अच्छा नहीं। आप इनका भी उद्धार करो।

भगवान् बोले—"भाई जब तक हमसे नाता न जोड़ें तबतक इनका उद्धार कैसे करूं ?"

उदयनाचार्य बोले—"आपने कंस का भी तो कल्याण किया ? रावण, कुम्भकर्ण का भी तो कल्याण किया ? हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु का भी कल्याण किया ? भक्त का ही कल्याण करते हो, ऐसी बात तो नहीं ?"

भक्तिरसामृतसिन्धुकार की भक्ति का लक्षण है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

(भक्तिरसामृत सिन्धु १।११)

परन्तु मधुसूदन सरस्वती की भक्ति का यह लक्षण नहीं है। वे कहते हैं आनुकूल्येन हो अथवा प्रातिकूल्येन, किसी प्रकार से कृष्णानुस्मरण करो वह भी भक्ति है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशेमनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(भक्तिरसायन १।३)

(भगवद्धधर्म अर्थात् भगवद्गुण-श्रवणादि से द्रवीभूत हुए चित्त की सर्वेश्वर भगवान् के विषय में धारावाहिक हुई—तैलधारावत् अविच्छन्न रूप से भगवदाकार हुई, वृत्ति ही भक्ति कही जाती है ॥)

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा ।
सा भक्तिरित्यभिहिता विशेषस्त्वधुनोच्यते ॥

(भक्तिरसायन २।१)

(तैल धारावत् अविच्छिन्न रूप से द्रवित हुए चित्त में स्थिर रूप से प्रविष्ट हुई जो भगवदाकारता है, वही भक्ति है।)

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
(भागवत ३।२९।११-१२)

(जैसे गंगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, वैसे ही मेरे गुणों के सुनने मात्र से ही मन की गति का तैलधारा की तरह अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम एवं अनन्य प्रेम होना यह निर्गुण भक्तियोग का लक्षण कहा गया है ।)

देवर्षि नारद के शब्दों में—

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः ॥

कीटः पेशस्कृता रुद्धः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्स्वरूपताम् ॥

एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया ॥

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धात् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ॥

कतमोऽपि न वेनः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति ।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥
(श्रीमद्भागवत् ७।१।२६-३१)

(युधिष्ठिर ! मेरा तो ऐसा दृढ़ निश्चय है कि मनुष्य वैर-भाव से भगवान् में जितना तन्मय हो जाता है, उतना भक्तियोग से नहीं होता । भृंगी कीट को लाकर भीतर अपने छिद्र में बन्द कर देता है और वह भय तथा उद्वेग से भृङ्गी का चिन्तन करते-करते उसके जैसा ही हो जाता है । यही बात भगवान् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में भी है । लीला द्वारा मनुष्य जैसे ज्ञात होते हुए भी ये सर्वशक्तिमान् भगवान् ही तो हैं । इनसे वैर करने वाले भी इनका चिन्तन करते-करते पापमुक्त होकर इन्हीं को प्राप्त हो गये । एक ही नहीं अनेक जीव, काम से, द्वेष से, भय से तथा स्नेह से अपने मन को भगवान् में लगाकर सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर प्रभु को प्राप्त हुए हैं । जैसे भगवद्भक्त भक्ति से प्राप्त हुए हैं । महाराज ! गोपियों ने भगवान् को पाने के लिए अपने मन को तीव्र काम-प्रेम से, कंस ने भय से, शिशुपाल, दन्तवक्त्रादि राजाओं ने द्वेष से, यादवों ने पारिवारिक सम्बन्ध से पाण्डवों ने स्नेह से और हम लोगों

ने भक्ति से भगवान् में मन लगाया है। इन पाँच प्रकार से भगवान् का चिन्तन करने वालों में राजा वेन की गणना तो किन्हीं में भी नहीं होती, उसने तो किसी भी प्रकार से भगवान् में मन नहीं लगाया था। चाहे जैसे भी हो किसी भी तरह से अपना मन भगवान् श्रीकृष्ण में तन्मय कर देना चाहिए।)

कंस को भय था—

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्॥

(भागवत् १०।२।२४)

(श्री हरि के प्रति वैर ठान कर—वैर की गाँठ बाँधकर कंस उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और चलते-फिरते सदा ही श्रीकृष्ण के चिन्तन में लगा रहता था। जहाँ उसकी आँख पड़ती, जहाँ कुछ आहट होती, वहाँ उसे श्रीकृष्ण ही दीख पड़ते। इस प्रकार उसे सारा जगत् ही श्रीकृष्णमय दीखने लगा।)

स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं
पिबन्वदन्वा विचरन् स्वपञ्छ्वसन्।
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यत-
स्तदेवरूपं दुरवापमाप॥

(भागवत १०।४४।३९)

(कंस नित्य-निरन्तर बड़ी घबराहट के साथ श्रीकृष्ण का ही चिन्तन करता रहता था। वह खाते-पीते, सोते-चलते, बोलते और साँस लेते—हर समय सामने चक्रपाणि भगवान् श्रीकृष्ण को ही देखता रहता था। इस अनन्य चिन्तन के कारण जिसके मूल में द्वेष और भय ही था, उसे भगवत्सारूप्य की प्राप्ति हुई।)

हाँ तो उदयनाचार्य ने कहा—"भगवन्! कंस सोता हुआ, उठता हुआ, बैठता हुआ, चलता हुआ, 'यह कृष्ण आया', 'यह कृष्ण आया', 'यह कृष्ण आया', इस तरह 'कृष्ण-कृष्ण' रटता हुआ, कृष्ण का ही चिन्तन करता हुआ, कृष्णाकार मन के प्रभाव से मुक्त हो गया। यही दशा शिशुपाल दन्तवक्त्रादि की हुई। ये जितने भगवान् के विरोधी थे, ये सब क्रोध से, भय से किसी-न-किसी ढंग से भगवान् का चिन्तन करके मुक्त हो गये। तो महाराज आप सबका कल्याण करते हैं! इन नास्तिकों का भी कल्याण अवश्य ही करें!"

भगवान् ने कहा—"भाई! कंस को यह नहीं विश्वास था कि ईश्वर नहीं, शिशुपाल को भी यह नहीं विश्वास था कि ईश्वर नहीं। ये सब मानते थे कि ईश्वर है, परन्तु दुष्ट है। 'ईश्वर नहीं है' ऐसा नहीं। 'ईश्वर है, वह दुष्ट है। मारेंगे उसको', पर वेन तो कहता था 'ईश्वर ही नहीं है'। ईश्वर है ही नहीं। तो भाई!

'ईश्वर है, हमारा शत्रु है, बहुत खराब है', ऐसा कहने वाले का उद्धार तो हो सकता है। पर जो यह मानता है कि ईश्वर है ही नहीं, उसका मामला तो बहुत कठिन है। उसका उद्धार करना कठिन है। शिशुपाल नास्तिक नहीं था, कंस नास्तिक नहीं था। आस्तिक था। ये भगवान् को अपना दुश्मन मानते थे। रावण भी भगवान् को अपना दुश्मन मानता था। पर विचार कर लिया था—

होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम वचन मंत्र दृढ़ एहा॥
(रामचरितमानस ३।२२।५)

'तामस देह से भजन नहीं बनेगा' उसने जानबूझकर ठानकर बैर किया। लेकिन नास्तिक तो कहता है—"ईश्वर है ही नहीं', बताओ नास्तिकों का कल्याण कैसे करें ?"

उदयनाचार्य भगवान् के बड़े भक्त थे। भगवान् का दर्शन करने गये जगन्नाथपुरी। पैदल चलते-चलते ब्राह्मण थक गये। जैसे मन्दिर के दरवाजे पहुँचे फाटक बन्द। बहुत दुःखी हुए। बोले—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे।
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तवस्थितिः॥

भगवान्! ऐश्वर्य के मद से आप मत्त हो गये हो ? मैं ब्राह्मण बूढ़ा, कितनी दूर से चलता आया, मेरे आते ही फाटक बन्द ? मेरा अपमान है यह। याद रखो, बौद्ध आपका खण्डन करने लगेंगे तो उदयनाचार्य ही आपको अकाट्य युक्तियों के द्वारा सिद्ध करेगा और कोई माई का लाल नहीं सिद्ध करेगा।)

भगवान् हँस पड़े। फाटक खुल गया। कहा—'आओ उदयनाचार्य।' भगवान् भक्तवत्सल हैं। कृपालु हैं।

ऐसे उदयनाचार्य भगवान् से बोले **'काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः।'** इन नास्तिकों का भी आप उद्धार करना। क्योंकि आप अकारण करुण हो। करुणावरुणालय हो। आप जैसा करुणावरुणालय अकारणकरुण कोई है ही नहीं। इसलिए आप ठुकराओ नहीं।

श्री भगवान् बोले—"उदयनाचार्य! करें क्या ? कोई निमित्त होना चाहिए।"

उदयनाचार्य बोले—"निमित्त तो है। वे आपका चिन्तन करते हैं। शास्त्रार्थ हुआ आस्तिकता व नास्तिकता का। शास्त्रार्थ होते-होते रात्रि के आठ बज गये, दस बज गये, एक बज गया। जनता ने कहा—बस महाराज! अब शास्त्रार्थ बन्द करो। कल शास्त्रार्थ होगा। जनता की बात माननी पड़ती है। शास्त्रार्थ बन्द हुआ। चले तो गये आस्तिक भी अपने घर, नास्तिक भी। पर नींद दोनों में से किसी

को भी नहीं। आस्तिक रात, रात भर सोचता रहा—ऐसी युक्ति कोई बढ़ियाँ मिले कि ईश्वर को सिद्ध कर दूँ। नास्तिक जगता रहा, सोचता रहा—कोई ऐसी युक्ति मिले कि ईश्वर की धज्जियाँ उड़ा दूँ। इस तरह हे नाथ ! जब नास्तिक भी आपका चिन्तन करता है तो मैंने ठीक ही कहा—ईश्वरसिद्धि के विपरीत ढंग से नास्तिक भी आपका उच्च चिन्तन करता है। इसलिए हे कारुणिक ! उनका भी उद्धार आप ही करो।"

'किन्तु प्रस्तुत विप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः।
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः।'

इस तरह से हमारे आस्तिक सज्जन किसी के विरोधी नहीं होते। वे प्राणिमात्र का कल्याण, नास्तिक का भी कल्याण चाहते हैं। क्योंकि जानते हैं—**'अमृतस्य पुत्राः'** (ऋ० सं० १०।१६।१) अमृत जो अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मा उसके सब पुत्र हैं। आस्तिक हो चाहे नास्तिक सभी उसी अजर, अमर, अखण्ड, अनन्त परमात्मा के पुत्र हैं। केवल नाटक है यह सब।

(१९) सर्वात्मभाव :—

भूमि परत भा डाभर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी।
(रामचरितमानस ४।१३।६)

ऊपर से पानी बरसा बड़ा पवित्र, निर्मल, निष्कलङ्क पर, भूमि पर पड़ते ही मलिन हो गया। गंगा का जल भी कभी गड़बड़ गंदा हो जाता है, श्रावण भादों के महीने में। यमुना का जल भी श्रावण-भादों में गन्दा हो जाता है। हम उसे घर में लाते हैं। निर्मली बूटी डालते हैं। जरा-सा फिटकरी घुमा देते हैं। वह जल फिर से निर्मल हो जाता है। इस तरह **हम मानते हैं कि अभी का जो डाकू वाल्मीकि है, कालान्तर में महर्षि वाल्मीकि हो सकता है। आजकल जो शोषक है, वही कल पोषक हो सकता है। आज का जो भक्षक है, वही कल रक्षक हो सकता है। इसलिए गोस्वामी जी हिम्मत के साथ कहते हैं—**

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउ सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥
(रामचरितमानस १।७।ग)

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ वासी।
सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
(रामचरितमानस १।८।१-२)

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना।
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥
(रामचरितमानस १।२।४-६)

उमा जे रामचरन रत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।।
(रामचरितमानस ७।११२ ख)

सारा प्रपञ्च परमात्मा का स्वरूप है। जीव भी परमात्मा का स्वरूप है। उसी का अंश है। नाक में फुंसी हुई तो नाक काटना बुद्धिमानी नहीं। नाक बनी रहे, नाक की फुंसी दूर हो जाय। सिर में दर्द हुआ डाक्टर ने कहा—'सिर कटा दो, आपका सर-दर्द दूर हो जायगा।' सिर कटाकर सिर दर्द दूर करना बुद्धिमानी नहीं। सिर बना रहे, सिर का दर्द दूर हो जाय। **वस्तु स्थिति यह है कि प्राणिमात्र परमेश्वर की पवित्र सन्तान है, वह बनी रहे और उसकी दुष्टता दूर हो।** इसलिए भक्तराज प्रह्लाद कहते हैं—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी।।
(भागवत ५।१८।९)

(नाथ, विश्व का कल्याण हो! दुष्टों की बुद्धि शुद्ध हो। सब प्राणियों में परस्पर सद्भावना हो। सभी एक दूसरे का हित चिन्तन करें, हमारा मन शुभमार्ग में प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्काम भाव से भगवान् श्री हरि में प्रवेश करे।)

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यः मुक्तस्त्वन्यान् विमोचयेत्।।

(हे नाथ! दुर्जन प्राणी सज्जन बन जाँय। दुर्जन की दुर्जनता मिट जाय। सज्जन प्राणी शान्ति लाभ करें। शान्त प्राणी बन्धनों से मुक्त हो जाँय। विमुक्त प्राणी दूसरों की मुक्ति के काम में लग जाँय।)

पहले भगवान् ने कहा—'प्रह्लाद वरदान माँगो।' प्रह्लाद ने कहा—'क्या माँगे, हमारा आपका कोई सौदा है? सोदागरी की बात थोड़े ही है, हम माँगे तो क्या माँगे?

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव।।
(भागवत ७।१०।६)

(नाथ ! मैं आपका निष्काम सेवक हूँ। आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं, जैसे राजा और उसके सेवकों में प्रयोजन वश स्वामी-सेवक सम्बन्ध होता है, वैसा तो मेरा और आपका है नहीं।)

फिर भी—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(भागवत ७।१०।७)

(मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी ! यदि आप मुँह माँगा वर देना ही चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित ही न हो।)

इस तरह भक्तराज ने वरदान माँगा—'हृदय में कामनाओं का अंकुर ही पैदा न हो। लेकिन फिर भी देखा भगवान् कुछ देना ही चाहते हैं, तो कुछ माँग ही लूं। जो वरदान उन्होंने माँगा, उसे वे प्रतिदिन नहा धोकर, पवित्र होकर, सन्ध्या करके, सूर्यार्घ्य देकर, सूर्योपस्थान करके, भगवान् की पूजा करके, भगवान् को भोग लगा करके, फिर प्रभु से माँगते हैं—**स्वस्त्यस्तु विश्वस्य**······

प्रभो ! विश्व का स्वस्ति हो विश्व का कल्याण हो।

जब प्रह्लाद ने ऐसा वर माँगा, तो भगवान् ने कहा—"प्रह्लाद, यह क्या करते हो ? विश्व में तो जहरीले बिच्छू भी हैं, जहरीले सर्प हैं, सबका अभ्युदय हो जायगा तो दुनियाँ का रहना मुश्किल हो जायगा।"

भक्तराज ने कहा—"नहीं, नहीं ! हम जो कहते हैं ठीक ही है, ठीक ही बोल रहे हैं, **स्वस्त्यस्तु**····"

भगवान् बोले—"फिर दुर्जनों का क्या होगा ?"

भक्तराज ने कहा—"**दुर्जनः सज्जनो भूयात्**···" भगवन् ! आप कृपा करो। दुर्जन प्राणी सज्जन बन जाँय। दुर्जन की दुर्जनता मिट जाय। दुर्जन सज्जन बन जाँय। आप कर सकते हैं। 'छूछी भरें, भरी ढरकावें, जब चाहे तब फेर भरावें' आप मच्छर को ब्रह्मा बना सकते हैं। तो क्या दुर्जन को सज्जन नहीं बना सकते ? दुर्जन को सज्जन बना सकते हैं। '**दुर्जनः सज्जनो भूयात्**·······' दुर्जन सज्जन हों। सज्जन शान्ति लाभ करें। शान्त बन्धनों से मुक्त हो जाँय। विमुक्त प्राणी दूसरों की मुक्ति के काम में लग जाँय।"

यह हमारा आदर्श है। पडोसी का सगुन बिगाड़ने के लिए अपनी नाक कटाना यह हमारा सिद्धान्त नहीं है। अनिष्ट चिन्तन न करें ? हम सबका मन

भद्रदर्शी हो, हमारी प्रज्ञा अखण्ड अनन्त ब्रह्माण्ड नायक भगवान् सर्वेश्वर के मंगलमय पादारविन्द में सन्निविष्ट हो। ये सब भक्तराज प्रह्लाद माँगते हैं।

(२०) भगवान् जगत के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण :—

तो कहने का मतलब हुआ कि '**जन्माद्यस्य यतः**' के अनुसार भगवान् परमात्मा से अनन्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, भूधर, सागर गगनादि की उत्पत्ति हुई। घट के निमित्त (कुलाल) और उपादान (मिट्टी) सबको बनाने वाले भगवान् ही। कटक, मुकुट, कुण्डल, बनाने वाले और सोने को भी बनाने वाले वही। मशीन बनाने वाले और मशीन का मूल लोहा बनाने वाले भी वही। सारे प्रपञ्च का निर्माण करने वाला सर्वशक्तिमान् परमात्मा[१३] ही है।

(जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है, वह आत्मा ही है। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त कारण तो है ही, उपादान-कारण भी है। अर्थात् वही विश्व बनता भी है और वही बनाता भी है, वही रक्षक भी है और रक्षित भी है। सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।)

भगवान् में अचिन्त्य शक्ति है। ऋषियों से भी अनन्त गुणित दिव्यशक्ति। कल्पवृक्ष से भी अनन्तानन्तगुणित शक्ति, चिन्तामणि से भी अनन्तानन्तगुणित बहुत शक्ति, कामधेनु से भी अनन्त-अनन्त गुणित निर्माणशक्ति। सर्वेश्वर भगवान् ने विश्व प्रपञ्च का निर्माण किया।

---

१३. आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभु।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
(भागवत ११।२८।६)

द्वितीय-पुष्प

(१) 'जन्माद्यस्य यतः' :—

संसार की जिससे उत्पत्ति होती है, चराचर प्रपञ्च जिससे उत्पन्न होता है, वह परमात्मा है, भगवान् है। कुछ लोग कहते हैं—**'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् 'घटवत्**[१४]' इस अनुमान में शरीरजन्यत्व उपाधि है। जहाँ-जहाँ सकर्तृकत्व है, वहाँ-वहाँ शरीरजन्यत्व है। घटादि, यन्त्रादि जो पदार्थ भी कार्य हैं, सकर्तृक हैं। उनका कोई कर्ता है। वे सब शरीरजन्य हैं। लेकिन अङ्कुरादि शरीरजन्य हैं नहीं। 'उपाधि' कहते हैं—**'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वं उपाधित्वम्**[१५]' जो साध्य का व्यापक हो तथा साधन (हेतु) का अव्यापक हो, वह उपाधि है। साध्य है सकर्तृकत्व। जहाँ-जहाँ सकर्तृकत्व है, वहाँ-वहाँ शरीरजन्यत्व है। मेज देख लो, मिट्टी का घड़ा देख लो, लोहे की मशीन देख लो, जितने भी सकर्तृक कार्य हैं, सब शरीरजन्य हैं। अङ्कुर शरीरजन्य है नहीं, इसलिए 'शरीरजन्यत्वात् उपाध्यभावात्' साध्याभावानुमान होता है। उपाधि के अभाव में साध्याभाव का अनुमान किया जाता है। **'शरीराजन्यत्वात् क्षित्यङ्कुरादिकं**[१६]

१४. 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् धटवत्'। क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात्। अङ्कुरः (द्वयणुकम्), तद्धटः (सर्गाद्यकालीन घटो मेघो वा) सकर्तृकः कार्यत्वात् (क्षित्यङ्कुरादिकं पक्षः, क्षितिः—स्थूला पृथिवी, अङ्कुरः द्वयणुकम्, आदिना—तद्धटो मेघो वा ग्राह्यः। अत्र क्षितित्वमङ्कुरत्वं तदघटत्वमेघत्वादि चेति न पक्षतावच्छेदकम्, किन्तु तत्त्रयसाधारणं स्वरूपसम्बन्धात्मकं कार्यत्वं पक्षतावच्छेदकम् तदवच्छिन्नः पक्षः। क्षित्यङ्कुरादिकं प्रागभावप्रतियोगित्वात्मकं कार्यत्वं हेतुः। साध्य सकर्तृकत्वम् कर्तृजन्यत्वम्। कर्तृत्वं च उपादान (समवायिकारण) गोचराऽपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान-चिकीर्षा (क्षित्यङ्कुरादिकं मत्कृत्या साध्यतामितीच्छा) कृति-(प्रयत्न) मत्त्वरूपम्। घट इति दृष्टान्तः। यथा घटे उपादानं (समवायिकारणं) कपालद्वयम्, तद्गोचराऽपरोक्षं तद्विषयकं प्रत्यक्षं यत् ज्ञानचिकीर्षाकृत्येतत्त्रयं तद्वान् कुलाल एव, स च कर्ता भवति, तथा क्षित्यङ्कुरादीनामुपादानकारणं परमाण्वादयः, तद्गोचराऽपरोक्ष-ज्ञान-चिकीर्षा कृतिमानीश्वर एव भवितुमर्हतीति सिद्ध इत्याशयः। (किरणावली)

१५. यः साध्यस्य व्यापकः तथा हेतोः अव्यापकः स उपाधिः। अथवा साध्यव्यापकत्वे सति पक्षाऽवृत्तित्वम् उपाधिलक्षणम्। (न्यायसिद्धान्त मुक्तावली १।३९)

१६. यत्र-यत्र सकर्तृकत्वं तत्र-तत्र शरीरजन्यत्वमिति। शरीरजन्यत्वस्य साध्यव्यापकत्वेन कार्यत्वाधिकरणे भूधरसागराङ्कुरादौ तदभावेन साधनाव्यापकत्वाच्च कार्यत्व-हेतोरस्तु सोपाधिकत्वमिति।

अकर्तृकम् ।' शरीराजन्य होने के कारण क्षित्यङ्कुरादिक अकर्तृक हैं। उनका कोई कर्ता नहीं है। ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

इस पर कहते हैं—भाई ! शरीराजन्यत्व में जो शरीर विशेषण है, वह व्यर्थ है। 'अजन्यत्व' इतना ही इष्ट है। अकर्तृकत्व की सिद्धि अजन्यत्वमात्र से होती है। **'अजन्यत्वात् अकर्तृकत्वम्'** शरीर क्यों विशेषण लगाया ? शरीर विशेषण व्यर्थ है। भले स्वरूपासिद्धि का वारक है। अनुमान में स्वरूपासिद्धि[१७] हो सकती थी। उसे वारण करने के लिए तुमने शरीर विशेषण लगाया। लेकिन वह निरर्थक है। क्योंकि किसी इतर का व्यावर्तक नहीं है। विशेषण[१८] व्यावर्तक होता है, वह किसी का व्यावर्तक है नहीं। इसलिए निरर्थक है। अजन्यत्व से ही अकर्तृकत्व सिद्ध हो सकता है। इसलिए शरीराजन्यत्व में शरीर विशेषण व्यर्थ है। अतः यह अनुमान तुम्हारा गलत है तथा पुराना अनुमान—**'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्'**[१९] यह बहाल है। इसमें कोई बाधा नहीं है। इसी तरह **'भूत भौतिकानि सोपादानगोचरापरोक्ष-ज्ञानवत् जन्यानि कार्यत्वे सति विलक्षणत्वात् शय्याप्रासादादिवत्'** इत्यादि अनुमान भी हैं। भूत भौतिकादि जितना भी प्रपञ्च है, वह सोपादानगोचर अपरोक्ष ज्ञानवान् से जन्य है। जैसे मिट्टी का घड़ा जो है, वह किससे उत्पन्न होता है ? कुम्भकार से। जो घड़े का उपादान जानता है, घड़े का निमित्त जानता है, घड़े का प्रयोजन जानता है, उसी से घट जन्य होता है। इसी तरह से जितना अनन्त कोटि

यत्र-यत्र सकर्तृकत्वं तत्र-तत्र शरीराजन्यत्वम् (साध्यव्यापक); यत्र-कार्यत्वं तत्र शरीराजन्यत्वं, ऐसा है नहीं अतः साधना अव्यापक अङ्कुरः अकर्तृकः शरीराजन्यत्वात् आकाशादिवत् (पृ० ५०)।

१७. स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभितस्याभावः। तत्र च ह्रदो द्रव्यं धूमादित्यादौ पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावे ज्ञाते पक्षे साध्यव्याप्यहेतुमत्ताज्ञानरूपस्य परामर्शस्य प्रतिबन्धः फलम्। (न्यायसिद्धान्त मुक्तावली)

स्वरूपासिद्धिर्नाम पक्षे हेत्वभावः। तथा च हेत्वभावविशिष्टपक्षज्ञानात पक्षविशेष्यक हेतुप्रकारकपरामर्शानुपपत्त्या परामर्शप्रतिबन्धः फलम्। (न्यायबोधिनी)

१८. कार्यान्वयित्वे सति कार्यकाले नियमेन वर्तमानत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणम्।

१९. 'क्षित्यङ्कुरादिकं, अकर्तृकं शरीराऽजन्यत्वात्' इति नास्तिकानुमाने 'शरीराऽजन्यत्वमस्तु अकर्तृकत्वं मास्तु' इति व्यभिचारशङ्कायां तादृशशंकानिवर्तकः कश्चित्तर्को न सम्भवति, शरीराजन्यत्वकर्त्रजन्यत्वयोरत्यन्ताभावरूपत्वेन नित्ययोस्तयोर्व्याप्तिग्राहक कार्य-कारणभावस्याऽसम्भवात्। तथा च 'शरीराजन्यत्वम् अकर्तृकत्वव्यभिचारीति' व्यभिचारशङ्कासत्त्वे 'शरीराऽजन्यत्वस्य' हेतो निर्बलत्वात् 'कार्यत्व' हेतोरनुकूलतर्कबलेन सबलत्वात् 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकमित्यत्यनुमितेर्निराबाधादिति भावः।'

ब्रह्माण्डात्मक विश्वप्रपञ्च है, उसका जो उपादान है, उसका जो प्रयोजन है, उसको जो जानने वाला है, वही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा जगत् का कारण है।

उक्त न्याय से पूर्वमीमांसकों का पक्ष भी खंडित हो जाता है। वे कहते हैं— "सज्ञान जीव है, सर्वज्ञान नहीं। सज्ञान जीव के अदृष्ट से जन्य है जगत्। जीव ने शुभाशुभ कर्म किया, उसी से संसार बना। इसलिए किञ्चिज्ज्ञकर्तृक है, अर्थात् अल्पज्ञ-कर्तृक है संसार। सर्वज्ञकर्तृक कहोगे तो इसमें कोई दृष्टान्त नहीं। **क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्।**' घट निर्माता तो अल्पज्ञ ही है, सर्वज्ञ कोई है ही नहीं। कोई कर्ता सर्वज्ञ तुमने देखा ही नहीं, इसलिए दृष्टान्त ही असिद्ध है।" इत्यादि सभी अनुमान दूषित होते हैं। क्योंकि दीपक सिद्ध होता है तो उसके साथ-साथ प्रभा भी सुतरां सिद्ध होती ही है। जब जगत् सिद्ध होता है तो सुतरां उसके अनुकूल कर्ता भी सिद्ध होता ही है। जगत् के अनुकूल कर्ता कौन हो सकता है जो सर्वज्ञ हो। जो सर्वज्ञ नहीं, वह जगत् का निर्माता कैसा? जो अनन्त ब्रह्माण्ड न जाने, एक-एक ब्रह्माण्ड के अनन्त-अनन्त जीवों को न जाने एक एक जीव के अनन्त-अनन्त जन्मों को न जाने, एक-एक जन्म के अनन्त-अनन्त कर्मों को न जाने, उन कर्मों के विभिन्न फलों को न जाने, वह जगत् का निर्माण कैसे कर सकता है? इसलिए जगत्कर्तृत्व होने से ही वह सर्वज्ञ सिद्ध होता है। वह सर्वज्ञ ही है। **'शास्त्रयोनित्वात्'** (ब्रह्मसूत्र १।१।३) आदि सूत्र भी इसी तथ्य को सिद्ध करते हैं।

(२) 'अन्वयात्', 'इतरतः', 'च'[२०]

परमात्मा जगत्-कारण है, इसमें क्या कारण? उत्तर है 'अन्वयात्'। अन्वय से। कार्य में कारण की अनुगति ही अन्वय है। जैसे मिट्टी के कार्य घटादि में मिट्टी का अन्वय है। **'मृद्घटः', 'मृत्-शरावः', 'मृद्-उदञ्चनः', 'सन् पटः', 'स्फुरति घटः**

---

२०. तटस्थ लक्षणमाह—जन्मादीति। अस्य विश्वस्य जन्मस्थितिभंगा यतो भवन्ति तं धीमहीति। तत्रहेतुः—अन्वयादितरतश्च। अर्थेषु-आकाशादि कार्येषु परमेश्वरस्य सद्रूपेणान्वयादकार्येभ्यश्च खपुष्पादिभ्यस्तद व्यतिरेकात्। यद्वा अन्वय शब्देनानुवृत्ति-रितर शब्देन व्यावृत्तिः। अनुवृत्तत्वात् सद्रूपं ब्रह्म कारणं मृत्सुवर्णादिवत्। व्यावृत्त-त्वाद्विश्वं कार्यं घटकुण्डलादिवदित्यर्थः। यद्वा, सावयवत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां यदस्य जन्मादि तद्यतो भवतीति सम्बन्धः। तथा च श्रुतिः—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्याद्या। स्मृतिश्च 'यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये, इत्याद्या। तर्हि किं प्रधानं जगत्कारणत्वाद् ध्येयमभिप्रेतम नेत्याह। अभिज्ञो यस्तम्। 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐ. उ. १।१।१२) इति श्रुतेः। ईक्षतेर्नाशब्दमिति न्यायाच्च ॥ (श्रीधरी) (ब्र. सू. १।१।५)

स्फुरति पटः', इष्टो घटः, इष्टः पटः' इस तरह सत्ता रूप से, बोधरूप से और प्रेमास्पद आनन्द रूप से परमात्मा सबमें अनुगत है। **'अन्वयात्'** परमात्मा ही जगत् का कारण है। परमाणु जगत् का कारण नहीं। क्योंकि परमाणु का अन्वय नहीं। परमाणु जगत् में अननुगत है इसलिए वह जगत् का कारण नहीं।

'अर्थेषु अन्वयात्' कार्यों में अन्वित होने के कारण परमात्मा ही विश्व का कारण है। **'परमाण्वादीनां अननुवृत्तेः'** परमाणु आदि अनुवृत्त हैं; अतः जगत् कारण नहीं हो सकते। अनुवृत्त होने के कारण सद्रूप ब्रह्म कारण है मृत्सुवर्णादिवत्। व्यावृत्त होने के कारण विश्व घट कुण्डलादि के समान कार्य है।

कुछ लोग काल को ही जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण मानते हैं। उनके मत का निराकरण करने के लिए **'अन्वयादितरतः'** है। इसका अर्थ है अन्वय और व्यतिरेक की दृष्टि से। उदाहरणार्थ घट में मृत्तिका का अन्वय है; मृत्तिका में घट का व्यतिरेक है। मृत्तिका घट का उपादान है। उपादान में उपादेय का व्यतिरेक और उपादेय में उपादान का अन्वय होता है। ठीक इसी दृष्टि से आकाशादि सभी पदार्थों में सत् की अनुवृत्ति है और सद्वस्तु में आकाशादि की व्यावृत्ति है। निष्कर्ष यह है कि आकाशादि निखिल प्रपञ्च का उपादान कारण सद्-वस्तु ही है। अन्वय का अर्थ है अनुवृत्ति और व्यतिरेक का अर्थ है व्यावृत्ति। 'च' के प्रयोग से निमित्त कारण भी वही है, ऐसा ध्वनित होता है। काल तो उसी पर-मेश्वर का प्रभाव है, अतः वह पृथक् रूप में किसी का कारण नहीं है।

इस प्रसंग को इस प्रकार भी व्याख्या की जाती है—प्रलय काल में विश्व-प्रपञ्च का परमेश्वर में अनुप्रवेश ही अन्वय है। सृष्टिकाल में परमेश्वर से व्यतिरेक-विभक्त होकर प्रकट होना, ही **'इतरतः'** है। व्यतिरेक अर्थात् विभाग। 'पृथिवी का जल में, जल का तेज में' यह अन्वय क्रम है। 'तेज से जल, जल से पृथिवी' यह विभाग क्रम है।

इस प्रकार जो जगत् का अधिष्ठान कारण है, उसका ध्यान करते हैं। इसकी ऐसी व्याख्या भी है—जिस परमेश्वर के द्वारा कारण रूप में अनुप्रवेश होने से विश्वसृष्टि, जिसके द्वारा फलदाता के रूप में अनुप्रवेश होने से स्थिति और जिसके द्वारा संहारक के रूप में अनुप्रवेश होने से प्रलय होता है, उसका हम ध्यान करते हैं।

कारण का कार्यसमन्वित होना ही कार्यानुप्रवेश है। **'इतरतः'** वह परमेश्वर स्रष्टव्य, परिपाल्य एवं संहार्य विश्व से स्वरूपतः भिन्न होने पर भी मायाशक्ति से उससे अभिन्न-सा हो गया है। 'च' कार से मायाकृत भेद की सूचना मिलती है।

प्रकृति (प्रधान) तो अनुगत है जगत् में। प्रकृति सुख-दुःख-मोहात्मिका है। सारे संसार में सुख-दुःख-मोहात्मिका प्रकृति का अन्वय है। प्रकृति में जो सत्त्व है, वह सुखात्मक है; जो रज है, वह दुःखात्मक है और जो तम है वह मोहात्मक है। सारे संसार में सुख-दुःख-मोहात्मकता का समन्वय है। एक ही स्त्री अपने (उसके) पति के लिए सुखदायिनी, सपत्नी के लिए दुःखदायिनी होती है, साथ ही उसे चाहने-वाला देवदत्तादि जो कि उसे प्राप्त नहीं कर पा रहा है, उसके लिए वह मोहदायिनी होती है। सांख्यवृद्ध कहते हैं, इसी दृष्टान्त से सब भावों को समझ लेना। हरेक पदार्थ किसी के प्रति सुखात्मक हैं, किसी के प्रति दुःखात्मक और किसी के प्रति मोहात्मक है—

प्रकृत्या सह सारूप्यं विकाराणामवस्थितम्।
जगद्ब्रह्मसरूपञ्च नेति नो तस्य विक्रिया॥
विशुद्धं चेतनं ब्रह्म जगज्जड़मशुद्धिभाक्।
तेन प्रधानसारूप्यात् प्रधानस्यैव विक्रिया॥

तथा हि एक एव स्त्री कायः सुख-दुःख मोहात्मकतया पत्युश्च सपत्नीनाञ्च चैत्रस्य च स्त्रैणस्य तामविन्दतोऽपर्य्यायं सुखदुःखविषादानाधत्ते। स्त्रिया च सर्वे भावा व्याख्याताः। (भामती २।१।४)

हरेक पदार्थ किसी के प्रति सुखात्मक है, किसी के प्रति दुःखात्मक और किसी के प्रति मोहात्मक है। इसलिए सुख, दुःख, मोह की अनुगति सारे विश्वप्रपञ्च में है। अतः सुख, दुःख मोहात्मिका प्रकृति ही विश्व का कारण क्यों न हो? यह शंका है।

(३) अभिज्ञः :—

इसका उत्तर देते हैं—अभिज्ञः। जगत् का कर्ता अभिज्ञ होना चाहिए। प्रकृति तो जड़ है। वैसे प्रकृति जगत् का कारण हो सकती थी, क्योंकि उसकी अनुगति देखी जाती है। परन्तु सुख-दुःख-मोहात्मिका प्रकृति तो जड़ है। वह अभिज्ञ नहीं है। जगत्कर्ता अभिज्ञ होना चाहिए, सर्वज्ञ होना चाहिए। जगत्कारण ब्रह्म में ही ईक्षितृत्व श्रुत है। जड़ प्रधान में नहीं—

ईक्षतेर्ना शब्दम् (ब्रह्मसूत्र १।१।५)

श्रुतिप्रतिपादित न होने के कारण प्रधान जगत् कारण नहीं है। क्योंकि **'ईक्षते' = तदैक्षत'** इस श्रुति में जगत् का कारण ईक्षणकर्ता कहा गया है। जड़ प्रधान में ईक्षण-कर्तृत्व संभव नहीं है।

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) (उसने ईक्षण किया—मैं अनेक हो जाऊँ, अर्थात् अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ। इस प्रकार ईक्षण कर उसने तेज उत्पन्न किया)।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चिन मिषत् ।
स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत ॥

(ऐत० १।१।१-३)

(आरम्भ में सृष्टि रचना से पूर्व, एकमात्र आत्मा ही था। उससे अतिरिक्त अन्य कोई स्वतन्त्र वस्तु न थी। उसने ईक्षण किया कि लोकों की रचना करूँ, उसने अम्भ, मरीचि आदि लोकों की रचना की।)

इस तरह परमात्मा ने विचार किया 'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ।' तो प्रकृति क्या विचार करेगी। जड़ प्रकृति विचार नहीं कर सकती। **'जानाति, इच्छति अथ करोति'** यह नियम है—पहले कोई जानता है, जानने के बाद इच्छा करता है, फिर उसे क्रिया रूप में परिणत करता है। जो ज्ञानवान् नहीं है, इच्छावान् नहीं है, स्वयं क्रियावान् नहीं, वह विश्व प्रपञ्च का निर्माता नहीं हो सकता। प्रधान, ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् नहीं है। इसलिए वह जगत् का कारण नहीं हो सकता। परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान्-ज्ञानवान्-इच्छावान्-क्रियावान् है, वही विश्व प्रपञ्च का कारण है। वही जगत् का कारण है।

(४) 'स्वराट्'

बोले—**स्वराट्**[२१]'। जीव चेतन अवश्य है, परन्तु अल्पज्ञ है। जगत् निर्माण के लिए जितना ज्ञान होना चाहिए उतना ज्ञान जीव को नहीं।

शङ्का हुई—जगत् कारण 'हिरण्यगर्भ' होगा ? उसकी महिमा तो अद्भुत है। उसके जगत् कारण होने में भला क्या आपत्ति है—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (ऋ० सं० १०।१२१।१) वह तो जीवों का स्वामी है।

बोले – परन्तु हिरण्यगर्भ को भी ज्ञान परमेश्वर के द्वारा होता है। ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ को स्वतः ज्ञान नहीं।

---

२१. तर्हि किं जीवो ध्येयः स्यान्नेत्याह। स्वेनैव राजते यस्तम्। स्वतः सिद्धज्ञानमित्यर्थः।
(श्रीधरी)

(५) **'तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत् सूरयः'**[२२]

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८)

अर्थात् जो सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उसके लिए वेदों का दान करता है, आत्म-बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उस देव की मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥

जो ब्रह्मा को बनाता है, उसने ब्रह्मा के हृदय में वेदों को प्रेरित किया। विद्यमान वस्तु का प्रेषण हो सकता है। वेद विद्यमान है, अनादिकाल से। अनादि वेद को भगवान् ने ब्रह्मा के हृदय में प्रेषित किया। इसलिए ब्रह्मा का ज्ञान परमेश्वरानुग्रहसापेक्ष है। इसलिए वह विश्वप्रपञ्च का कारण नहीं हो सकता। **'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' आदिकवये=ब्रह्मणे।** आदि कवि जो ब्रह्मा है, उसके हृदय में जो ब्रह्म (वेद) विस्तृत किया, वही जगत्कारण परमसत्य ध्येय है। शंका है --कल के पढ़े हुए वेद को जैसे विद्यार्थी सोकर उठने के बाद स्वयं ही स्मरण कर लेता है। वैसे ही ब्रह्मा सुप्तप्रतिबुद्धन्याय से पूर्वकल्पीय वेद को स्मरण कर सकता है, ईश्वर उसके हृदय में वेद को प्रेषण करे इसकी क्या आवश्यकता है ?

बोले—**'मुह्यन्ति यत्सूरयः' = 'यस्मिन् वेदे सूरयोऽपि मुह्यन्ति।'** बड़े-बड़े ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न अमलात्मा परमहंस मुनीन्द्र भी वेद के सम्बन्ध में मोहित होते हैं।

---

२२. तर्हि किं ब्रह्मा ध्येयः। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इति श्रुतेः। नेत्याह। तेन-इति। आदि कवये ब्रह्मणेऽपि ब्रह्म वेदं यस्तेने प्रकाशितवान्। 'यो ब्रह्माणं विधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इति श्रुतेः। ननु ब्रह्मणोऽन्यतो वेदाध्ययनमप्रसिद्धम्। सत्यम्। तत्तु हृदा मनसैव तेने विस्तृतवान्। अनेन बुद्धिवृत्तिप्रवर्तकत्वेन गायत्र्यर्थो दर्शितः। वक्ष्यति हि 'प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि। स्वलक्षणाप्रादुरभूत्किलास्यतः स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्' इति। ननु ब्रह्मा स्वयमेव सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन वेदमुपलभताम्। नेत्याह। यद्यस्मिन्ब्रह्मणि सूरयोऽपि मुह्यन्तीति। तस्माद् ब्रह्मणोऽपि पराधीनज्ञानत्वात्स्वतः सिद्धज्ञानः परमेश्वर एव जगत् कारणम् ॥

(श्रीधरी)

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन ॥

(श्रीमद्भागवत ११।२१।४२)

(वह वेदवाणी कर्मकाण्ड में क्या विधान करती है, उपासनाकाण्ड में किन देवताओं का वर्णन करती है ज्ञान काण्ड में किन प्रतीतियों का अनुवाद करके उनमें अनेकों प्रकार के विकल्प करती है—इन बातों को, इस सम्बन्ध में श्रुति के रहस्य को मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता ।)

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम् ।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति ॥

(श्रीमद्भागवत ११।२१।४३)

(सभी श्रुतियाँ कर्मकाण्ड में मेरा ही विधान करती हैं। उपासनाकाण्ड में उपास्य देवताओं के रूप में मेरा ही वर्णन करती हैं और ज्ञानकाण्ड में आकाशादि रूप से मुझमें ही अन्य वस्तुओं का आरोप करके उनका निषेध करती हैं। सम्पूर्ण श्रुतियों का बस इतना ही तात्पर्य है कि वे मेरा आश्रय लेकर मुझमें भेद का आरोप करती हैं, माया मात्र कहकर उसका अनुवाद करती हैं और अन्त में सबका निषेध करके मुझमें ही शान्त हो जाती हैं और केवल अधिष्ठान रूप से मैं ही शेष रह जाता हूँ ।)

'वेद किसका विधान करता है, वेद किसका अभिधान करता है, किसका अनुवाद करता है।' इसका हृदय भगवान् कहते हैं, मुझका छोड़कर और कोई जानता ही नहीं। वेद मेरा ही अभिधान करता है. मेरा ही विधान करता है। सब कुछ प्रतिषेध कर मुझे ही अवशेष रखता है। सारा विश्व प्रपञ्च बाधित हो जाने पर अजर-अमर अनन्त-अखण्ड स्वप्रकाश विशुद्ध परात्पर ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है।

शंका होती है—भाई ! अनन्त ब्रह्माण्ड का कारण परमात्मा है। परन्तु ऐसा स्वीकार करने पर तो परमात्मा विकारवान् हो जायगा। यह मिट्टी घटात्मना परिणत होती है, पटात्मना परिणत होती है, विकारवती होती है। ऐसे हीं परमात्मा यदि जगदात्मना परिणत होता है, जगत् रूप में परमात्मा परिणममान होता है तो विकारी हो जायगा। इसलिए विकारी नहीं है, यह बताने के लिए कहा—

(६) 'तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा[23] । धाम्ना स्वेन सदा निरस्त-कुहकं सत्यं परं धीमहि ॥'

'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः' तेज का, वारि का, मिट्टी का जैसे परस्पर विनिमय होता है। अन्योन्याध्यास (अन्योन्यस्मिन्नन्यतादात्म्याध्यासः) होता है। तेज में जल का भ्रम, मरु मरीचिका में और तेज में जल का भ्रम। कहीं-कहीं जल में काँच का भ्रम होता है। कहीं-कहीं काँच में जल का भ्रम होता है। मरुमरीचिका में जल का भ्रम होता है। तेज, वारि और मिट्टी का जैसे आपस में विनिमय होता है, अन्योन्याध्यास होता है, वैसे ही प्रपञ्च का परमात्मा में अध्यास और परमात्मा का प्रपञ्च में अध्यास होता है। शंका होती है—प्रपञ्च का परमात्मा में अध्यास और परमात्मा का प्रपञ्च में अध्यास मानने पर ये दोनों ही झूठे निकलेंगे। क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार होने से प्रपञ्च बाधित हो जायगा और प्रपञ्च का बोध होने से परमात्मा बाधित हो जायेंगे।

इसलिए कहते हैं—एक स्वरूपाध्यास है और एक संसर्गाध्यास। प्रपञ्च का परमात्मा में स्वरूपाध्यास है। परमात्मा का प्रपञ्च में संसर्गाध्यास है। जैसे रज्जु-सर्प का। रज्जु में सर्प का स्वरूपाध्यास और रज्जु का सर्प में संसर्गाध्यास होता है। कल्पित वस्तु में अधिष्ठान की इदन्ता ही स्फुरित होती है, स्वयं की नहीं **'अयं सर्पः, इयं धारा, भूछिद्रं'**। इसलिए परमात्मा का साक्षात्कार होने से प्रपञ्च का स्वरूपेण बाध हो जाता है। प्रपञ्च बोध से परमात्मा के केवल संसर्ग का बाध होता है, परमात्म-स्वरूप का बाध नहीं।

'धाम्ना स्वेन निरस्तकुहकं[24]' माया सदा-सर्वदा परमात्मा में बाधित है। जैसे प्रचण्ड मार्तण्डमण्डल में तमिस्रा रात्रि कभी त्रिकाल में होती नहीं। केवल भ्रम से उलूक कहता है—प्रचण्ड मार्तण्डमण्डल में घोर अन्धकार है। पूछा गया—'गवाह बताओ।' बोला—'चमगादड़ साहब'। तो इस दृष्टि से माया रूपी जो कपट है, कुहक है, वह इसके स्वरूपभूत अनन्त तेज से सदा-सर्वदा बाधित है।

---

२३. यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि त्रयाणां मायागुणानां तमोरजःसत्वानां सर्गो भूतेन्द्रियदेवता-रूपोऽमृषा सत्यः। यत्सत्यतया मिथ्यासर्गोऽपि सत्यवत् प्रतीयते तं परं सत्यमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तः—तेजोवारिमृदां यथा विनिमय इति। विनिमयो व्यत्ययोऽन्यस्मिन्नन्यावभासः। स यथाऽधिष्ठानसत्तया सद्वत्प्रतीयत इत्यर्थः। तत्र तेजसि वारि-बुद्धिर्मरीचितोये प्रसिद्धा। मृदि काचादौ वारिबुद्धिर्वारिणि च काचादिबुद्धिरित्यादि यथयथामूह्यम्। यद्वा तस्यैव परमार्थसत्यत्वप्रतिपादनाय तदितरस्य मिथ्यात्व-मुक्तम्। यत्र मृषैवायं त्रिसर्गो न वस्तुतः सन्निति। यत्रेत्यनेन प्रतीतमुपाधिसम्बन्धं वारयति।

२४. स्वेनैव धाम्ना महसा निरस्तं कुहकं कपटं मायालक्षणं यस्मिंस्तम्।

कोई कहता है—भाई ! किसी मकान के पास कोई औरत खड़ी थी। किसी ने पूछा 'यह मकान किसका ?' औरत ने कहा 'मैं जिसकी बहू' उसी का यह मकान है।' उसने पूछा—'तुम किसकी बहू ?', औरत ने कहा—'जिसका यह मकान।' इस तरह तो परस्पर सापेक्ष ही रह गया। 'यह मकान किसका ?' 'मैं जिसकी बहू।' 'तुम किसकी बहू ?' 'जिसका यह मकान।' फिर भला कैसे बोध हो ? इसलिए स्वरूप लक्षण चाहिए। स्वरूप लक्षण के लिए कहा—

सत्यं परं धीमहि :—

शंका होती है—जगत् नित्यनिरस्तसत्ताक है। फिर श्रवण, मनन, निदिध्यासन[२५] क्यों करते हो ? महावाक्यजन्यपरब्रह्माकाराकारित वृत्ति की अपेक्षा क्यों करते हो ?

संक्षेप शारीरककार कहते हैं—

नित्यबोधपरिपीडितं जगद् विभ्रमं नुदति वाक्यजा मतिः।
वासुदेवनिहितं धनञ्जयो हन्ति कौरवकुलं यथा पुनः॥

(संक्षेप शारीरक २।३८)

अधिष्ठान रूप अखण्डनित्यबोध ने प्रारम्भ से ही इस जगत् को निस्तत्त्व बना रखा है, इसकी सत्ता का अपलाप कर रखा है। उसी निस्तत्त्व असत् मिथ्या जगत् को वाक्यजन्यब्रह्माकारवृत्ति नष्ट कर दिया करती है। जैसे कालरूप भगवान् 'अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च' (श्री० भा० १०।१।७) श्रीकृष्ण प्रभु ने कौरववंश का पहले ही नाश कर दिया था। उनके लीलामय सत्य संकल्प से ही मनुष्यों को वह वैसा ही प्रतीत होता रहा, उसी वंश के अर्जुन ने श्रीकृष्ण का बल पाकर उस वंश को समाप्त कर दिया। वैसे ही अज्ञानजन्यवृत्ति नित्य चैतन्य अखण्डबोध-भान से प्रज्वलित होकर उस पूर्व से ही निरस्त असत् जगत् को भस्मसात् कर डालती है।[२६]

---

२५. इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।
युक्त्या सम्भावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्॥
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥ (पञ्चदशी १।५३, ५४)

२६. कार्य भी अपने अनादि कारण का नाशक होता है, यथा नैय्यायिकों के यहाँ (न्यायमत में) प्रागभावजन्य घटादि स्व अनादिकारण प्रागभाव के नाशक होते ही हैं। जैसे श्रीकृष्णहित कौरव कुल को अर्जुन ने पुनः मारा था, वैसे ही अखण्ड-भान नित्य निर्विशेष बोध से बाधित जगत् भ्रम को वेदान्त वाक्य जन्य ब्रह्माकाराकारित वृत्ति निवृत्त कर दिया करती है।

शंका का समाधान इस प्रकार है। पहले अर्जुन कहता था—

'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः'

(गीता २।६)

हम जीतेंगे कौरवों को, या कहीं वे ही न हमें जीत लें। जय-विजय तो नियत नहीं होती। इसलिए कौन युद्ध करे, झंझट में कौन पड़े? भगवान् ने विश्वरूप दिखाया। कहा—'देख! भीष्म, द्रोण, कर्ण और जयद्रथ आदि को मैंने मार रखा है। शंका मत कर युद्ध कर। तू जीतेगा। अवश्य जीतेगा। केवल मेरे मारे हुए को मारना है, तुझे निमित्त मात्र होना है'—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

(लोकों का क्षय करनेवाला बढ़ा हुआ में काल हूँ। लोकों का संहार करने के लिए मैं इस समय प्रवृत्त हूँ। तुम्हारे नहीं रहने पर भी ये प्रतिपक्षी युद्ध के लिए खड़े शूरवीर नहीं रहेंगे॥ हे सव्यसाचिन्! ये शूरवीर मेरे द्वारा पहले ही मारे गये हैं। इसलिए तुम निमित्तमात्र बनो—उठो यशलाभ करो और शत्रुओं को जीतकर सम्पन्न निष्कण्टक राज्य भोगो॥ जिन-जिन वीरों से भय हो सकता है वे द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्यान्य योद्धा मेरे द्वारा पहले ही मारे हुए हैं, उनको तुम मारो। **'मा व्यथिष्ठाः'** भय पहले मत करो, लड़ो; युद्ध में शत्रुओं को जीतोगे॥)

अर्जुन ने विश्वरूप के दाँतों में देखा—भीष्म, द्रोण, कर्ण ये प्रलयंकर भगवान् के दाँतों में चिपके हुए हैं, ये योद्धा बचने वाले नहीं हैं, सब मरने ही वाले हैं—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

(श्रीमद्भगवद् गीता ११।२६-२७)

(ये सब धृतराष्ट्र के पुत्र एवं सब राजाओं के समूह के साथ भीष्म, द्रोण तथा यह कर्ण और प्रधान योद्धाओं के सहित हमारी सेनायें भी, सभी बड़े वेग से आपके मुख में प्रवेश कर रही हैं। कराल दाँत वाले विकराल आपके मुख में ये सब योद्धा

बड़े वेग से प्रवेश करते हैं, मुख में प्रविष्ट कोई-कोई विचूर्णित मस्तकों के सहित भक्षित मांस के समान दाँतों में चिपके दिखाई दे रहे हैं ।)

यह जगत् भगवान् के नित्य-बोध से परिपीड़ित है। वास्तव में हुआ ही नहीं है। जैसे प्रचण्ड मार्तण्ड मण्डल में कभी तमिस्रा (रात्रि) हुई नहीं; वैसे विश्व प्रपञ्च अखण्ड परात्पर परब्रह्म में त्रिकाल में हुआ ही नहीं। फिर भी उसी को वाक्यजा मति (महावाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित वृत्ति) वैसे मारती है, जैसे वासुदेव के द्वारा मारे हुए कौरव-कुल को धनञ्जय मारता है।

इस तरह से भगवान् व्यास जी नमस्कार करते हुए उस परात्पर परमेश्वर की स्तुति करते हैं। यही मंगलाचरण है।

(६) ऋषि-सूत-संवाद :—

नैमिषक्षेत्र में ऋषि शौनकादि ने स्वर्गार्थ सहस्रवर्ष का सत्र आरम्भ किया। 'सहस्र वर्ष' पर शास्त्रार्थ है। सहस्र वर्ष है या सहस्र दिन? सहस्र दिन मानकर भी विचार किया है। परन्तु पौराणिक दृष्टि से सहस्र संवत्सर भी हो सकता है। सत्रों में प्रायः आहिताग्नि सम्मिलित होते हैं। जो अग्निहोत्री होते हैं। प्रायः एक समान सूत्र के होते हैं। जैसे कात्यायनसूत्र वाले मिलकर बोधायनसूत्र वाले मिलकर या आश्वलायनसूत्र वाले मिलकर ही सत्र करेंगे। समान सूत्रवाले समान शाखावाले लोगों का सत्र होता है। इसलिए अग्निहोत्री होते हैं। **'प्रातर्हुतहुताग्नयः'** (भागवत १।१।५) प्रातः उठ करके, स्नान-सन्ध्या करके, अग्निहोत्र होम करके सब विचार कर रहे थे। सूत जी भी समासीन थे।

जो बहुयजमान कर्तृक यज्ञ होता है, उसे सत्र कहते हैं। एक ही यजमान जिसमें होता है वह तो अग्निष्टोम है, ज्योतिष्टोम है, वाजपेय है, आप्तोर्याम और पौर्णमास है। सत्र में सब लोगों ने अपना-अपना अग्निहोत्र कर्म किया, फिर ब्रह्म-चर्चा का समय आया। अश्वमेधादि में भी पारिप्लवाख्यान चलता है। जिसमे सूत हैं, मागध हैं, वन्दी हैं, ऋत्विज हैं, पौराणिक हैं, इनके द्वारा नानाप्रकार के कथानकों का उल्लेख होता है। इसका भी अभिप्राय है। अग्निहोत्र-होम भी चल रहा है। ज्योतिष्टोम भी चल रहा है। आप्तोर्याम भी चल रहा है। साथ ही आत्मा, ब्रह्म की चर्चा भी चल रही है, क्योंकि हमारे यहाँ तो हरेक कर्म परात्पर परब्रह्म भगवान् से अनुस्यूत है। भगवद्भावना के बिना कुछ भी नहीं—

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥

(भागवत ११।३।२७)

(श्री हरि की लीलाएँ अद्भुत हैं। उनके जन्म-कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हीं का श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना चाहिए। शरीर से जितनी भी चेष्टाएँ हों, सब भगवान् के लिए हों।)

प्रातः धरती पर पाँव धरो तो उसी समय धरा देवी की प्रार्थना करो—

समुद्रवसने देवि ! पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

(विष्णु पत्नि ! हे समुद्ररूपी वस्त्रों को धारण करने वाली। पर्वतरूपी स्तनों से युक्त पृथिवी देवी ! तुझे नमस्कार है। मेरे पादस्पर्श को क्षमा करो।

हे धरित्रि ! हे अम्ब ! तुम पर चरण धर रहे हैं। तुम तो विष्णुपत्नी हो। अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मा-व्यापनशील विष्णु की पत्नी हो। पर्वत तुम्हारे स्तन हैं। उन्हीं पर्वत स्तनों से गंगा की धारा से, यमुना की धारा से शतद्रू की धारा से, बिपाशा की धारा से और अनेक-अनेक नदियों की धारा से सारा संसार हरा-भरा जगमगा रहा है, आप्यायित है। नहरें निकल रही हैं, बिजली निकल रही है। सारा संसार चमचमा रहा है। भगवान् विष्णु की पालनी शक्ति का नाम धरित्री है। विष्णु की पालनी शक्ति ही नीति है। उसके द्वारा विश्व का पालन होता है। इसलिए विष्णुपत्नि ! हम आपको नमस्कार करते हैं। समुद्र आपकी साड़ी है।

यह भावना सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् भगवान् परमेश्वर का चिन्तन करने के लिए है। ऐसे ही दातून करने लगें तो उसमें भी देवता की भावना है—तुम वनस्पति हो ? 'तुम हमें आयु दो। वर्चस् दो[२७]।' कहने का मतलब पद-पद पर हमारे यहाँ सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर का अनुसन्धान है। यज्ञों में तो कहना ही क्या ? समिधा भी देवता है, **'इषेत्वा इति शाखां छिनत्ति[२८]'**।

'इषेत्वा' इस मंत्र से शाखा का छेदन करो। शाखा भी देवता है। तत्तत् अन्तर्यामी, शाखान्तर्यामी, वत्सान्तर्यामी (**वत्सानपाकरोति**) देवता का उल्लेख है। देवता अन्तर्यामी परमात्मा के एक अंश हैं। हमारे यज्ञ ईश्वर-भावना-परमात्मभावना-सर्वात्मभावना से ओतप्रोत हैं। इस दृष्टि के सम्पादन के लिए यज्ञ में कथाश्रवण का विधान है, अद्भुत महत्त्व है।

---

२७. आयुर्बलं यशो वर्चः, प्रजाः पशुवसूनि च।
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च, त्वन्नो देहि वनस्पते॥
(नारद० पूर्व २७।२५, विश्वामित्रकल्प)

२८, इषेत्वोर्जेत्वा वायवस्थो पायवस्थ देवो वः।
(तैत्तिरीयसंहितायां १।१।१)

महर्षियों के मध्य सूत जी सुखासीन थे। उनसे उन्होंने पूछा—

त्वया खलु पुराणानि सेतिहासानि चानघ।
आख्यातान्यप्यधीतानि धर्मशास्त्राणि यान्युत ॥

(श्रीमद्भागवत १।१।६)

हे सूत जी ! तुमने भगवान् व्यास से पद्म, स्कन्द आदि पुराणों का अध्ययन किया है। रामायण, महाभारत आदि सम्पूर्ण इतिहासों का अध्ययन किया है।

परावरविद् योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा परमहंसगण जिस तत्त्व को जानते हैं, उस तत्त्व को आप भलीभाँति जानते हैं। भगवान् वेदव्यास के अनुग्रह से आप इन सब तत्त्वों को जान पाये हैं। हम आपसे गुह्य रहस्य जानना चाहते हैं। जो भक्त और स्नेहवान् शिष्य है उसके लिए गुरुजन गुप्त-से-गुप्त वस्तु का भी वर्णन करते हैं। हम आप से पूछते हैं—दुःखनिवृत्ति का ऐकान्तिक उपाय क्या है ? निश्चित उपाय को ऐकान्तिक उपाय कहते हैं। खेती आदि ऐसे कई उपाय होते हैं जो उपद्रवग्रस्त हो जाते हैं, विफल हो जाते हैं। साथ ही एकबार रोगनिवृत्त होकर भी फिर हो जाता है। रोगनिवृत्ति के लिए इलाज किया, रोग निवृत्त हो गया; कालान्तर में फिर हो गया। इस तरह रोग की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हुई। इसलिए दुःख-निवृत्ति का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक साधन जो आपने निश्चित किया है, वह कृपा कर कहिये।

आज का मनुष्य अल्पायु है। कलियुग में ज्यादा-से-ज्यादा सौ वर्ष आयु। उसमें भी आधी तो सोने में चली जाती है। अनेक प्रकार की बालक्रीडा और विविध प्रकार के उपद्रवों में आधी आयु बीत जाती है। लोग मन्द हैं, सुमन्द मति हैं। अल्पभाग्य हैं। भाग्य भी साथ नहीं देता।

अतः साधोऽत्र यत्सारं समुद्धृत्य मनीषया।
ब्रूहि नः श्रद्धधानानां येनात्मा सम्प्रसीदति ॥

(श्रीमद्भागवत १।१।११)

बहुत कुछ सुनना है संसार में। सुनने लगें तो अन्त नहीं। श्रोतव्य क्या है, कितना है ? अतः पुराणों में, वेदों में, आगमों में जो सारतम तत्त्व है, वह कृपा करके उपदेश करें; हमें बताएँ। हमलोग श्रद्धालु हैं। आपसे प्रश्न कर रहे हैं। जिससे अन्तरात्मा-अन्तःकरण प्रसन्न हो जाय, निर्मल-निष्कलंक हो जाय, रजोगुण-तमोगुण से रहित हो जाय, भगवत्पदप्राप्ति का अधिकारी हो जाय, वह सब बताओ।

भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।
आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥

(भागवत १।१।१४)

घोर संसार में आया हुआ प्राणी जिसका नाम स्मरण करके मुक्त हो जाता है। विवशतावश भी जिनका नाम आ जाय तो सारे अनर्थ दुःखपरम्परा से विमुक्त हो जाता है। जिस भगवान् से भय स्वयं डरता है। ऐसे भगवान् काल-काल महाकाल हैं। उनके पादारविन्द की उपासना के अमोघ प्रभाव से महामुनीन्द्र अनन्तशक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। उनके स्पर्शमात्र से प्राणी पवित्र हो जाता है। अरे कहीं तो लिखा है—

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा।
तद्दृष्टिविषयाः सर्वे मुच्यन्ते नात्र संशयः॥

जिसने ब्रह्म का दर्शन (साक्षात्कार) कर लिया है, अनुभव पर्यन्ता जिसकी बुद्धि बन गई है, उसकी दृष्टि में आने वाले सभी प्राणी मुक्त हो जाते हैं।

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया॥
को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम्॥
तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः॥

(श्रीमद्भागवत १।१।१५-१७)

(सूत जी! परम विरक्त और मुनिजन भगवान् के श्रीचरणों की शरण में ही रहते हैं। इसी से उनके स्पर्श मात्र से सांसारिक जीव तुरन्त ही पवित्र हो जाते हैं। इधर गंगाजल बहुत दिन सेवन किया जाय तब कहीं पवित्रता प्राप्त होती है॥)

(श्रीहरि लीला से ही ब्रह्म-रुद्रादि मूर्तियाँ धारण करते हैं। नारदादि भक्तों ने उनके उदार कर्मों का गान किया है। हम श्रद्धालुओं के प्रति आप उनका वर्णन कीजिये॥)

(ऐसे पुण्यकीर्ति भक्तों द्वारा जिनके कर्मों की स्तुति की जाती है, उन भगवान् के कलिमल नाशक पवित्र यश को ऐसा कौन आत्म शुद्धि की इच्छा वाला मनुष्य होगा जो न सुने॥)

जिनका कर्म पुण्यमय है, श्लोक्य है, बार-बार संकीर्तनीय है, स्तुत्य है, भला यह कैसे हो सकता है कि कोई बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिकामना वाला उन भगवान् के अनन्त यश को न सुने ? उन भगवान् के उदार कर्मों को सूरियों ने गाया है। अनन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन भी उनका कर्म है। अनन्त ब्रह्माण्ड का पालन भी उनका कर्म है। अनन्त ब्रह्माण्ड का संहार भी उनका कर्म है। रावणादि दैत्यों का दर्प-दलन भी उनका कर्म है। प्रह्लाद, ध्रुवादि भक्तों का उद्धार करना भी उनका कर्म है। ग्राह को मारकर गज का उद्धार करना भी उनका कर्म है।

भगवान् के उदार परम पवित्र कर्म हैं। भगवान् परात्पर परब्रह्म रामचन्द्र राघवेन्द्र रूप में प्रकट होते हैं और-और अनन्त रूपों में भगवान् प्रकट होते हैं। उनके जो दिव्य चरित्र हैं, उनको आप कृपा करके कहिये। भगवान् का गुण सुनते हमको तृप्ति नहीं होती। भगवान् ने बलराम के साथ श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रकट हो कर, मायामानुष बनकर कौन-सी लीलायें की हैं, यह बताइये। यह नैमिष वैष्णव क्षेत्र है। इसमें हम दीर्घ सत्र के व्याज से सारे प्रपञ्च से विरत होकर सक्षण-सावकाश होकर यहाँ बैठे हैं। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्दकन्द की मंगलमयी लीला कहिये। जब भगवान् परमधाम में पधारे, धर्म किसकी शरण गया, क्या हुआ ? इत्यादि-इत्यादि प्रश्न ऋषियों ने किये।

इति सम्प्रश्नसंहृष्टो विप्राणां रौमहर्षणिः।
प्रतिपूज्य वचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥
(श्रीमद्भागव १।२।१)

(ब्रह्मर्षियों के प्रश्नों को सुनकर हर्षित और ब्राह्मणों द्वारा सम्मानित सूत जी ने प्रवचन करना प्रारम्भ किया।)

रोमहर्षण के पुत्र रौमहर्षणि थे। मुख्य सूत तो रोमहर्षण ही थे। जिनकी कथा सुनते ही लोगों को रोमाञ्च हो जाता था, रोमाञ्च। इसलिए उन्हें रोमहर्षण कहा जाता था। यही शास्त्रों का निर्णय है कि वे अग्निकुण्डसमुद्भुत थे। सूत शूद्र जाति के नहीं थे। बार्हस्पत्य-हवि और ऐन्द्र हवि दोनों के व्यत्यास से—सम्मिश्रण हो जाने के कारण इनका आविर्भाव हुआ। इसलिए अग्निकुण्डसमुद्भुत होने पर भी इन्हें सूत कहा गया। ब्राह्मणों ने इनमें ब्राह्मणत्व का आधान कर पुराणेतिहास की कथा के लिए प्रेरित किया था—

ऐन्द्रे सत्रे प्रवृत्ते तु ग्रहयुक्ते वृहस्पतौ।
तमेवेन्द्रं बार्हस्पत्ये तत्र सूतो व्यजायत ॥
शिष्यहस्तेन यद् पृक्तमभिभूतं गुरोर्हविः।
अधरोत्तरचारेण जज्ञे तद्वर्णसङ्करम् ॥

येऽत्र क्षत्रात् समभवन् ब्राह्मण्याञ्चैव योनितः।
पूर्वेणैव तु साधर्म्याद्वैधर्मास्ते प्रकीर्तिताः॥
मध्यमो ह्येष सूतस्य धर्मः क्षेत्रोपजीविनः।
पुराणेष्वधिकारो मे विहितो ब्राह्मणैरिह॥
(श्रीपद्मपुराणे प्रथमे सृष्टिखण्डे पुराणावतारे १।३३-३५)

महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठ ने भावदीप में इस रहस्य का प्रकाश इस प्रकार किया है—

वैन्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः।
सुत्यायामभवत्सूतः प्रथमं वर्णवैकृतः॥
ऐन्द्रेण हविषा तत्र हविः पृक्तं बृहस्पतेः।
जुहावेन्द्राय देवाय ततः सूतो व्यजायत॥
प्रमादस्तत्र संजज्ञे प्रायश्चित्तं च कर्मसु॥
शिष्यहव्येन सम्पृक्तमभिभूतं गुरोर्हविः।
अधरोत्तरचारेण जज्ञे तद्वर्णवैकृतः॥
(वायुपुराण प्रक्रियापाद।१)

(८) श्रीशुक-वन्दना

ब्राह्मणों का वचन सुनकर कर उनको रोमाञ्च हो गया। अङ्ग-अङ्ग रोमाञ्च-कण्टकित हो गया। आँखें आनन्दाश्रु से भरपूर हो आईं। उन्होंने अपने गुरु श्री शुकदेव जी महाराज की वन्दना किया कि—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥
(श्रीमद्भागवत १।२।२)

(पिता श्री के द्वारा हठात उपनयन कर दिये जाने पर भी तदुचित कर्मकाण्ड से रहित शुकदेव परम निवृत्तिपरायण होकर घर से प्रस्थान करते बने। उन्हें इस इस दशा में देखकर व्यास जी विरह से कातर होकर पुकारने लगे—बेटा! वत्स! पुत्र! तुम कहाँ जा रहे हो? उस समय वृक्षों ने तन्मय होकर श्री शुकदेव जी की ओर से उत्तर दिया था, ऐसे सर्वभूतहृदयस्वरूप श्रीशुकदेव मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ॥)

'यं प्रव्रजन्तं' 'जन्मनैव सर्वं परित्यज्य गच्छन्तं' कहा जाता है कि श्रीशुकदेव जी माता के पेट में बारह वर्ष तक रहे। निकलते ही नहीं थे। व्यास ने कहा—"पुत्र! तुम्हारी माता को कष्ट हो रहा है, बाहर निकलो।" शुक ने कहा—"महाराज! यहाँ हम बड़े सुखी हैं। हमको भगवत्तत्त्व-विज्ञान है। भगवत् स्वरूप

का साक्षात्कार है। माया-मोह कुछ नहीं व्याप रहा है। यद्यपि गर्भवास बड़ा दुःखमय माना जाता है। बड़ा दुःखमय गर्भवास है। तो भी बाहर आने में माया-मोह लग जायगा। यहाँ माया-मोह से मुक्त हैं। गर्भवास का कुछ कष्ट है जरूर लेकिन माया-मोह से विमुक्त रहने के कारण हम सुखी हैं। इसलिए हम यहीं रहेंगे।''

तब व्यास जी ने आश्वासन दिया—''नहीं, नहीं आओ! पुत्र तुम आओ। तुमको यहाँ माया-मोह नही लगेगा।

पिता के बार-बार मनाने पर आ तो गये, परन्तु जन्म लेते ही सबका परित्याग कर चल पड़े। **अनुपेतं** = उपनयनादि संस्कार रहितं, **(उपनयनादि संस्कार रहितही) 'अपेत कृत्यं'** = बलात् उपनीतमपि (बलात् उपनीत होने पर भी **'उपेतमपि तदुचितकृत्यरहितं'** अर्थात् जबर्दस्ती कुछ उपनयन कर दिया, फिर भी वे तदुचित कर्मकाण्ड रहित रहे। बन की ओर चल पड़े। व्यास जी की बड़ी इक्छा थी—पुत्र होगा। परन्तु निराश हो गये। विरहकातर होकर पुत्र के पीछे-पीछे चलने लगे। पुत्र-पुत्र कहने लगे। 'पुत्र-पुत्र' कहते ही वहाँ के वृक्षों से भी प्रतिध्वनि के रूप में पुत्र-पुत्र की आवाज आने लगी। ऋषीकेश के मायाकुण्ड के सामने कहो गंगे, प्रतिध्वनि होगी गंगे। ऐसे ही व्यास जी पुत्र-पुत्र कहते थे, पर्वतों और वृक्षों से पुत्र-पुत्र की प्रतिध्वनि आती थी। कहते हैं—प्रतिध्वनि नहीं थी। प्रतिध्वनि के व्याज से शुकदेव जी के सर्वान्तरात्मा होने का परिचय प्राप्त होता था। शुकदेव ब्रह्मविद्वरिष्ठ हो गये। ब्रह्मविद्वरिष्ठ सबका अन्तरात्मा होता है। शुकदेव जी वृक्षों के भी अन्तरात्मा हो गये थे। पर्वतों के भी अन्तरात्मा हो गये थे। वृक्षों-पर्वतों की अन्तरात्मा होकर शुकदेव जी स्वयं अपने पिता को कहते थे—'पुत्र!' अर्थात् पिताजी! यह पिता और पुत्र का सम्बन्ध तात्विक नहीं। कभी हम आपके पुत्र तो कभी आप मेरे पुत्र होते आये हैं। इस दृष्टि से आप भी मेरे पुत्र हैं। कहने का अभिप्राय यह कि तत्-तत् वृक्षों का अन्तरात्मा होकर, तत्-तत् पर्वतों का अन्तरात्मा होकर 'पुत्र' ऐसी प्रतिध्वनि के व्याज से शुकदेव जी ने अपने पिता जी को तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। **'तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि'** = **सर्वभूतानां हृत् अन्तःकरणं अयति गच्छति'**, सब भूतों के अन्तःकरण में जो सर्वान्तरात्मा होकर सर्वद्रष्टा होकर विराजमान है, वह सर्वभूतहृदय है। ऐसे मुनि को हम नमस्कार करते हैं।

यः　स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेक-
मध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां　करुणयाऽऽहपुराणगुह्यं-
तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥

(श्रीमद्भागवत १।२।३)

(यह जो श्रीमद्भागवत है, अत्यन्त गोपनीय रहस्यात्मक पुराण है। एक मात्र भगवत्स्वरूपानुभव कराने वाला है, समस्त वेदों का सार-सर्वस्व है। संसार में फसे

हुए इस घोर अज्ञानान्धकार से पार जाना चाहने वालों के लिए आध्यात्मिक तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला अद्वितीय दीपक है। संसारियों पर करुणा करके बड़े-बड़े मुनियों के आचार्य श्रीशुकदेव जी ने इसका वर्णन किया है। इन्हीं व्यासपुत्र को मैं शरण ग्रहण करता हूँ।।)

श्रीमद्भागवत पुराणगुह्य है। श्रुति-सार-सर्वस्व है। इसके प्रवक्ता श्रीशुकदेव जी मुनियों के गुरु हैं। उन्होंने अपने अनुभव से सम्पूर्ण श्रुतियों का सार अनुभव करके इसका अनुशीलन और गान किया है। यह अध्यात्म तत्त्वों का प्रकाशन करने वाला है। अन्धन्तम का अतितरण करने की कामना वाले प्राणियों के हित के लिए इसका उपदेश शुकजी ने किया है।

आगे कथा है कि श्री शुकदेव जी आगे-आगे जा रहे थे। शुकदेव जी बड़े सुन्दर थे। श्रीकृष्ण भगवान् जैसे सुन्दर, जैसे श्यामसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन मदनमोहन श्याम, वैसे ही शुकदेव जी भी श्याम। देवाङ्गनायें किसी सरोवर में स्नान कर रहीं थीं, क्रीडा कर रहीं थीं, नग्न थीं। श्री शुकदेव जी उधर से जा रहे थे, परन्तु देवाङ्गनाओं को कोई लज्जा नहीं लगी। उन्होंने जाना कि ये तो ब्रह्मविद् वरिष्ठ ज्ञानी हैं। पीछे से व्यास भगवान् आये। वल्कलवसनधारी, कन्द-मूल-फलाशी श्मश्रुल, जटिल थे। बड़ी जटा, बड़ी दाढी-मूंछ बूढ़ा। व्यास भगवान् को देखा तो सबों ने छुई-मुई की तरह एकदम लज्जित हो करके वस्त्र धारण कर लिया। व्यास ने कहा—'बालिकाओं? तुम तो बड़ी विचित्र हो। अरे! हमारा लड़का युवक है। षोडश वर्ष वयस्क है। तेजस्वी है। अद्भुत सुन्दर है। उसे देखकर तुम्हें लज्जा नहीं आयी। तुम स्नान करती रहीं, ज्यों-की-त्यों नंगी बनी रहीं। हम वृद्ध श्मश्रुल, जटिल, वल्कल वसनधारी, कन्द-मूल-फलाशी हमको देखकर तुम्हें ऐसी लज्जा क्यों?

> **तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।**
> **एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते।।**
> **दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं**
> **देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।**
> **तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति।**
> **स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः।।**
>
> **(श्रीमद्भागवत १।४।४, ५)**

(व्यासपुत्र शुकदेव जी बड़े योगी समदर्शी, भेदभावरहित संसारनिद्रा से जगे एवं एकमात्र निरन्तर परमात्मा में स्थित रहते हैं, वे छिपे रहने के कारण मूढ़ जैसे प्रतीत होते हैं। व्यास महर्षि जब संन्यास के लिए बन की ओर जाते हुए अपने पुत्र का पीछा कर रहे थे तब जल में स्नान करने वाली स्त्रियों ने नंगे शुकदेव को देखकर तो वस्त्र धारण नहीं किया, परन्तु सवस्त्र व्यास जी को देखकर लज्जा से

कपड़े पहन लिये थे। इस आश्चर्य को देख जब व्यास जी ने उन स्त्रियों से कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि आपकी दृष्टि में तो अभी स्त्री-पुरुष का भेद बना हुआ है, परन्तु आपके पुत्र की शुद्ध दृष्टि में यह भेद नहीं है।)

जब महर्षि ने देवियों से पूछा तो देवियों ने कहा "ठीक है महाराज ठीक है। आप जो प्रश्न करते हैं ठीक हैं। हम लोग देवांगना हैं। हम सब जानती हैं, कौन-कैसा है। देखने मात्र से हम सब पहचान लेती हैं। आपका पुत्र तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ है। उसमें स्त्री-पुंभिदा कुछ नहीं। क्या स्त्री होती है, क्या पुरुष होता है, शुकदेव कुछ नहीं जानते। वे तो एक अजर, अमर, अनन्त, अखण्ड परात्पर परब्रह्म वस्तु देखते हैं।"

"माना कि आपके आत्मज शुक तो नग्न हैं। स्वयं आप वल्कलवस्त्रधारी मुनि हैं। फिर हमने आपको देखकर लज्जा से वस्त्र परिधान कर लिया। पुत्र को देखकर हमें कोई लज्जा नहीं हुई। वस्त्र परिधान नहीं किया। जैसी की तैसी क्रीडा करती रहीं। भगवन् आप ब्रह्मसूत्र के निर्माता हो, गीता-महाभारत के निर्माता हो। बड़े ज्ञानी हो। वल्कलवसनधारी कन्दमूलफलाशी हो। लेकिन आप यह जानते हो कि स्त्री क्या बला है, पुरुष क्या बला है, स्त्री-पुरुष का भेद बोध आप को है। आपका पुत्र विविक्तदृष्टि है। उसकी दृष्टि विविक्त परमपवित्र है। दृश्य उसकी बुद्धि में प्रस्फुरित ही नहीं होता। शुद्ध परात्पर परब्रह्म ही स्फुरित होता है। इसलिए अपनी अन्तरात्मा से कौन लज्जा करता है? हमारी अन्तरात्मा से हमको कहाँ लज्जा है। वह तो सबका अन्तरात्मा है। हमारा भी अन्तरात्मा है। स्त्री पुंभेद रहित है। इसलिए उससे हमको कोई लज्जा नहीं आपको तो स्त्री पुरुष का भेद स्फुरित होता है। आपसे हमारा लज्जित होना उचित है।"

उसके बाद शुक जाकर कहीं किसी अरण्य में पाषाण प्रतिमा के तुल्य निर्विकल्प अखण्ड समाधि में विराजमान हो गये। तो भगवान् वेदव्यास के शिष्य समिधा लेने के लिए बन में जाते थे। उन्होंने कई दिन देखा—'महात्मा बड़े तेजोमय हैं।'

'ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि' (छान्दो० उपनि० ४।९।२) कहते हैं—'ब्रह्मविद् का मुख भी कुछ विलक्षण होता है।' श्रुति में महर्षि कहते हैं—हे शिष्य! विदित होता है तू ब्रह्मविद् हो गया है। ब्रह्मविद् जैसा तेरा मुख प्रतीत हो रहा है।'

शिष्यों ने आकर गुरुजी से कहा—"महाराज! वन में एक ऐसे परमहंस हैं जो ब्रह्मविद्वरिष्ठ तत्त्वज्ञानी प्रतीत होते हैं। पाषाण-प्रतिमा के तुल्य निश्चल निर्विकल्प बैठे हैं।"

व्यास को मालूम हो गया, हाँ ठीक है। वे श्रीमद्‌भागवत का निर्माण कर चुके थे। शिष्यों से कहा—"एक श्लोक है, वहाँ जाकर आसपास उसी को तुम पढ़ा करना। इसके पढ़ने से कोई सिंह-व्याघ्रादि जन्तु तुम्हें बाधा नहीं डालेंगे।"

"कौन श्लोक है वह भगवन् ?" शिष्यों ने पूछा।

(९) शुकमनमोहक 'बर्हापीडं' श्लोक :—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥

(श्रीमद्भागवत १०।२१।५)

(भगवान् परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र नटवर वपु को धारण किये, बर्हमय आपीडको धारण किये, वैजयन्ती माला को पहने, कानों में कर्णिकार धारण किए, पीताम्बरधर वैजयन्ती माला को पहने, अधर सुधा से वेणु को परिपूरित करते हुए, गोपवृन्दों के सँग विलसित होते हुए श्रीमद् वृन्दावनधाम में पधारे॥)

शिष्यों ने बड़े प्रेम से श्लोक गाया। ओ हो हो! कर्णरन्ध्र द्वारा श्लोक भगवान् ब्रह्मविद्वरिष्ठ ज्ञानी शुकदेव जी के अन्तःकरण में गया। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहनव्रजेन्द्रनन्दन का मधुर मनोहर मंगलमय स्वरूप हृदय में जगमगाने लगा।

अधिकार होता है। सभी बात सबके मन में नहीं आती। कृष्ण नाम सब सुनते हैं। हम भी सुनते हैं। आप भी सुनते हैं। राधारानी वृषभानुनन्दिनी भी सुनती थीं। उनको क्या होता था—

व्रीडां विलोडयति लुञ्चति धैर्यमार्य-
भीतिं भिनत्ति परिलुम्पति चित्तवृत्तिम्।
नामैव यस्य कलितं श्रवणोपकण्ठे
दृष्टः स किं न कुरुतां सखि! मद्विधानाम्॥

(श्री आनन्दवृन्दावन चम्पूः अष्टमः स्तवकः ३८)

(किन्तु हे सखि! जिसका केवल नाम ही हम जैसी अनुरागियों के कानों के निकट जाते ही लज्जा को लोट-पोट कर देता है—भग्न कर देता है, धैर्य को नोच लेता है दूर कर देता है। वृद्धजनों से होने वाले भय को टूक-टूक कर देता है। चित्तवृत्ति को चारों ओर से छिन्न-भिन्न कर देता है। तब ऐसी स्थिति में वह दृष्टि-गोचर होकर क्या नहीं करेगा? इसको कौन कह सकता है?)

श्रीराधा जी के मंगलमय दिव्य अङ्ग में कानों के पास श्रीकृष्ण नाम आया— 'श्रीकृष्ण', 'श्रीकृष्ण'! कितना मधुर नाम। श्री राधारानी व्रजेन्द्रनन्दिनी ने उसी समय निर्णय कर लिया—"मैंने अपना सर्वस्व इस नाम पर न्योछावर कर दिया है। अब कोइ कृष्ण मिले या न मिले। मैंने तो इसी नाम पर अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है।" इसलिए कहते हैं। एक दिन चित्रा सखी ने मदनमोहन श्याम सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र का चित्र लेकर दिखाया। चित्र देखकर राधारानी बहुत मोहित हो गयीं। उसी क्षण वह रोने लग गयीं। बहुत रोने लग गईं।

पूछा सखियों ने "क्यों रोती हो सखो?"

बोलीं—"हमारा तो पातिव्रत्य भंग हो गया। अब जिएगीं नहीं।"

सखियों ने कहा—"क्यों सखी तुम्हारा पातिव्रत्य कैसे भंग हो गया?"

बोलीं—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीरवः।
एषा स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्ना सकृद्वीक्षणात्
हा धिङ्मे पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी॥[२९]

(विदग्धमाधवे, उज्जवलनीलमणावपि स्थायिभावप्रकरणे)

वृन्दावन का वर्णन सुनके श्रीराधा जी ने ललिता जी से पूछा यह सुन्दर वृन्दावन किसका है? ललिता जी ने कहा—यह श्रीकृष्ण का है। ललिता जी से कृष्ण नाम सुनते ही श्रीराधा जी ने ललिता जी से कहा—सखि! एक दिन मेरे कानों में कृष्ण नाम आया। कृष्ण नाम ने व्रीडा का विलोडन कर डाला, मथ डाला। कुलाङ्गनाओं में जो धैर्य होता है जिसके बल पर वे सतीत्व की रक्षा करती हैं उसका भी लुञ्चन कर डाला; नोच डाला। गुरुजनों का जो डर है, उसे भी छिन्न-भिन्न कर डाला। मैंने अपना सर्वस्व उस नाम पर न्योछावर कर डाला। सोचा—बस, जीवन इसी पर युग-युगान्तर-कल्प-कल्पान्तर के लिए न्योछावर है। परन्तु सखि! एक दिन किसी के मुखचन्द्र से निर्गत वेणुगीतामृत मेरे कानों में आ गया। उसने तो उन्माद की अखण्ड धारा जारी कर दिया। यह चित्र चित्रा जी लाई हैं। स्निग्ध नीले-नीले बादलों के तुल्य है यह। यह नूतन जलधर रुचिवाला, यह दिव्य चित्र है। इसे देखकर तो मेरा मन लोट पोट हो गया है। मुझे धिक्कार है। तीन पुरुषों में मेरी बुद्धि हो गई है। पतिव्रता की एक पुरुष में बुद्धि होती है। हमारी तीन पुरुषों

२९. तत्र स्थायिभावे स्वयमेव स्वशब्दाभियोगः—
"अभियोगो भवेद् भावव्यक्तिः स्वेन परेण च।"

में बुद्धि—मैं जीवित नहीं रहूँगी। अब मैं अपना प्राण त्याग दूँगी। अब मैं मरना ही श्रेष्ठ समझती हूँ।)

सखियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। बोलीं—"सखी तुम बड़ी भोली हो। अरी ओ! वह कृष्ण उसी का नाम है। ओ हो हो! उसी के मुखचन्द्र से निर्गत वेणु गीतामृत है, जिसके प्रभाव से तुम्हारे हृदय में सान्द्रोन्माद प्रेमपरम्परा का विस्तार होता है। उसी का यह मधुर मनोहर मंगलमय चित्र है।"

सखियों के ऐसा कहने पर श्रीराधारानी आश्वस्त हुईं। कहने का अभिप्राय यह कि कृष्ण नाम तो बहुतों को सुनने को मिलता है, पर कहाँ वह चमत्कार होता है? चैतन्य महाप्रभु भी कृष्ण नाम सुनते थे। उनके मन में कितना चमत्कार होता था, श्रीकृष्ण नाम सुनकर? ऐसे ही वेदान्तियों में जो अधिकारी होते हैं, उन्हें महावाक्य—श्रवण के अनन्तर ही प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न परात्पर परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। औरों के सम्बन्ध में तो—

उपनिषदः परिपीताः गीता अपि हन्त मति पथं नीताः।
तदपि न सा विधुवदना मानससदनाद् बहिर्याति॥

(उपनिषदों को घोटकर पी ही गया, गीता भी रट-रटाकर खूब ही तैयार कर लिया। पर खेद है, वह चन्द्रवदनी मन से किसी भी तरह निकलती ही नहीं। करें तो क्या करें?)

शुकदेव जी परम अधिकारी थे। उनके मन में यह श्लोक आया—बर्हापीडं····। इस श्लोक में परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र के लोकोत्तर अद्भुत स्वरूप का चित्रण है।

(१०) बर्हापीडं :—

बर्हमय आपीड माने शिरोभूषण जिनका है, मयूरपिच्छ से निर्मित दिव्य मुकुट जिनके दिव्य मंगलमय विशालभाल पर जगमगा रहा है। **'राधाप्रियमयूरस्य पत्रं राधेक्षणम्'** जिस मयूर के चन्द्रक को भगवान् ने आभूषण बनाया वह श्रीवृषभानुनन्दिनी के निकुञ्ज का है। श्रीकृष्णपरमानन्दकन्द के श्रीअंग के समान उस मयूर के कंठ की श्यामलता है। इसलिए श्रीकृष्णचन्द्र का स्मारक होने के कारण, श्रीवृषभानुनन्दिनी उस मयूर को अपने पास रखती हैं। उसी का पिच्छ भगवान् धारण करते हैं। इस पिच्छ का चन्द्रक श्रीवृषभानुनन्दिनी के नयन के समान है। इसलिए भगवान् ने वह भूषण शिरोधार्य किया है, भक्त से सम्बन्धित वस्तु को भगवान् ने अपना शिरोभूषण बनाया है। अथवा श्री राधा के शीर्ष जूट (जूड़ा) के सदृश होने के कारण भी भगवान् ने इसे धारण किया है।

(११) 'नटवर-वपुः' :—

'नटवत् वरवच्च वपुर्यस्य' नट होता है विप्रलम्भ श्रृंगार का प्रतिनिधित्व करने वाला, वर होता है संभोग श्रृंगार का प्रतिनिधित्व करने वाला। वर कहते हैं दूल्हा को। दूल्हासम्भोग श्रृंगार का प्रतिनिधित्व करता है। नट श्चासौ वरश्च नटवरः, तस्य वपुरिव वपुर्यस्य सः। नट विप्रलम्भ श्रृंगार का प्रतिनिधित्व करता है। शीतल मन्द सुगन्ध पवन नहीं है, परन्तु नट अपने अभिनय से अविद्यमान शीतल मन्द सुगन्ध पवन का अनुभव कराता है। चन्द्रोदय नहीं है, लेकिन वह अभिनय से अविद्यमान चन्द्रोदय का अनुभव कराता है। इसलिए विप्रलम्भ श्रृंगार का प्रतिनिधित्व करता है नट; संयोग श्रृंगार का प्रतिनिधित्व करता है वर। दोनों के तुल्य जिसका स्वरूप है, वह नटवर है। दूल्हा के समान भगवान् का मंगलय स्वरूप और नट के तुल्य भगवान् का मंगलमय स्वरूप। अर्थात् संभोगश्रृंगारसारसर्वस्व और विप्रलम्भश्रृंगारसारसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का स्वरूप है, भौतिक नहीं है। हमारा आपका जैसा हाड़-मांस-चाम का पुतला, ऐसा भगवान् का स्वरूप (श्री विग्रह) नहीं है। वह तो सच्चिदानन्द रस सारसरोवरसमुद्भुत सरोज है। सच्चिदानन्दरससारसरोवर में आविर्भूत सरोज। पानी के सरोवर में मिट्टी का पङ्क, मिट्टी के पङ्क से उत्पन्न सरोज की आभा-प्रभा-कान्ति का वर्णन करते-करते कवीन्द्र गण अघाते नहीं। अगर दूध से सरोवर में मक्खन के पङ्क से कोई पंकज पैदा होता हो तो उसकी सुन्दरता, मधुरता, सरसता कितनी अद्भुत होगी ? अगर अमृत सरोवर में अमृत-सार-सर्वस्व पङ्क से कोई पंकज हो तो उसकी शोभा-आभा-प्रभा कितनी अद्भुत होगी ? अगर सच्चिदानन्दरससार-सरोवर में सच्चिदानन्दरस-सार-सर्वस्व रूप पङ्क से कोई पंकज पैदा (प्रादुर्भूत) होता हो तो उस पंकज की शोभा, आभा, कैसी अद्भुत होगी ?

आनन्दवृन्दावनचम्पूकार बोलते हैं—

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिव तदोजः समभवत् ॥

(आनन्द बृन्दावन चम्पू: २।११)

(मूर्तिमान सच्चिदानन्दमय ज्योति स्वरूप श्रीकृष्ण माँ यशोदा की गोद में इस प्रकार शोभा पाने लगे—मानो चिदानन्द सरोवर से एक ऐसे नीलकमल का विकास हुआ हो जिसकी सुगन्धि आज तक भ्रमरों के द्वारा भी न सूंघी गई हो, जिसकी सुगन्धि पवनसमुदाय के द्वारा भी अपहृत न की गई हो, जो जल से भी उत्पन्न न

हुआ हो, तरंग कणों की अधिकता कभी स्पर्श तक न कर पाई हो, जिसे अब तक किसी ने देखा भी न हो। अतः ये श्याम सुन्दर क्या हैं? अनाघ्रात, अनपहृत, अनुत्पन्न, अनुपहृत, अदृष्ट सब तरह से ही दिव्यातिदिव्य नीलकमल के सदृश हैं।)

अहह! यह ऐसा अनूठा कमल है कि अभी तक इसके सौगन्ध्य का आघ्राण महामुनीन्द्र भक्तों के मनोमिलिन्द तक ने नहीं किया। भक्तों के मनोमिलिन्दों ने भक्तों के मन रूपी भौरों ने, अभी इस अनूठे, अद्भुत, अपूर्व, पंकज का सौगन्ध्य आघ्राण ही नहीं किया।

यहाँ शंका होती है—भला ऐसा कैसे हो सकता है? अनादिकाल से भक्तों के मनोमिलिन्द भगवान् के मधुरमनोहर मुखचन्द्र के अनन्त सौरस्य-माधुर्य-सौन्दर्य का रसास्वादन कर रहे हैं। फिर आप कैसे कहते हो **'अनाघ्रातं भृङ्गैः'** समाधान है—अरे, आपने सुना नहीं—

यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।
पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यच्छ्रीर्न जहाति कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भागवत १।११।३३)

(यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण उन द्वारकास्थ पट्टमहिषियों के पास एकान्त में सर्वदा रहते थे तथापि उनके श्रीचरण कमल उन्हें पद-पद पर नये-नये ही जान पड़ते। भला स्वभाव से ही चञ्चल लक्ष्मी जी जिन्हें एकक्षण के लिए भी कभी नहीं छोड़तीं उनकी सन्निधि से किस स्त्री को तृप्ति हो सकती है? अर्थात् किसी को भी नहीं हो सकती।)

भगवान् यद्यपि भक्तों को एकान्त में मिलते हैं, अकेले में मिलते हैं। भक्त लोग भगवान् के पादारविन्दसौगन्ध्यामृत का रसास्वादन करते हैं, श्रीअङ्ग के अनन्त सौन्दर्य माधुर्य युक्त सौरस्य का रसास्वादन करते हैं। भगवान् के मंगलमय मुखचन्द्र का और सुमधुर अधर सुधा रस का भी अनुभव करते हैं। तथापि उनका मंगलमय चरण-युगल प्रतिक्षण नया-नया ही प्रतीत होता है। राधारानी अनादि काल से अपने प्रियतम के मंगलमय मुखचन्द्र को निहारती हैं। मदन-मोहन श्यामसुन्दर कृष्ण चन्द्र अपनी राधारानी हृदयेश्वरी राजराजेश्वरी के मंगलमय मुखचन्द्र का अनन्त माधुर्य सौन्दर्य अनादि काल से अनुभव कर रहे हैं, पर अभी तक एक-दूसरे को पहचानते नहीं हैं। क्यों? पहचानना कहते हैं पूर्वानुभूत के अनुभव को। पूर्व में जिसका अनुभव हुआ है उसी का फिर अनुभव हो, उसको पहचान कहते हैं। आपने देवदत्त को पटना में देखा और फिर काशी में देखकर बोले—यह वही देवदत्त है। **'सोऽयं'** (यह वही है) यह प्रत्यभिज्ञा (पूर्व विज्ञात के सम्मुख उसकी स्मृति) हुई। यहाँ तो

श्रीकृष्ण राधारानी वृषभानुनन्दिनी के प्रतिक्षण नवनवायमान मंगलमय **मुखचन्द्र का** अनुभव कर रहे हैं। पूर्वक्षण में जो मुखचन्द्र के सौन्दर्य का अनुभव हुआ, द्वितीय क्षण में उससे कोटि-कोटिगुणित अधिक। तृतीय क्षण में उससे भी कोटि-कोटि गुणित अधिक। ऐसे ही श्रीराधारानी अपने प्राणनाथ प्रियतम परप्रेमास्पद मदनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र के पादारविन्दसौगन्ध्यामृत का आस्वादन करती हैं। प्रतिक्षण नव-नवायमान प्रथम क्षण में जो अनुभव किया उससे उत्तर क्षण में अनन्त-अनन्त गुणित अधिक उससे उत्तर क्षण में और अनन्त-अनन्त गुणित अधिक। इस तरह पूर्वानुभूत का अनुभव कभी हुआ ही नहीं। नित्यनूतन स्वरूप है। इसलिए ठीक कहते हैं—**'अनाघ्रातं भृङ्गैः'** बिल्कुल नया है, नवनवायमान है, इसलिए भक्तों के मनोमिलिन्दों ने अभी तक इस रस का आस्वादन नहीं किया। अभी तक व्यास-वसिष्ठादि मुनीन्द्र-योगीन्द्र आदिकों ने इसके यशः सौरभ को दिग्दिगन्त में विस्तीर्ण नहीं किया। यद्यपि अनादिकाल से व्यास-वसिष्ठादि भगवान् के अनन्तयशःसौरभ को दिग्दिगन्त में विकीर्ण कर रहे हैं। तो भी उनको लगता है, यह चरित्र नया है। ये चरित्र नायक, ये मदन-मोहन श्याम सुन्दर, इनका तो अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य, इनका अनन्त यश बिलकुल नवनवायमान है। सच्चिदानन्द रस से भी उत्कृष्ट माना जाता है शृंगार रस। **'रसो वै सः'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१) वही रस है। **सः=कृष्णः**, वही रस है। कौन रस है? संप्रयोगात्मक शृंगाररससमुद्र विप्रलंभात्मक शृंगाररससमुद्र दोनों उद्वेलित हैं। दोनों में ज्वार है, भाटा किसी में नहीं। कहते हैं, समुद्र में कभी ज्वार आता है, कभी भाटा आता है, दोनों का विरोध है। जहाँ संयोग शृंगार वहाँ विप्रलभ नहीं, जहाँ विप्रलंभ शृंगार वहाँ संयोग नहीं। परन्तु कृष्ण में दोनों एक काल में है। क्योंकि वे सकल विरुद्धधर्माश्रय हैं। भगवान् सकल विरुद्ध धर्म के आश्रय हैं। अणोरणीयान्महतोमहीयान् (कठोपनिषद् १।२।२०) उसी समय भगवान् अणोरणीयान्, उसी समय महतोमहीयान्। इसलिए संयोगात्मक शृङ्गार, विप्रयोगात्मक शृङ्गार दोनों एक काल में उद्बुद्धसंभोगात्मक, विप्रलंभात्मक उभयविध शृंगाररससारसर्वस्व भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप है। इसलिए **'नटवर वपुः'='नटेभ्योऽपि वरं वपुर्यस्य सः' "नटेभ्योऽपि वरं, नटराजेभ्यः, नटराज-राजेभ्योऽपि वरं वपुर्यस्य"** इनका मंगलमय स्वरूप ऐसा है कि नटों से भी श्रेष्ठ, नटराज से भी श्रेष्ठ, नटराजराज से भी श्रेष्ठ, नटराजराज भगवान् शङ्कर हैं।

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

'अइ उण्। ऋ लृक्। ए ओङ्। ऐ औच्' ये सब सूत्र भगवान् भूतभावन सदाशिव के डमरू से निकले। वे अन्नपूर्णा राजराजेश्वरी भगवती को सिंहासन पर

विराजमान करके उनके सामने नृत्य करते हैं। उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए भगवान् शंकर का नृत्य होता है। पर भगवान् श्रीकृष्ण का तो नटराजों से भी श्रेष्ठ वपु हैं। कालिय नाग पर किसने नाचा? भगवान् शंकर तो कैलास पर्वत पर नृत्य करते हैं, पर श्रीकृष्ण तो कालियनाग के फणों पर नृत्य करने वाले हैं। नटों से, नटराजों से नटराजराजों से भी अत्यन्त सुन्दर मधुर जिनका वपु है, जिनके श्रीविग्रह में सकल सुन्दरताओं का सन्निवेश है **विभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं**; (भाग ११।१।१०), जो मूर्ति त्रिलोकी के सौन्दर्य का तिरस्कार करने वाला है, **स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्**, (भाग ११।१।६); ऐसे नटवर वपु हैं श्रीकृष्ण। नट का तात्पर्य द्विभुजत्व में है। व्रजलीला का सर्वस्व तो द्विभुजत्व ही है। इसलिए **'नटवरवपुः'** कहा। चतुर्भुजत्वादि भगवान् का ऐश्वर्य भाव है। उसका प्रभाव माधुर्यभाव के प्राकट्य में नहीं। जैसे सूर्य के सामने चन्द्र का प्रकाश नहीं, वैसे ही माधुर्यभाव के विकाश में—प्राखर्य में, ऐश्वर्यभाव का प्रकाश नहीं। श्रीवृषभानु-नन्दिनी में माधुर्यभाव का पूर्ण प्रकाश है।

(१२) 'कर्णयोः कर्णिकारं' :—

दोनों कानों में कर्णिकार (पुष्प विशेष) है। कान तो दो हैं, पर कर्णिकार एक है। मानो संयोगात्मक भाव दिखाने के लिए एक कान के साथ कर्णिकार का सम्बन्ध है और दूसरे के साथ विप्रलंभ की लीला है। इस तरह संभोगात्मक-विप्रलंभात्मक उभयविध शृङ्गार रस का अभिव्यंजक है कर्णिकार। **'कर्णयोः'** द्विवचन, **'कर्णिकारं'** एकवचन है। अतः उसमें भी द्वित्व की कल्पना कोई करते हैं। अथवा कनेर तो एक ही है, कभी उसी को वाम कान में धारण करते हैं तो कभी दक्षिण में। कोई ऐसा भी कहते हैं—कर्णिकार का अर्थ कनेर नहीं है, पीतवर्ण का उत्पलाकार पुष्प (सूर्यमुखी) है। उसका स्वभाव है, सूर्याभिमुख रहना। कर्णिकार के इस स्वभाव को जानकर, उसको श्रीकृष्ण ने धारण किया कि हमारे प्रेमी जिधर मुँह करते हैं, उधर ही मैं भी अभिमुख होता हूँ। एतावता जिधर भक्तगण उधर ही उभयविध शृङ्गार रस उन्मुख।

(१३) 'बिभ्रद्वासः कनककपिशं' :—

जैसे अग्नि में तपाया हुआ कनक देदीप्यमान, चमचमाता है, ऐसे ही चमचमाते हुए पीताम्बर धारण किये हुए हैं श्याम सुन्दर। यह शृङ्गार है, शृङ्गार आवृत होना चाहिए। निरावरण शृङ्गार रसाभास बन जाता है। रस सावरण होकर ही शोभा देता है। निरावरण रस शोभित नहीं होता। फिर भगवान् तो रससार-सर्वस्व हैं, निखिलरसामृतमूर्ति हैं। संप्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध-उभयविध शृङ्गाररससारसर्वस्व ही हैं। अतः उनका प्रावरक पीताम्बर है। माया के स्वरूप में विमोहकता और प्रावरकता है। पीताम्बर में भी विमोहकता और प्रावरकता

है। माया त्रिगुणमयी होती हुई भी एक सी परिलक्षित होती है। पीताम्बर भी गुण-(सूत्र) मय होता हुआ एक-सा प्रतीत होता है। इन सब दृष्टियों से पीताम्बर माया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गी० ७।२५)

(गुणों के मेल का नाम योग है, वही माया है। उस योगमाया से आच्छादित होने के कारण मैं सब लोगों के सामने प्रकट नहीं हूँ। किन्हीं भक्तों के सम्मुख ही प्रकट हूँ। इसलिए मूढ़ प्राणी प्रकट रूप से मुझ अज, अविनाशी को नहीं जानते हैं।)

माया का चाकचिक्य देखकर लोग लोटपोट हो जाते हैं। दामिनीद्युतिविनिन्दक पीताम्बरसमावृत नवनीलधर जैसी पीताम्बरधर मदनमोहन श्यामसुन्दर की आभा प्रभा शोभा कान्ति है।

'कनक कपिशं' केवल पीताम्बर नहीं, किन्तु तप्तकांचन के सदृश सुवर्ण वर्णाम्बर है। क्यों? इसलिए कि सुवर्ण मोहक है। बड़े-बड़े ईमानदारों का ईमान डुबाने वाला सुवर्ण ही होता है, अतः सुवर्णवर्ण पीताम्बर व्यामोहक कनकतुल्य माया है। जो इस कनक के आवरण में फँसा तो रमात्मा ब्रह्म को क्या देखेगा? ऐसे आवरण में अपने श्रीअंग को आवृत कर भगवान् श्रीवृन्दावन धाम में पधारे।

भावुक कहते हैं। श्रीवल्लभाचार्य भी मानते हैं पीताम्बर माया है। पर यह प्राकृत माया नहीं, किन्तु यह श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं। किं बहुना! श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द कन्द के श्रीअंग पर जितने भर भी आभूषण हैं, सब श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं। जहाँ वनमाला को माया माना है, वहाँ भी यही समझना चाहिए कि माया के स्वरूप में अनेकता, आह्लादकता और आच्छादकता है। वनमाला में भी यही सब हैं। इस दृष्टि से वनमाला माया है—

स्वमायां वनमालाख्यां नानागुणमयीं दधत्।
वासश्छन्दोमयं पीतं ब्रह्मसूत्रं त्रिवृत् स्वरम्॥

दामिनी से अनन्तगुणित पीताम्बर है।[30] उस पीताम्बर से परिवेष्टित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का मधुर मंगलमय स्वरूप श्रीशुकदेव जी के मन में आया।

---

३०. "गुण साम्यावस्था स्वरूप प्रकृति को प्रभु पीताम्बर के व्याज से धारण करते हैं। कार्यावस्थापन्न स्थूलमाया अविद्या को गुणवैषम्यावस्थापन्न विकृति-प्रकृति को प्रभु वनमाला के व्याज से धारण करते हैं।" महानुभावों ने ऐसा भी कहा है।

(१४) 'रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्' :—

शृंगाररससर्वस्व श्रीकृष्ण वेणु में अपने मंगलमय मुखचन्द्र का सुमधुर अधर सुधामृत उड़ेल रहे हैं। यह वंशी तृप्त ही नहीं होती। और पिलाओ, और पिलाओ। श्रीकृष्णचन्द्रपरमानन्दकन्द के मुखचन्द्र के सुमधुर अधरामृत का पान करते-करते वंशी अघाती ही नहीं। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण का स्पर्श ही ऐसा है कि सूखा वृक्ष भी हरा हो जाता है। पाषाण भी नवनीत (मक्खन) के तुल्य कोमल होकर बह चलता है। पर बाँस की वंशी अधर-सुधा रस का पान करके भी पल्लवित नहीं हुई, हरी-भरी नहीं हुई। इसका छिद्र भी नहीं पूरा हुआ।

> **गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-**
> **र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।**
> **भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो**
> **हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥**
> (भागवत १०।२१।९)

[व्रजांगनाएँ कहती हैं, सखी! वेणु पुमान् है। पुरुष जाति का होकर भी इसका सौभाग्य तो देखो। हम व्रजाङ्गनाओं की निधि, हमारे प्रेमपाश में बँधे व्रजेन्द्रनन्दन दामोदर की अधर सुधा है। उसे ही यह बिना हमारी अनुमति के पिए जा रहा है। यद्यपि हमारे दामोदर हैं अनन्त। उनकी अधर-सुधा भी अनन्त है। पर यह ऐसे पिए जा रहा है, मानो हमारे लिए कुछ बचने ही नहीं देगा? इस वेणु को अपने रस से सींचने वाली ह्रदिनियाँ आज कमलों के मिस (बहाने) रोमांच कण्टकित हो रही हैं। अपने वंश में भगवत्प्रेमी सन्तानों को देखकर श्रेष्ठ पुरुषों के समान वृक्ष भी इस वेणु के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आँखों में आनन्दाश्रु बहा रहे हैं।]

एक सखी कहती है—"अरी सखियों! बताओ तो सही! कौन-सा चातुर्य है इस वेणु में? कुछ भी तो नहीं। श्रीकृष्ण परमानन्द के मुखचन्द्र के सुमधुर अधरामृत का पान करता हुआ शुष्क-का-शुष्क सच्छिद्र-का-सच्छिद्र ज्यों-का-त्यों बना है। देखो तो सही गाँठें भी तो ज्यों-की-त्यों ही बनी हुई हैं। सच है, जो सच्छिद्र और सग्रन्थि होता है, उसे अध्यात्मतत्त्व का अनुभव नहीं होता। यह वेणु पोला है, पोला। पोल पट्टी वाला होने के कारण भी अनधिकारी है। कहते हैं, मलयाचल के सम्बन्ध से निब भी चन्दन हो जाता है। लेकिन बाँस तो बाँस ही रहता है। आखिर ऐसा क्यों? बस इसलिए कि बाँस में पोलापन है और ग्रन्थि है। यह वेणु भी पोला और गाँठवाला होने के कारण अधरामृत पान करते रहने पर भी शुष्क-का-शुष्क ही बना हुआ है। **'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति'** सखी सच है, यह वंशी सच्छिद्र है। इसी से यह अनर्थ करने में ही तुली रहती है।"

दूसरी सखी कहती है —"हे सखी ! तुम समझती नहीं। अरी ! यह वंशी चतुर है, चतुर। इसने समझा, प्रीति को छिपाना चाहिए। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्द के मंगलमय मुखचन्द्र के सुमधुर अधरामृत का पान करके अगर रसोद्रेक हो गया, अगर मैं पल्लवित हो गयी, निश्छिद्र हो गई तो श्यामसुन्दर मुझे क्यों रखेंगे ? त्याग देंगे। वह रसाभिव्यक्ति किस काम की जिससे प्रियतम बिछुड़ जाँय। इसलिये अपने रस को यह छिपाये जाती है। **'गुप्तप्रेम सखी सदा दुरैये'** प्रेम का सदा छिपाइये।"

भावुकों का यह भी कहना है—सम्पूर्ण षड्भग (ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य) सम्पन्न अचिन्त्य अखण्ड अनन्त रस धर्मी पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वपु में सप्त छिद्र हैं। अतः षट् छिद्रों द्वारा एक-एक भग-धर्म एवं सातवें छिद्र द्वारा षट्-धर्म सहित भगवान् अधरसुधा द्वारा वंशी में प्रवेशकर, तद्द्वारा श्री व्रजांगनाओं के हृदय में प्रवेश करते हैं।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
(वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतींगना)
(विष्णु पुराण ६। ।७४)

(समग्र ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री एवं सम्पूर्ण ज्ञान, वैराग्य जिनमें विद्यमान हों; उन्हें भगवान् कहा जाता।)

बाँस की वंशी साक्षात् विश्वनाथ हैं। **'वंशस्तु भगवान् रुद्रः। शृंगमिन्द्रः सगोसुरः'** (कृष्णोपनिषद्)। वंशी साक्षात् रुद्र ही हैं। श्रीकृष्ण को भगवान् रुद्र की उपासना की जरूरत पड़ी। जैसे गोपियों को कृष्ण प्राप्ति के लिए कात्यायनी भगवती की आराधना करनी पड़ी, ऐसे ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन को श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी नित्य निकुञ्जेश्वरी को प्राप्त करने के लिए भगवान् रुद्र की उपासना करनी पड़ी।

इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधे॥
रामचरितमानस १।६९।८)

शिव की आराधना के बिना इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती। महाराज दशरथ और जनक के बारे में कहते हैं—

जनक सुकृत मूरति बैदेही। दशरथ सुकृत रामु धरे देही॥
इन्ह सम काहुँ न शिव अवराधे। काहुँ न इन्ह समान फल साधे॥
(रामचरितमानस १।३०९।१,२)

इनके समान किसी ने शिव की आराधना ही नहीं की। इनको शिव की कृपा से ही रामचन्द्र राघवेन्द्र परात्पर परब्रह्म मिले। तो श्रीकृष्णचन्द्र को भी राधारानी वृषभानुनन्दिनी जैसी दुलहिन पाने के लिए तपस्या करनी पड़ी, शिव जी की आराधना करनी पड़ी। भगवान् शंकर भी श्रीकृष्ण के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए कैलास छोड़कर आए। बाँस बने। काटे-पीटे गये। तपाये गये। इसलिए कि बाँस की वंशी बनें और श्याम सुन्दर के मंगलमय मुखचन्द्र पर विराजें। श्रीकृष्ण ने वंश रूप रुद्र की उपासना की। उपासना के लिए पहले सिंहासन चाहिए। शिव जी को कहाँ विराजमान करायें ? अपने मंगलमय मुखचन्द्र पर। श्रीकृष्णचन्द्रपरमानन्दकन्द का मुखचन्द्र ही रुद्ररूपी वंशी का सिंहासन बना। श्रीकृष्ण ने मुकुट को ही छत्र बना दिया। कानों के कुण्डलों से ही नीराजन (आरती) किया। अंगुलिदलों से पाद-संवाहन किया—पैर दबाया। भोग भी चाहिए, नैवेद्य भी चाहिए। तो सुमधुर अधर सुधारस का भोग लगाया। नैवेद्य निवेदन किया। फिर क्या था ? भगवान् रुद्र प्रसन्न हो गये। बोले—**'वरं ब्रूहि'** वर तो वही था। भगवान् रुद्र ने कहा—एक बार बजाओ मुझको। देखो तो सही श्रीराधारानी कैसे नहीं मोहित होती हैं ? सचमुच में श्रीराधारानी वंशीरव को सुनते ही सान्द्रोन्मादपरम्परा को प्राप्त हो गईं।

(१५) 'वृन्दारण्यं स्वपदरमणं' :—

वृन्दावन कैसा ? **'स्वपद रमणं' 'स्वपदं वैकुण्ठधाम तस्मादपि रमणम्। किं वा, स्वपदेन स्वस्य पदमधिष्ठानं तेन रमणम्'**। वैकुण्ठ दो प्रकार का है। १. भौम वैकुण्ठ और २. परम वैकुण्ठ। श्रीवृन्दावन भौम वैकुण्ठ है। यह परम वैकुण्ठ से भी रमण है। वैकुण्ठवासी यहाँ आये, वह भी यहाँ आया। जहाँ भगवान् जाते हैं वहीं उनका धाम भी पधारता है। इसी अभिप्राय से सुमित्रा लखनलाल (लक्ष्मण) से कहती हैं—

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥
(रामचरितमानस २।३।३)

किं वा **'स्पदयोः रमणं रमणजनकं इति स्वपदरमणम्'** भगवान् के मंगलमय चरणारविन्दों को भी आनन्द देने वाला है। **'स्वपदरमणं' = 'स्वस्याः आत्मीयायाः वृषभानुनन्दिन्याः पदैः रमणम्** अर्थात् श्रीवृषभानुनन्दिनी के मंगलमय चरणारविन्दों से सुशोभित श्रीवृन्दावन धाम में श्रीकृष्ण पधारे। पुनः कैसे वृन्दावन में पधारे ? दैत्यभोग्या वृन्दा भगवत्कृपा से भगवदीया हो गई। उस वृन्दा का अरण्य ही वृन्दारण्य है। अथवा **'वृन्दायाः वनं यौवनं वृन्दावनम्'** वृन्दा का यह यौवन है।

यह वृन्दावन वृन्दा का देदीप्यमान स्वरूप ही है। हर स्थिति में प्रियतम श्रीकृष्ण के चरणाविन्दों में सुशोभित होना—यही वृन्दा की अद्भुत स्थिति है। जहाँ प्रभु शालग्राम विराजमान हों, वहाँ वह तुलसी रूप में सेवा करती है। जब प्रियतम, प्राणधन, पूर्णतम पुरुषोत्तम रूप में प्रभु ने व्रज में अवतार लिया तब वह यहाँ वृन्दावन में प्रकट हुईं। यहाँ जो यमुना है, वह वृन्दा के हृदय की प्रेमानन्दरस सरिता है। जो तरु हैं बह रोमाञ्च और भूमि ही देह है। इसलिए ब्रजाङ्गनाएँ ईर्ष्या करती हैं—सखि ! मदनमोहन श्यामसुन्दर वृन्दावन धाम में पधारे हैं। यहां सब विपरीत ही विपरीत हो रहा है। हमारी अधरसुधा का वे कितना दुरुपयोग करते हैं। सखि ! जड़, सच्छिद्र, शुष्क बाँस के छिद्रों में वे भरते हैं। हम चाहती हैं, हमारे हृदय में उनके चरणाविन्द स्थापित हों। पर नहीं ! वे वृन्दारण्य में पधारे।

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम्॥
किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने।
यच्छन् प्रियतमं किं नु रक्तास्तन्मातरो यथा॥
पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम्॥
यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्।
कृष्णमुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो नु मातरः॥
पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम्।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलप्रदः॥
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः॥
(भागवत १०।६।३५-४०)

(पूतना संसार के बालकों को मार डालने वाली और रक्तपान करने वाली राक्षसी थी। उसने भगवान् को दूध तो पिलाया सही, परन्तु मारने की इच्छा से ही। उसे सद्गति प्राप्त हुई। फिर जिन्होंने परमात्मा कृष्ण को माता के समान स्नेह पूर्वक श्रद्धा और भक्ति से उनकी मनचाही वस्तुएँ दीं, उन गोपियों की सद्गति के विषय में तो कहना ही क्या है ? जिसके अङ्गों पर श्रीहरि ने अपने लोकवन्द्य देवताओं के भी पूज्य भक्तों के हृदय में निरन्तर विराजमान रहने वाले चरणों से चढ़कर स्तनपान किया, वह पूतना राक्षसी होकर भी जब माता को प्राप्त होने योग्य परमगति रूप स्वर्ग लोक को प्राप्त हुई। फिर जिसके स्तन का पान भगवान् ने स्वयं किया,

उन गौवों और माताओं की तो बात ही क्या है ? हे राजन् ! कैवल्यादि सर्व प्रकार की मुक्तियों को देने वाले भगवान् देवकीनन्दन ने जिनका पुत्रस्नेह से स्वयं ही झरता हुआ दूध पिया, श्रीकृष्ण में निरन्तर पुत्रभाव करने वाली उन गौ और गोपियों को फिर कभी अज्ञानजन्य संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती ।)

(१६) अकारण करुण करुणावरुणालय—'भगवान्'

सत्य है ! भगवान् जैसा अकारणकरुण करुणावरुणाल संसार में कोई नहीं । बकी (पूतना) राक्षसी थी, राक्षसी का काम भी बड़ा भयंकर था—बालकों की हत्या करना । भोजन-ओजन भी विचित्र ही रुधिर और माँस । वह आयी भगवान् श्यामसुन्दर मदनमोहन से नाता जोड़ने । नाता जोड़ने क्या ? मारने आई । लक्ष्मी जैसी सुन्दर बनी । बड़ी सुन्दरी बनी, बड़ी सुन्दरी । स्तनों में कालकूट जहर लगाया । श्यामसुन्दर को उठा लिया गोद में । स्तन मुख में लगा लिया । श्यामसुन्दर ने जाना—यह घूँटी पिलाने आयी है, घूंटी । कड़वी तो होती है घूँटी । भगवान् ने उसका स्तन पिया और उसके साथ प्राणों को भी ले लिया । दूध भी, जहर भी, प्राण भी । इन सबकी घूँटी विलक्षण घूंटी । घूँटी देने वाली अम्मा का महत्त्व होता है । सुपुत्र कृतज्ञ होता है । भगवान् ने पूतना को माता की सद्गति प्रदान की ।[३१] इतनी ऊँची गति प्रदान की कि इससे अधिक और ऊँची क्या गति प्रदान कर सकते थे ? एक दिन ब्रह्मा जी ने कहा—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिंता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ।।

(भागवत १०।१४।३५)

(देवों के भी आराध्य प्रभो ! इन ब्रजवासियों को इनकी सेवा के बदले आप क्या देंगे ? सम्पूर्ण फलों के भी फल-परमफल तो आप ही हैं । आप से बढ़कर ओर कोई फल तो है ही नहीं, यह सोचकर मेरा मन मोहित हो रहा है । आप इन्हें अपने आप को देकर भी तो उऋण नहीं हो सकते । क्योंकि आपके स्वरूप को तो अघासुर,

---

३१. ऐसी कवन प्रभु की रीति ?
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ।।१।।
गई मारन पूतना कुच काल कूट लगाइ ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु यादवराय ।।२।।
(विनय पत्रिका २१४)

बकासुर आदि कुल कुटुम्ब सहित पूतना ने भी प्राप्त कर लिया। उस पूतना ने जिसका कि केवल वेष ही साध्वी स्त्री का था, परन्तु जो हृदय से महान् कूट-दुष्टा थी। फिर जिन्होंने अपने घर, धन, स्वजन, प्रिय, शरीर, पुत्र, प्राण और मन सब आपके श्रीचरणों में ही समर्पित कर दिया है, जिनका सब कुछ आपके ही लिए है, उन ब्रजवासियों को भी वही फल देकर आप भला कैसे उऋण हो सकते हैं ?)

हमारा मन चिन्तित रहता है, हे श्याम सुन्दर मदनमोहन ! इन भक्तों के ऋण से कैसे छुटकारा पाएगें ? इनसे कैसे उऋण होएँगे ?

भगवान् ने कहा—"ब्रह्मा जी ! कहीं तुम पागल तो नहीं हो गये हो ? अरे ! अनन्तब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर हूँ। साम्राज्य दें, स्वाराज्य दें, वैराग्य दें, अनन्त धन धान्य दें, क्या नहीं दे सकते, सब कुछ प्रदान कर सकते हैं। फिर क्या प्रश्न करते हो।"

ब्रह्मा ने कहा—"हाँ, हाँ ठीक है। आप क्या देंगे ? साम्राज्य स्वाराज्य, वैराज्य, अनन्त धनधान्य हैं क्या ? विन्दु ही तो। कहाँ का विन्दु ? अचिन्त्य अनन्त सुधासिन्धु का विन्दु। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मादि देव शिरोमणियों का आनन्द बिन्दु मात्र है। वह कहाँ से आता है ? अचिन्त्य अनन्त सुधा सिन्धु से। इनके मणिमय प्रांगण में अचिन्त्य अनन्त परमानन्द सुधासिन्धु मूर्तिमान् होकर धूलि धूसरित होकर 'थई, थई' करके खेल-खेल रहा है। इन्हें भला विन्दु का प्रलोभन ? विन्दु देकर इनके ऋण से उऋण होओगे ? साम्राज्य देकर, स्वाराज्य देकर। अनन्त धनधान्य देकर अर्थात् कण देकर उन्हें सन्तुष्ट करोगे ? जिनके प्रांगण में अचिन्त्य अनन्त परमानन्द सुधा सिन्धु ही आपके रूप में क्रीड़ा कर रहा है। इसलिए आपकी बात जमी नहीं।"

श्रीकृष्ण—'अच्छा ठीक है', '**तर्हि आत्मानमेव दास्यामि।**' अपने आपको दे डालेंगे तब तो अनृण हो जाएँगे ?

ब्रह्मा—न महाराज ? अपने आपको दे डालने से भी नहीं अनृण होंगे।

श्रीकृष्ण—क्यों ?

ब्रह्मा—आपने तो पूतना को भी आत्मसमर्पण कर दिया। फिर इन्हें पूतना से ज्यादा क्या दिया ? धात्री की जो उचित गति है, वही गति पूतना को प्रदान किया तो क्या किया ? तो बोलिये कैसे ऋण से उऋण होंगे ?

भगवान्—"तब तो ब्रह्मा जी ! इनके कुल कुटुम्बों को भी आत्मदान करेंगे।"

ब्रह्मा ने कहा—"भगवन् ! यह तो बताइये, पूतना का कौन-सा कुलकुटुम्ब बाकी बचा ? तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर इन सबको आपने आत्मदान

किया। तो फिर महाराज जिसने मारने की इच्छा से आपके मुख में कालकूट विष मिश्रित स्तन्य दिया उसको और जिन्होंने अपना अन्तःकरण अन्तरात्मा सर्वस्व आपके चरणों में न्योछावर कर रखा है, उनको भी वही आत्मदान। यह तो 'अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' वाली बात हुई। 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' वाली कथा प्रसिद्ध ही है।

एक राजा था चौपट राजा। गुरु-चेला विचरण करते हुए उसी राज्य में पहुँचे। चेला जी ने कहा—"गुरु जी यहीं रहना चाहिए। यहाँ तो टके सेर भाजी और टके सेर खाजा है। यहीं मौज से रहेंगे।"

गुरु जी ने कहा—"भाई खतरा है यहाँ रहना।"

चेला ने कहा—अब कुछ भी हो जो होगा देखा जायगा। खतरा भी देख लेंगे। टका सेर खाजा लेकर खायेंगे, आनन्द से रहेंगे।

दैवात् वहाँ एक चोर पकड़ा गया। मुकदमा हुआ तो चोर ने उजूरदारी की—"साहब इनकी दीवार कमजोर थी। न जाने कैसी बनाई थी। सेंध काटते समय दीवाल गिर पड़ी, हमारे पैर में चोट आ गई। इनको दण्ड मिलना चाहिए, मुझे क्यों दण्ड मिलना चाहिए?"

न्यायाधीश ने कहा—"हाँ, ठीक कहते हो। जिसने मकान बनाया उसी को दण्ड मिलना चाहिए। उसे फाँसी की सजा मिले।"

पता लगाया गया तो पता चला—"यह बहुत दुर्बल है, फाँसी पर चढ़ने योग्य नहीं है।"

साहब ने कहा—"किसी मोटे आदमी को पकड़ लाओ। फाँसी देना ही है, किसी मोटे को पकड़ लाओ।"

बस गुरु चेला खाजा खा-खाकर खूब मोटे ताजे हुये थे, वे ही पकड़ कर ले जाये जाने लगे।

चेला जी ने कहा—"गुरु जी! यह तो खतरा हो गया।"

गुरु जी ने कहा—"हाँ भाई खतरा तो हो गया। मैंने तो पहले कहा था—अन्धेर नगरी में मत रहो।"

चेला जी ने कहा—"अब क्या करेंगे?"

गुरु जी ने कहा—"जब फाँसी होने लगे तो तुम कहना 'मैं फाँसी पर चढूंगा', मैं कहूँगा मैं फाँसी पर चढूंगा।"

सचमुच में हुआ भी ऐसा ही। गुरु-शिष्य 'हम फांसी पर चढ़ेंगे, हम फांसी पर चढ़ेंगे।' कहकर झगड़ने लगे। दोनों को बुलाया गया। राजा के सम्मुख पेश किया गया। राजा ने पूछा—"क्या बात है भाई, फाँसी तो खराब होती है, तुम दोनों फांसी के लिए क्यों झगड़ते हो?"

गुरू-शिष्य ने कहा—"महाराज! आज जो फाँसी पर चढ़ेगा, बस उसी को अखण्ड भू-मण्डल का राज्य प्राप्त होगा।"

राजा ने कहा—'तुम दोनों हटो, हम फाँसी पर चढ़ेंगे।' यह है 'अन्धेर नगरी चौपट राजा' की बात। तो भाई! यहाँ पूतना को भी वही आत्मसमर्पण और इन भक्तों को जिन्होंने सर्वस्व आपके चरणों में अर्पण कर रखा है, उनको भी वही आत्मसमर्पण। यह तो गलत है।

ऐसे करुणावरुणालय हैं श्री भगवान् आनन्दकन्द परमानन्द श्रीकृष्ण चन्द्र मदन मोहन। 'अहो बकी यं.....' इस श्लोक को सुनकर श्री शुकदेव जी को आश्वासन हुआ। उन्होंने बालकों से पूछा—'तुमने कह श्लोक कहाँ से याद किया है? बालकों ने कहा—"हमारे गुरुदेव श्री व्यास भगवान् ने एक अष्टादश सहस्र श्लोकों की महासंहिता रची है। ये श्लोक उसी के हैं।"

विद्यार्थियों के मुख से श्रीमद्भागवत के इन श्लोकों को सुनकर श्री परमहंस जी की श्रीमद्भागवत के अध्ययन में प्रीति और प्रवृत्ति हुई।

अध्ययन करने में एक दूसरा भी हेतु था। भगवान् शुकदेव जी को सर्वदा विष्णुभक्तों का संग प्रिय था। श्रीमद्भागवत वैष्णवों का परम धन है। इसके कारण उन्हें सदा ही वैष्णवों का सहवास प्राप्त होता रहेगा। इस दृष्टिकोण से भी उन्होंने इसका अध्ययन किया। ऐसे सर्वभूतहृदय परमहंस श्रीशुक की वन्दना सूत जी ने की।

तृतीय-पुष्प

श्री सूत जी महाराज ने शकदेव जी की वन्दना की। यह स्पष्ट हुआ कि श्रीशुकदेव जी महाराज ही श्रीमद्भागवत के मुख्य वक्ता हैं। श्रीमद्भागवत साक्षात् श्रीभगवान् का स्वरूप ही माना जाता है। जिसके घर में श्रीमद्भागवत विराजमान हैं मानो साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मदन-मोहन प्रभु विराजमान हैं, क्योंकि व्यापक सिद्धान्त है कि प्रकाशक प्रकाश्य से अधिक महत्त्ववाला होता है। जिसके द्वारा प्रकाश्य सार्थक हो, उसकी महिमा स्वाभाविक रूप से है। यद्यपि भगवान् स्वयं प्रकाश हैं[32], उनका प्रकाशक कोई दूसरा नहीं हो सकता। उनसे दूसरी वस्तु तो वही हो सकती है, जो परतः प्रकाश्य हो। परतः प्रकाश्य से स्वतः प्रकाश्य प्रकाशित हो ऐसा-संभव नहीं। भगवान् स्वप्रकाश हैं। अवेद्य होकर अपरोक्ष व्यवहार योग्य होना यह स्वप्रकाश का लक्षण है। **'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम् स्वप्रकाशत्वम्'** ऐसा स्वप्रकाश ब्रह्मात्मा ही सिद्ध होता है। वही वेदन का गोचर (विषय) न होकरके अपरोक्ष व्यवहार के योग्य है।

दुनियाँ में कहा जाता है—'दीप भी स्वप्रकाश है', पर नहीं। दीपक में स्वप्रकाशता वास्तविक नहीं। दीपक स्वजातीय प्रकाशानपेक्ष है। दीपक दीपकान्तर की अपेक्षा नहीं करता, परन्तु चक्षु न होगा तो दीपक का क्या प्रकाश है? लोक में कहा जाता है—"सूर्य नारायण भी स्वप्रकाश हैं। सूर्य नारायण के प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं। लालटेन, गैस आदि की भी अपेक्षा नहीं। बिना दीपक, लालटेन, गैस के बिना सूर्यान्तर के सूर्यनारायण का प्रकाश होता है।"

लेकिन सूर्यनारायण के प्रकाश के लिए भी आँख चाहिए। आँख न होगी तो सूर्य को कैसे जानोगे? मन न होगा, बुद्धि न होगी तो सूर्य को कैसे जानोगे? इसलिए इनमें स्वप्रकाशता सापेक्ष है. निरपेक्ष स्वप्रकाशता नहीं। निरपेक्ष स्वप्रकाशता भगवत्स्वरूप आत्मा में ही है। उसे सजातीय, विजातीय किसी भी प्रकार के प्रकाश की अपेक्षा नहीं, न सजातीय प्रकाश की अपेक्षा, न विजातीय प्रकाश की अपेक्षा। ऐसा स्वप्रकाश आत्मा होता है, सर्वद्रष्टा आत्मा[33]।

---

३२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)
अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति (वृहदारण्यको पनिषद् ४।३।९)
'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति', (मुण्डको २।२।१०)
'अस्मात्सर्वस्मात्पुरतः सुविभातम्' (नृसिंहोत्तर० २)

३३. 'अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम्' (पंचदशी ३।२८) इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वाभावेऽप्यपरोक्षत्वात् स्वप्रकाश इत्यर्थः।

इसलिए श्रुति कहती है—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात् (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।१५) **'जो सबका विज्ञाता है, उसको किससे जानें ?'**

विज्ञाता क्या है ? इस पर श्रुतियाँ कहती हैं—इस परात्पर परब्रह्म भगवान् को छोड़कर दूसरा कोई द्रष्टा नहीं, दूसरा कोई श्रोता नहीं, दूसरा कोई मन्ता नहीं, दूसरा कोई विज्ञाता नहीं। द्रष्टा, विज्ञाता, श्रोता किसी प्रकाश की अपेक्षा बिल्कुल नहीं करता—

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृ श्रुतं श्रोत्रमतंमन्त्र विज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चति। (बृहदारण्येकापनिषद् ३।८।११)

(हे गार्गि ! यह अक्षर स्वयं दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है। श्रवण का विषय नहीं, श्रोता है। मनन का विषय नहीं किन्तु मन्ता है। स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का विज्ञाता है। इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है। इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है। इससे भिन्न कोई नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है।)

इस प्रकार से जब सर्वत्र द्रष्टा, श्राता, मन्ता और विज्ञाता का प्रकाश है तो जो परमात्मा ही द्रष्टा, श्रोता, विज्ञाता है, वह क्यों न स्वप्रकाश हो ? इसलिए अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक सर्वद्रष्टा, सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी भगवान् स्वप्रकाश हैं। यह सब होने पर भी सभी भगवान् को नहीं जानते। अज्ञानी से पूछो कि परब्रह्म को जानते हो ? **पूर्णं ब्रह्म जानासि ?'** वह कहेगा, नहीं। इसलिए अज्ञान मानना पड़ा। तो अज्ञान कैसा ? जैसा कि हमने पहले कहा। जैसे—प्रचण्ड मार्तण्ड मण्डल में

अत्रायं प्रयोगः—आत्मा स्वप्रकाशः संवित्कर्मतामन्तरेणाऽपरोक्षत्वात् संवेदनवदिति। न च विशेषणासिद्धो हेतुः। आत्मनः संवित्कर्मत्वे कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात्। स्वस्वरूपेण कर्तृत्वं विशिष्टरूपेण कर्मत्वमित्यविरोध इति चेत् गमनक्रियायामपि एकस्यैव स्वरूपेण कर्तृत्वं विशिष्टरूपेण कर्मत्वमित्यतिप्रङ्गात्। न च साधनविकलो दृष्टान्तः। संवेदनस्य संवेदनान्तरापेक्षायामनवस्थानादिति। तर्कमते घटो घटज्ञानेन भासते घटज्ञानमनुव्यवसायेनेति संवेदनवत्स्वप्रकाशे दृष्टान्तः साधनविकल इति चेन्न, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण भासनाभावात्साधनविकलः। नन्वात्मनः स्वप्रकाशत्वेन सिद्धत्वेऽपि ब्रह्मलक्षणाभावात् न ब्रह्मत्वसिद्धिरित्याशङ्क्य तल्लक्षणं तत्र योजयति—सत्यमिति। 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुत्या यद् ब्रह्मणो लक्षणमुक्तं तदात्मनि विद्यत इत्यर्थः।

उलूक की दृष्टि से तमिस्रा रात्रि है, इसी प्रकार अज्ञ प्राणियों की दृष्टि से अखण्ड स्वप्रकाश भगवान् में भी अज्ञान है। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं—

आनन्द सिन्धु मध्य तव बासा।
बिनु जाने कत मरसि पियासा॥
(विनय पत्रिका १३६।२)

आनन्द सिन्धु के मध्य में तेरा निवास है। तेरे भीतर आनन्द, तेरे मध्य में आनन्द, तेरे बाहर आनन्द, सब कुछ आनन्द ही आनन्द है।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते॥
आनन्देन जातानि जीवन्ति॥
आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥
(तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६)

(आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर आनन्द के द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्द में ही समा जाते हैं।)

आनन्द समुद्र से ही सारा ब्रह्माण्ड पैदा हुआ। उसी में अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित है। उसी में अनन्त ब्रह्माण्ड प्रविलीन होता है। इसलिए सर्वानन्द स्वप्रकाश भगवान् आनन्द हैं। लेकिन लोग आनन्द को नही जानते। अगर आनन्द को जान लें तो आनन्द के भिखारी बनकर गली-गली घूमें? स्त्री का आनन्द चाहिए, पुत्र का आनन्द चाहिए। धन-धान्य का आनन्द चाहिए, समृद्धि का आनन्द चाहिए। नाना प्रकार के आनन्दों की खोज में हम भटक रहे हैं। इसलिए उस आनन्द को नही जानते। उस आनन्द को जानने के लिए स्वप्रकाश भगवान् ही दो बन गये। एक प्रकाश्य एक प्रकाशक।

स्वमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥
(भगवद्गीता १०।१५)

(हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे जगत्पते! हे देवदेव! स्वयं आप ही अपने निरतिशय ज्ञान, सामर्थ्य और ऐश्वर्य को जानते हैं।)

एतावता वेद भगवान् का ही स्वरूप है।

वेदप्रणिहितो धर्मोह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुम॥
(भागवत ६।१।४०)

जो वेद विहित है, वही धर्म है। जो उसके विपरीत है, वही अधर्म है। (भगवान् के श्वास रूप से) स्वयं ही प्रकट हुआ वेद साक्षात् नारायण ही है, ऐसा हमने सुना है।)

एक ही परमात्मा अज्ञानियों को प्रबोधित करने के लिए प्रकाश्य-प्रकाशक दो बन गये। प्रकाशक वेद बन गये और प्रकाश्य रूप में भी स्वयं ही बने रहे। इस तरह से भगवान् के प्रकाशक स्वयं भगवान् ही। स्वयं से भिन्न भगवान् का प्रकाशक होगा तब तो स्वप्रकाशता भंग हो जायगी। परन्तु जब वे ही दोनों रूपों में हैं तब स्वप्रकाशता भंग कैसे होगी ?

भागवत क्या है ? वेदों का सार, अतः वेद-सार श्रीमद्भागवत के रूप में भी भगवान् ने ही स्वयं को व्यक्त किया है। श्रीमद्भागवत है भगवान् का प्रकाशक। इस तरह अनन्त ब्रह्माण्डनायक सर्वान्तरात्मा भगवान् परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण का जिसके द्वारा प्रकाश होता है, वही है श्रीमद्भागवत। इसलिए स्वयं ही परात्पर परब्रह्म प्रभु श्रीमद्भागवत और इसके प्रवक्ता हैं, कोई दूसरे नहीं।

पहले पहल स्वयं श्रीमन्नारायण ने ब्रह्मा को उपदेश किया। ब्रह्मा जी पहले उत्पन्न हुए। उनको प्रपञ्चनिर्माण का कुछ ज्ञान-विज्ञान नहीं था। फिर उनको 'तप' यह यह दो अक्षर का बोध हुआ। तप करने लगे, तब उनको भगवान् का दर्शन हुआ—

स आदिदेवो जगतां परो गुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्॥

स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाशृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं-निष्किञ्चनानां नृप यद् धनं विदुः॥

निशम्य तद्वक्तृदिदृक्षया दिशो विलोक्य तत्रान्यदपश्यमानः।
स्वधिष्ण्यमास्थाय विमृश्य तद्धितं तपस्युपादिष्ट इवादधे मनः॥

दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः।
अतप्यत स्माखिललोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः॥

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः संदर्शयामास परं न यत्परम्।
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम्॥

(श्रीमद्भागवत २।९।५-९)

जगत् के परमगुरु आदिदेव ब्रह्मा जी अपने उत्पत्ति-स्थान कमल पर बैठे हुए लोकरचना का विचार करने लगे, परन्तु जिससे प्रपञ्च रचना की विधि विदित हो, वह सम्यक् ज्ञान-दृष्टि उन्हें नहीं प्राप्त हुई।। इसप्रकार सोचते-सोचते उन्होंने प्रलय-

कालीन जल में अकस्मात् दो अक्षरों का एक शब्द दो बार सुना। उसका पहला अक्षर स्पर्श ('क' से 'म' तक के) में सोलहवाँ ('त') और दूसरा इक्कीसवाँ ('प') था। हे नृप! यह तप ही निष्किञ्चन योगियों का परम धन माना जाता है ॥६॥ यह सुनते ही ब्रह्मा जी ने उस शब्द के उच्चारण करने वाले को देखने के लिए इधर-उधर देखा, किन्तु वहाँ इन्हें अपने सिवा और कोई दिखायी न दिया। तब यह समझकर कि मुझे तप का आदेश हुआ है, उन्होंने उसी में अपना हित जानकर कमल पर बैठे-बैठे तप करना आरम्भ किया ॥७॥ तपस्वियों में श्रेष्ठ अमोघ ज्ञानवान् ब्रह्मा जी ने एक सहस्र दिव्य वर्ष पर्यन्त एकाग्रचित्त से अपने प्राण, मन, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों को जीतकर सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करने वाला घोर तप किया ॥८॥ तप से प्रसन्न हो भगवान् ने उन्हें अपना धाम दिखाया, जिससे उत्तम कोई लोक नहीं है, जो सब प्रकार से क्लेश, मोह और भय से रहित है तथा जिसकी पुण्यवान् देवता स्तुति करते हैं ॥९॥)

श्रीभगवान् ने चतुःश्लोकीभागवत रूप में श्रीमद्भागवत के परम तत्त्व का उपदेश किया—

ज्ञानं परम गुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥

(श्रीमद्भागवत २।९।३०-३१)

हे प्रिय! मैं तुम्हें विविध जन्मकर्मों की दिव्यता के प्रतिबोधक विज्ञान सहित अपने तत्त्व का परम गुह्य ज्ञान तथा रहस्य के सहित उसके भक्ति योग आदि अंग बतलाता हूँ, मेरे कहे हुए उस ज्ञान को तुम यथावत् ग्रहण करो ॥३०॥ जिससे कि मेरा परिमाण, मेरी सत्ता तथा मेरे रूप, गुण और कर्म जैसे हैं—इन सब बातों का तत्त्वतः ज्ञान मेरी कृपा से तुम्हें प्राप्त हो जाय ॥३१॥

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां[३४] यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा॥
(श्रीमद्भागवत २।९।३२-३५)

सृष्टि से पूर्व मैं ही था, उस समय सत् स्थूल असत् सूक्ष्म और इनका कारण प्रकृति कुछ भी न था। सृष्टि के अनन्तर मैं ही हूँ, यह सम्पूर्ण जगत् भी मैं ही हूँ तथा इनका अन्त होने पर जो बच रहता है वह भी मैं ही हूँ॥३२॥ दो चन्द्रमा आदि आभास की भाँति जिससे यह प्रपञ्च बिना हुआ ही प्रतीत होता है और जिससे नित्य विद्यमान रहते हुए भी आत्मा ताराओं के मध्यवर्ती राहु की भाँति नही ज्ञात होता, उसे आत्मा की (मेरी) माया जाननी चाहिये॥३३॥ जिस प्रकार समस्त छोटे-बड़े भौतिक पदार्थों मे महाभूत उनके कारण रूप से प्रविष्ट होते हुए भी वास्तव में अप्रविष्ट हो हैं, उसी प्रकार मैं भी सम्पूर्ण प्राणियों में उनके आत्म-स्वरूप से स्थित हुआ भी वास्तव में उनसे अलग ही हूँ॥३४॥ अन्वय व्यतिरेक दोनों हेतुओं से सिद्ध होता है कि भगवान् सदा ही सर्वत्र व्याप्त हैं— और बस यह बात आत्मतत्त्व के जिज्ञासुओं को जानने योग्य है॥३५॥) उक्त परमतत्त्व के उपदेष्टा श्रीमन्नारायण परात्पर परब्रह्म ही हैं, इसमें कोई विवाद नहीं। उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान का ही ब्रह्मा ने नारद को उपदेश किया। श्रीमन्नारायण ही ब्रह्म रूप में आविर्भूत हुए, उन्होंने ही ब्रह्मा को परमतत्त्व का उपदेश किया और उनकी प्रेरणा से ही ब्रह्मा ने नारद को श्रीमद्भागवत का उपदेश किया। इस तरह ब्रह्मा के रूप में श्रीमन्नारायण ही इसके उपदेष्टा सिद्ध हुए। इसी तरह भगवान् के द्वारा उपदिष्ट और प्रेरित भगवत्स्वरूप नारद ने व्यास को श्रीमद्-भागवत का उपदेश किया। पुनः भगवत्स्वरूप भगवत्प्रदत्त ज्ञान से सुशोभित व्यास ने भगवान् की प्रेरणा से शुक को भागवत का उपदेश किया। श्रीशुक ने राजा परीक्षित् को उपदेश किया। अरे भाई! कोई भी करे अन्त में प्रेरक श्रीभगवान् ही हैं— **'उर प्रेरक रघुवंशविभूषण'।**

अन्ततोगत्वा सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा भगवान् ही श्रीमद्भागवत हैं और भगवान् ही श्रीमद्भागवत के बतलाने वाले तत्तत् आचार्य हैं। विशेष करके परमहंस श्रीशुकदेव जी महाराज इन सबमें बहुत प्रमुख हैं, क्योंकि वे आप्तकाम पूर्णकाम, आत्माराम, परमनिष्काम हैं। भगवान् परात्पर परब्रह्म तो अनन्त ब्रह्माण्ड के उत्पादन, पालन

---

३४. वह भगवान् सारे जगत् में अपने सत्तात्मक स्वरूप से व्याप्त हैं—यह उनका अन्वय है। जगत् को सम्पूर्ण रीत्या पूर्ण कर और भी अतिमहत् परिमाण में स्थित रहता है, यह उसका व्यतिरेक है।

और संहरणादि में लगे हैं। ब्रह्मा, विष्णु प्रपञ्च की सृष्टि और रक्षा में लगे हैं। नारद भगवद्गुणगान में लगे हुए हैं। लेकिन आत्मकाम, पूर्णकाम, आत्माराम परमनिष्काम जिनको कहना चाहिए वे शुकदेव जी हैं।

कौन शुकदेव जी ? जिनकी कथा महाभारत में बहुत विस्तृत है। भीष्म जी ने धर्मराज युधिष्ठिर को शुकदेव जी कथा सुनाई। श्रीशुकदेव जी की दिव्य गति का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। शास्त्रों में दो प्रकार की गति बतलाई गई है। एक तो यह कि जिसको ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है, उसका कहीं गमनागमन नहीं होता—

सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा—
उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।।

(नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् ५)

उनके प्राण उत्क्रमण नहीं होते। जहाँ के तहाँ विलीन हो जाते हैं। घट भंग होने में देरी हो सकती है, परन्तु घटाकाश के महाकाश बनने में कोई देरी नहीं। उपाधि के भंग होने से उपहित जीवात्मा अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान् में प्रविलीन हो जाता है। भगवद्भाव को प्राप्त हो जाता है। इसी को भगवत्सायुज्य भगवत्सामीप्य जो कुछ भी कहिये।

यदि ब्रह्मविद्वरिष्ठ योगी की इच्छा हो—'हम लोक लोकान्तर देखें' तो योग-बल से ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके देवयान की गति प्राप्त की जाती है—

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।
विश्वश्च तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ।।
देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।
आत्मयाज्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ।।

(भागवत ७।१५।५४, ५५)

[वह निवृत्तिनिष्ठ ज्ञानी क्रमशः अग्नि, सूर्य, दिन, सायं, शुक्ला, पूर्णमासी और उत्तरायण के अभिमानी देवताओं के पास आकर ब्रह्मलोक में पहुँचता है। फिर भोग समाप्त होने पर वह स्थूलोपाधिक 'विश्व' अपनी स्थूल उपाधि को लीन कर सूक्ष्मोपाधिक 'तैजस' हो जाता है, फिर सूक्ष्म उपाधि को कारण में लय करके 'प्राज्ञ' रूप से स्थित होता है। अन्त में कारणोपाधि के भी लीन हो जाने पर सर्वसाक्षी 'तुरीय' रूप से स्थित हो जाता है। इस प्रकार वह क्रमशः मुक्त हो जाता है।५४।। इसे देवयान मार्ग कहते हैं। इस मार्ग से जाने वाला आत्मोपासक

शान्तात्मा क्रमशः अग्नि आदि के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होकर आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है। वह (पितृयान मार्ग से जाने वाले प्रवृत्तिपरायण पुरुष के समान) फिर संसार में नहीं लौटता ॥५५॥]

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

(भगवद् गीता ८।२४)

(जिस मार्ग में अग्नि एवं ज्योति का अभिमानी, दिन का अभिमानी, शुक्ल-पक्ष का अभिमानी, उत्तरायण के छह महीनों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म की उपासना में तत्पर पुरुष क्रम से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और व फिर लौटकर जन्म नहीं लेते हैं। क्रम यह है कि अग्नि एवं ज्योति का भी अभिमानी देव दिन के अभिमानी देव को और दिन का अभिमानी देव शुक्ल पक्ष के अभिमानी को और वह उत्तरायण के अभिमानी देव को दे देता है। उसके आगे ब्रह्म-लोकवासी ही उसको ब्रह्मलोक में ले जाते हैं ॥)

यद्यपि इस ढ़ंग से देह त्याग करने में थोड़ी पराधीनता होती है, परन्तु ज्ञानी तो स्वतन्त्र होता है। वह तत्त्ववित् और योगी होता है। कई लोग केवल तत्त्ववित् होते हैं, योगी नहीं होते। कई लोग केवल योगी होते हैं, तत्ववित् नहीं होते। बड़े उत्कृष्ट कोटि के व्यक्तियों में योग और ज्ञान दोनों पाये जाते हैं। जैसे भगवान् वसिष्ठ, भगवान् व्यास, भगवान् शुक ये सब योगी भी हैं और ब्रह्मविद्वरिष्ठ भी हैं। इन्हें ब्रह्मतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार है और योग सिद्ध भी हैं। अणिमा, महिमा, लाघमा, प्राप्ति, प्राकाम्य ये सब शक्तियाँ उनके पास विद्यमान हैं। इसलिए शुकदेवजी उसी मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र भेदन करके और अमुक-अमुक लोक गये। आगे युधिष्ठिर जी पूछते हैं—महाराज ! शुकदेवजी फिर कहाँ गये, फिर क्या हुआ ?; तो भीष्म जी कहते हैं—राजन् ! आकाश में उड़ते हुए पक्षी का पदचिह्न किसी ने देखा है ? भला क्या आकाश में उड़ते हुए पक्षी की, जल में तैरती हुई मछली की पद-चिह्न-पद्धति कहीं मालूम पड़ती है ? ऐसे ही जो सर्वात्मभूत हो गये हैं, सर्वभूतों का अन्तरात्मा जो हो गये हैं, उनकी गति किसी को क्या परिलक्षित हो सकती है ?

(महा० शान्ति० ३२३-३३३ अ०)

अन्तर्हितः प्रभावं तु दर्शयित्वा शुकस्तदा ॥
गुणान् संत्यज्य शब्दादीन् पदमभ्यगमत् परम् ।

(महाभारत शान्तिपर्व ३३३।२६, २६॥)

(इस प्रकार अपना प्रभाव दिखलाकर शुकदेव जी अन्तर्धान हो गये और शब्दादि गुणों का परित्याग करके परमपद को प्राप्त हुए ॥)

इस तरह महाभारत के अनुसार श्रीशुकदेव जी मुक्त हो चुके थे। अब प्रश्न उठता है कि ऐसी परिस्थिति में परीक्षित् को कथा सुनाने वे कहाँ से आ गये ?

इसकी एक संगति यह है कि नृसिंहतापनीयोपनिषद् और शङ्कराचार्य जी महाराज के अनुसार मुमुक्षु लोग तो भगवान् को भजते ही हैं, पर जो मुक्त हो चुके हैं, वे भी लीला से विग्रह धारण करके भगवान् को भजते हैं। बिना देह भजन-श्रवणादि नहीं बनता। इसलिए जैसे लीला से परात्पर परब्रह्म भगवान् विग्रह धारण कर लेते हैं, ऐसे ही लीला से मुक्त भी विग्रह धारण कर लेते हैं। फिर वे भजन करते हैं—

अथ कस्मादुच्यते नमामीति।
यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति—
मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
(नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् २।४)

भाष्य—**मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रहं परिगृह्य नमन्ति।**

इसलिए मालूम होता है कि परम भक्त परीक्षित् का कल्याण करने के लिए भगवद्भावापन्न मुक्त आप्तकाम पूर्णकाम श्रीशुकदेव जो महाराज आविर्भूत हुए।

'श्रीशुक' का अर्थ है **'श्रियः शुकः'** श्री जी के शुक अर्थात् श्रीवृषभानुनन्दिनी के क्रीडा-शुक। आनन्द-वृन्दावन-चम्पूकार की दृष्टि से जान पड़ता है कि श्रीवृष-भानु-नन्दिनी राधारानी नित्य-निकुञ्जेश्वरी के निकुञ्ज में कलवाक् नामक शुक विराज-मान था। श्रीरासेश्वरी उसे अपने एक हस्तारविन्द पर बिठलाकर दूसरे से दाड़िम-बीज खिलाती थीं। दाड़िम (अनार) का बीज बड़ा मीठा होता है, उसी मीठे-मीठे बीज को खिलातीं, साथ ही कृष्ण नाम पढ़ातीं—**'कृष्णं पठ कृष्णं पठ'**, 'वत्स ! कृष्ण कहो कृष्ण कहो'। कभी-कभी श्यामसुन्दर मदनमोहन आ जाते। वे कहते, नहीं, अकेले कृष्ण नहीं, राधाकृष्ण कहो, राधाकृष्ण कहो'—

गौर तेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे॥
(गोपाल सहस्रनाम १७)

गौर तेज=श्रीराधा, सीतादि, के बिना श्याम तेज=श्रीकृष्ण रामादि का जो समर्चन जप अथवा ध्यान करता है, हे शिवे ! वह पातकी होता है।)

इस तरह श्रीश्यामसुन्दर राधाकृष्ण का पाठ पढ़ाते थे। परन्तु श्रीवृषभानु-नन्दिनी रासेश्वरी शुक को पढ़ाया करती थीं—

कृष्ण कहु कृष्ण कहु राधा मति कहु रे।

इस तरह श्रीराधारानी और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द के परमानुग्रहपात्र शुक श्रीजी के कनकमय-पञ्जर में विराजमान रहते थे। श्रीराधारानी उनको दाड़िम बीज खिलाती थीं, कृष्णनाम पढ़ाती थीं, बड़ा प्यार करती थीं। एक दिन राधारानी के मुखारविन्द से भावावेश में एक श्लोक निकला। आनन्दवृन्दावनचम्पूकार ने उसका उल्लेख किया है—

दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी
गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता।
वपुः वरवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये
न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः॥

(आनन्दवृन्दावन चम्पूः ८।४२)

अहो! दुर्लभजन में रति और लज्जा का प्राबल्य, परवश शरीर, कुलीनवंश में जन्म! तथापि गुरुजनों की विषमयी उक्तियों से मति और विकल हो जाती है। अहो! फिर भी क्या यह परम दुर्मर प्राणी नहीं जीता? जीता तो है ही।)

श्रीराधारानी के मुखारविन्द से श्लोक निकला। शुक तो महाप्राज्ञ था। उसने श्लोक कण्ठ कर लिया और बोला ही नहीं, उड़ गया वहाँ से। उड़ कर नन्द के भवन में आया और वहाँ बोला—'**दुरापजनवर्तिनी**' ··· । श्याम सुन्दर मदनमोहन ब्रजेन्द्रनन्दन उनके सखा के साथ क्रीडा कर रहे थे। शुक की वाग्मिता पर श्रीकृष्ण मुग्ध हो गये। कहने लगे—यह किसी महा अनुरागिणी का शुक है। यह महाप्राज्ञ[३५] है। भगवान् ने आवाहन किया उसका। वह उड़कर भगवान् के हाथों में चला गया। श्रीश्यामसुन्दर ने पुनः श्लोक पढ़ने को कहा। शुक बोला—'**दुरापजनवर्तिनी**' श्रीकृष्ण ने भी कण्ठ कर लिया—'**दुरापजनवर्तिनी** ····'

---

३५. कृष्ण आह—'महामेध! मे धन्यीकृतं त्वया श्रवणयुगलम्, परमविद्वत्तर! वचसा च साम्प्रतम् ततस्त्वमतीव धन्योसि।' स आह—व्रजराजनन्दन! अतीव कृतघ्नोऽयं जनः कथं धन्योसीति वृथा स्तूयते।
यदयम्—गाढानुरागभरनिर्भरभंगुराया:
कृष्णेति नाम मधुरं मृदु पाठयन्त्याः।
धिङ्मामधन्यमतिचञ्चलजातिदोषाद्
देव्याः कराम्बुरुहकोरकतश्च्युतोऽस्मि॥
(आनन्दवृन्दावनचम्पू८।४४)
श्रीकृष्ण—'अहो! महानुरागवत्याः कस्याश्चित्करतललालितोऽयं भविष्यति' इति मनसि विभाव्य, 'अये! क्षणमिहैव स्थीयतां यावदहं तवाभीष्टमास्पदं प्रापयामि' इति करकमलं प्रसारयामास। (आनन्दवृन्दावनचम्पूः ८।४५)

श्लोक का बड़ा गम्भीर अर्थ है। यद्यपि श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप ही हैं। श्रीहितहरिवंश महाप्रभु ने कहा है कि **'दोउ जल दोउ तरंग'**। दोउ जल है, दोउ तरंग हैं। राधा जल हैं तो श्रीकृष्ण तरंग हैं। कृष्ण तरंग हैं तो राधा जल हैं। माने (अर्थात्) किसी में गौणता नहीं, अप्रधानता नहीं। आमतौर पर माना जाता है कि शक्ति का अप्राधान्य है और शक्तिमान् का प्राधान्य। लेकिन वे कहते हैं—'दोउ तरंग, दोउ जल।' असल में दोनों एक ही है। लेकिन उपासना के लिए थोड़ा उपास्य-उपासक भाव बनने के लिए भेद होना चाहिए। बिना भेद के उपासना नहीं बनती।

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥
(रामचरितमानस ७।११९क)

सेवकसेव्य भाव के बिना अपार संसार समुद्र को पार नहीं किया जा सकता। इसलिए अत्यन्त अभेद होने पर भी भेद को अंगीकार करते हैं। भेद कैसे हो ? वास्तविक भेद कैसे ? वास्तविक भेद तो नहीं बनता। तो वैसे ही जैसे तरंग और जल का भेद कहने भर को होता है, वास्तविक नहीं। गोस्वामी जी भी कहते हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
(रामचरितमानस १।१८)

जैसे गिरा और अर्थ का अभेद होता है। जैसे तरंग और जल का अभेद होता है, ऐसे ही सीता-राम का, गौर-तेज श्याम तेज का अभेद है। अभेद होते हुए भी भेद है। महान् दार्शनिक शङ्कराचार्य जी कहते हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
(श्रीशङ्कराचार्यकृत षट्पदी ३)

हे नाथ ! यद्यपि आपका और मेरा भेद नहीं है तथापि मैं आपका ही हूँ और आप मेरे नहीं हैं। क्योंकि तरंग ही समुद्र का होता है, समुद्र तरङ्ग का कभी नहीं होता।

अर्थात् कौन कहता है, दुनियाँ में तरङ्ग का समुद्र है। समुद्र का तरङ्ग यही कहा जाता है। भगवन् ! आप महासमुद्र हैं। हम आपके कण हैं। हम आपकी लहर हैं, तरंग हैं। आप सर्वेश्वर हैं। उसी दृष्टि से **'वारि बीचि जिमि गावहि वेदा'**

ऐसा कहा। पानी और तरंग में जैसा भेद होता है, बस सीता-राम का वैसा ही भेद है। लेकिन फिर प्रश्न होता है कि कौन तरंग और कौन जल ? तो श्री हित—हरिवंश जी यही नहीं सहन कर सकते कि राधारानी तरंग हैं। वे कहते हैं, नहीं, नहीं राधारानी जल है, श्याम सुन्दर व्रजेन्द्र नन्दन तरंग हैं।

तुलसीदास जी महाराज भी बड़े चतुर हैं, उन्होंने यह मार्ग निकाला। पहला दृष्टान्त उन्होंने गिरा-अर्थ चुना। गिरा कह करके उन्होंने जनक नन्दिनी जानकी की उपमा दी। गिरा माने अनन्तब्रह्माण्डजननी कल्याणमयी-करुणामयी जनकनन्दिनी और अर्थ अर्थात् राम। वैयाकरणों की दृष्टि से शब्द का ही प्राधान्य है।

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
(वाक्यपदीय—१)

उनकी दृष्टि से अनादि-निधन ब्रह्म ही जगत् रूपेण विवर्तित होता है। अर्थ तो विवर्त है। शब्दब्रह्म ही मुख्य है। इस दृष्टि से उन्होंने जनकनन्दिनी जानकी जी का प्राधान्य सिद्ध किया। जनक नन्दिनी जानकी शब्दब्रह्म हैं और राम उनका विवर्त अर्थ। दूसरा दृष्टान्त दिया जल-बीचि का। इसमें उन्होंने जल कह दिया रामचन्द्र को बीचि कह दिया सीता को। राम को मुख्य रखा। अर्थात् **'दोऊ जल दोऊ तरंग'** वाली जो इनकी रीति है उस रीति को रूपान्तर से उन्होंने अङ्गीकार किया। इधर भी उन्होंने 'निर्गुण ब्रह्म से भी बड़ा उनका मंगलमय नाम है' ऐसा बताया—

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥
(रामचरितमानस १।२२।६, ७, ८)

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउं नाम बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥
(रामचरितमानस १।२३)

नाम का ही निरूपण करो। नाम का ही वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ समझो, नाम का ही स्वरूप समझो। ऐसा करने से वह जो व्यापक-विरज-अविनाशी-सत्-चेतन-घन-आनन्द राशि परब्रह्म सबके हृदय में बैठा है और विदित नहीं होता, वह भी विदित हो जाता है। इसलिए नाम बड़ा है। सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
(रामचरितमानस १।२३।३)

राम ने एक पाप-ताप भरी गौतम पत्नी अहल्या को तार दिया तो राम नाम ने अनन्त-अनन्त दुर्मतियों को सुमति बना दिया।

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं॥

राम ने बानर-भालुओं की सेना बटोरी, महासमुद्र में पुल बाँधा। सौ योजन लम्बे और दस योजन चौड़े महान् सेतु का निर्माण कराया—

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
आगम्य गगने तस्थुर्द्रष्टुकामास्तदद्भुतम्॥
दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतम्।
ददृशुर्देवगन्धर्वाः नलसेतुं सुदुष्करम्॥
(वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड २२।७५, ७६)

उस समय देवता, गन्धर्व सिद्ध और महर्षि उस अद्भुत कार्य को देखने के लिए आकाश में आकर खड़े थे। नल के बनाये हुए सौ योजन लम्बे और दस योजन चौड़े उस पुल को देवताओं और गन्धर्वों ने देखा, जिसे बनाना बहुत ही कठिन काम था।)

यह ठीक है, लेकिन नाम के उच्चारण से सारा भव सागर ही सूख जाता है। भव सागर में ही दधि-समुद्र, दुग्ध-समुद्र, क्षार-समुद्र सब आ जाते हैं। इस दृष्टि से तुलसीदास ने नाम को सर्वोत्कृष्ट कहा। नाम निर्गुण ब्रह्म से भी बड़ा, सगुण ब्रह्म से भी बड़ा, सबसे बड़ा। नाम ही गिरा है। इस तरह से गिरा का सर्वोत्कृष्ट प्राधान्य बतला करके उन्होंने कहा सार यह है कि राधा-कृष्ण दोनों एक ही हैं और अगर दोनों में भेद है तो **'दोउ तरंग, दोउ वारि'**।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो हम तो कहा करते हैं, गंगा जल में तरंग कुछ बहिरंग है लेकिन शीतलता, मधुरता, पवित्रता अन्तरंग है। अमृत सिन्धु से तरंग बहिरंग है, पर अमृत में जो मिठास है वह अन्तरंग है। तो अचिन्त्य-अनन्त-परमानन्द सुधा-सिन्धु पूर्णतम पुरुषोत्तम परात्पर परब्रह्म प्रभु कृष्ण में तरंग है, गोपाङ्गनाजन-सखियाँ। मिठास हैं श्रीराधारानी रासेश्वरी। नन्ददास जी अपनी रासपञ्चाध्यायी में लिखते हैं—**तरंगन वारि ज्यों**।

पहले उद्धव जी ज्ञान के बड़े गर्व में थे। श्रीकृष्ण रोते थे तो वे मन-ही-मन ऐसा सोचा करते थे—यह कैसे परब्रह्म हैं। कैसे सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान् हैं जो गोपाङ्गनाओं के लिए रोते हैं?

भगवान् तो अनुग्राहक हैं, उन पर अनुग्रह करने के लिए उनको भेज दिया ब्रज। उद्धव जी ने ब्रज जाकर गोपाङ्गनाओं का दर्शन किया। उनके अनन्त

महामहिम वैभव को जाना। तब आकर कृष्ण पर बिगड़ने लगे। बोले—'आप बिल्कुल निष्ठुर हैं। आपको बिल्कुल प्रीति का स्पर्श ही नहीं है। अरे गोपाङ्गनाओं की वह अद्‌भुत प्रीति, वह अखण्ड प्रीति-और आप इस प्रपञ्च में लगे हुए है ?"

तब भगवान् ने कहा —"उद्धव ! अब भी तुमने समझा नहीं।" ऐसा कहकर प्रभु ने उन्हें दिव्य दृष्टि से देखा—'**तरंगन वारि ज्यों।**' जैसे तरंग के भीतर, बाहर मध्य में वारि भरपूर है, ऐसे गोपाङ्गनाओं के अन्तःकरण में, अन्तरात्मा में प्राणों में, रोम-रोम में श्रीकृष्ण चन्द्र नन्द-नन्दन परमानन्दकन्द मदन मोहन विराजमान हैं।

इस दृष्टि से गोपाङ्गना तरंग हो सकती हैं। पर, राधारानी वृषभानुनन्दिनी तरंग नहीं। वे तो अचिन्त्य-अनन्त-परमानन्दकन्द-सुधासिन्धु में जो माधुर्य-सार-सर्वस्व है, उसकी अधिष्ठात्री महालक्ष्मी भगवती महारानी राधारानी हैं। आप जानते हैं, जिस अमृत में मिठास न हो, वह अमृत है ? जिस गंगाजल में शीतलता, मधुरता, पवित्रता न हो वह गंगाजल गंगाजल है ? जिस कृष्ण में माधुर्यसारसर्वस्व (राधा) न हो वह कृष्ण कृष्ण है ? इसलिए कहते है—'**राधा बिना कृष्ण आधा।**' हम तो कहते हैं, '**राधा बिना कृष्ण आधा से भी कम।**' माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी वृषभानुनन्दिनी नहीं तो कहाँ का अचिन्त्य-अनन्त सुधा समुद्र ? इस दृष्टि से दोनों में अभेद है। फिर भी लीला रस विशेष के विकास के लिए इनका आविर्भाव है। उस भेद के आविर्भाव में श्रीराधारानी को कृष्ण बड़े दुर्लभ प्रतीत होते हैं। जैसे रङ्क को चिन्तामणि मिल जाय तो उसके आश्चर्य का क्या ठिकाना ? राधारानी समझती थीं हमारे लिए श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन तो बड़े दुर्लभ हैं—'**दुरापजनवर्तिनी**'........

विधाता ने रति हमको दी, प्रीति हमको दी, पर दी ऐसे जन में जो दुराप (दुर्लभ) है। रङ्क को चिन्तामणि कभी सुलभ भी हो सकती है, पर हमारे लिए श्याम सुन्दर व्रजेन्द्र नन्दन मदन मोहन बड़े दुर्लभ हैं। इसीलिए वे दूसरों के सौभाग्य पर सिहाती हैं।

अयि तडित्त्वमसौ क्व नु किं तपः, कियदहो कृतवत्यसि तद्वद।
यदिमम्बुधरं हरिवक्षसस्तुलितमालिगता रमसे सदा॥
(गोपालचम्पूः, पूर्व० १६।४४)

मेघ को देखती हुई श्रीराधिका की भावना यह है कि हे सखि ! विद्युत् ! आ हा हा ! तुम बताओ तो सही। किस स्थान पर, कितने परिमाण का कौन-सा तप कर चुकी हो ? क्योंकि श्रीकृष्णके वक्षःस्थलके समान श्यामवर्ण वाले इस जलधर को प्राप्त कर सदा क्रीड़ा करती हो ॥)

तडितः पुण्यशालिन्यः सदा या घनजीवनाः।
तेन सार्धमदृश्यन्त नादृश्यन्त च तं विना॥
(गोपालचम्पूः पूर्व० १७।५२)

सदा श्यामघन ही जिनका जीवन है, वे बिजलियाँ ही पुण्यशालिनी हैं। क्योंकि जो श्यामघन के साथ ही दिखाई देती हैं, किन्तु उसके बिना कदापि नहीं दीखतीं।

यह तड़ित बड़ी धन्य हैं, क्योंकि जब कभी भी इनका दर्शन होता है तो अम्बुधर पर ही दर्शन होता है। अम्बुधर नहीं तो ये भी नहीं। प्रियतम नहीं तो ये भी नहीं। प्रियतम हैं तभी इनकी सत्ता है।

कौन प्रेमी सर्वोत्तम? वही, प्रियतम की सत्ता में जिसकी सत्ता। प्रियतम नहीं तो उसकी भी सत्ता नहीं।

इस प्रकार राधारानी वृषभानुनन्दिनी अपने अनन्त सौभाग्य को तो भूल जाती हैं, परन्तु दूसरे के सौभाग्य को देखकर सिहाने लगती हैं। फिर जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर के पुण्य-पुञ्ज से कभी मदनमोहन प्राणधन श्यामसुन्दर के मंगलमय मुखचन्द्र के दर्शन का सौभाग्योपलम्भ हुआ भी तो लज्जा आँख खोलने ही नहीं देती। किसी तरह वैरिणी लज्जा का अपनोदन करके कृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्द मदनमोहन के मंगलमय पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका के दर्शन को नेत्र उत्सुक होते हैं। मंगलमय मुखचन्द्र की दिव्य आभा-प्रभा-कान्ति को निहारने के लिए नेत्र उत्सुक होते हैं तो गुरुजनों की जो उक्तियों का विषवर्षण, मति अत्यन्त विकल हो जाती है—**'दुरापजनवर्तिनो रतिरपत्रपा भूयसी। गुरूक्तिविषवर्षणैर्मति-रतीव दौःस्थ्यं गता।'**

यह सब प्रीति की रीति को अद्भुत बनाने के लिए लीला हुई। नहीं तो सभी गोपों की इच्छा थी—"इन सभी बालिकाओं का कृष्ण के साथ ब्याह कर दें। इतना बढ़ियाँ घर-वर कहाँ मिलेगा। जिसने पूतना को, शकटासुर को, तृणावर्त को, कालियनाग को देखते-देखते नियन्त्रित कर लिया, उस सर्वशक्तिमान् अनन्त ब्रह्माण्डाधिपति से बढ़कर घर-वर कौन मिलेगा?"

इसलिए सबकी इच्छा हुई बालिकाओं का विवाह करदें। पर अच्छा हो कि कोई ज्योतिषी जी महाराज आ जाँय तो उनसे राय ले लें। इतने में भगवान् की प्रेरणा से गर्गाचार्य महाराज जा पहुँचे। गोपों ने प्रस्ताव किया तो गर्गाचार्य जी ने उँगलियों पर गिनती-मिनती की। कहा—'भैय्याओ! यह विवाह बनता नहीं। तुम लोग अगर शादी कर दोगे तो सौ वर्ष का विप्रलम्भ होगा। तुम्हें भी श्रीकृष्ण-दर्शन सौ वर्ष नहीं होंगे।'

फिर तो बड़ी कड़ाई हुई। 'ये बच्चियाँ कृष्ण को देखें ही नहीं' ऐसी कड़ाई हुई। इसलिए बड़ी बाधाएँ उपस्थित हुईं। **'वपुः परवशं'** स्त्री शरीर न होता तो प्रभु-दर्शन बहुत सुलभ होता। इससे तो अच्छा था ब्रज-रज ही हो जाती—

सखि हौं ब्रजरज क्यों न भई।
ब्रज रज होती, उड़-उड़ लगतो साँवरे शरीर॥

फिर तो बड़ी सरलता से मदन मोहन श्याम सुन्दर के मंगलमय श्री अङ्ग का स्पर्श कर सकतीं।

गोपियाँ कहती हैं—

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥
(भागवत १०।२१।११)

(अरी सखी! मूढ बुद्धि होने पर भी मृगियाँ धन्य हैं, जो बाँसुरी का स्वर सुनते ही अपने पति कृष्णसार मृगों के सहित आकर अपने प्रणयकटाक्षों द्वारा विचित्र वेषधारी नन्दनन्दन की पूजा करती हैं।)

ये हरिणियाँ धन्य-धन्य हैं। सौभाग्यशालिनी हैं। भले ही मूढ़मति क्यों न हों। क्योंकि इनके पति कृष्णसार हैं। उन्होंने कृष्ण को ही असार संसार में सार माना है। इसलिए स्वयं श्रीकृष्ण-दर्शन करने आते हैं और अपनी पत्नियों को भी श्रीकृष्ण-दर्शन करने के लिए ले आते हैं। **'अस्मत् पतयस्तु अभिमान साराः'** हमारे पति ने तो अभिमान को ही सार मान रखा है। स्वयं न कृष्ण-दर्शन करने आये, न हमको दर्शन करने दें। इसलिए सखियों! गोपाङ्गना जन्म में ही जन्म साफल्य नहीं हरिणी जन्म में जन्म साफल्य है। इसलिए कहती हैं—**'सखि हौं ब्रजरज क्यों न भई।'** इस तरह **'वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये। न जीवति तथापि किं परम— दुर्मरोऽयं जनः॥'** सखि! ऊँचे खानदान में जन्म हुआ है। कहीं ऊंचे-नीचे पैर पड़े तो कुल को कलंक लग जाता है। इसलिए—

इत मत निकसै चौथ को चन्दा
तोइ देखे ते कलंक मोहि लग जायगो।

सचमुच में प्राणी बड़ा दुर्मर होता है। मरना बड़ा कठिन है। मरना चाहता है, पर मर नहीं पाता। इस हृदय की विचित्र व्यथा, विवशता वैवश्य को ही प्रेमी लोग प्रेम कहते हैं। प्रेम क्या है, मधुर वैवश्य। जो मधुर विवशता है, वही प्रेम है। विवशता हो पर मीठी।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद् विद्यात्समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥
(मनुस्मृतिः ४।१६९)

आम तौर पर 'परवशता दुःख है। आत्मवशता सुख है। परन्तु यहाँ विवशता मधुर है।'

इस तरह इन श्री राधाकृष्ण को आह्लादित करने वाले शुक ही श्रीमत् परमहंस शुक हैं। श्रीशुकदेव जी श्रीराधारानी के परम कृपापात्र हैं। उनके मुखारविन्द से, हृदय से, आविर्भूत दिव्य मधुर रसमय शब्दावलियों का रसास्वादन करने वाले हैं। उनके मुखारविन्द से सुनकर श्रीकृष्ण के मधुर मनोहर मंगलमय नाम का पाठ करने वाले हैं। श्रीकृष्ण भगवान् के भी परम प्रिय हैं। ऐसे शुकदेव जी महाराज श्रीमद्भागवत के प्रवक्ता हैं। ऐसे प्रवक्ता जो साक्षात् भगवान् के अनुग्रह पात्र हैं, भगवत्पदप्राप्त महायुक्त हैं। वे भक्त-कल्याण के लिए आविर्भूत हुए।

जैसे श्रीमद्भागवत के शुकदेव जी महान् प्रवक्ता हैं; वैसे ही परीक्षित् जी श्रोता भी भगवान् के साक्षात्कृपापात्र हीं हैं।

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥
(भागवत १०।१।६)

जिस समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के छोड़े हुए ब्रह्मास्त्र से कौरव—पाण्डव वंश का बीजरूप मेरा यह देह दग्ध हो रहा था, उस समय शरण में गयी हुई मेरी माता के गर्भ में प्रवेशकर जिन्होंने सुदर्शन चक्र द्वारा इसकी रक्षा की ॥)

श्रोता भगवान् की परम कृपा का अनुभव करने वाले, उन्होंने कहा—"मैं जब माँ-उत्तरा के गर्भ में ही था तब द्रौणी-अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से यह हमारा शरीर तो विप्लुष्ट दग्ध प्राय हो गया था। जब ब्रह्मास्त्र ने हमला किया तब मेरी माँ भगवान् की शरण गई। भगवत्तत्त्वविदुषी थी। उसने कहा—'प्रभो! मेरा नाश भले हो जाय, मेरा गर्भ सुरक्षित रहे।' कौरव-पाण्डव-वंश का एकमात्र वही बीज था। इसलिए जब भगवान् के शरण हुई तो कर्तुमकर्तु-मन्यथाकर्तुंसमर्थ सर्वशक्तिमान् प्रभु गर्भ में ही प्रकट हो गये। गर्भ में ही अपनी गदा के तेज से, सुदर्शनचक्र के दिव्य तेज से ब्रह्मास्त्र का विधूनन किया। इस तरह श्री हरि ने मेरी रक्षा की। यद्यपि गर्भ विप्लुष्ट हो चुका था, तो भी अपनी अमृतवर्षिणी कृपा-दृष्टि से उसको पुनरुज्जीवित कर दिया।"

इसलिए भक्तों ने माना है—निर्विकारनिराकार ब्रह्म जैसा व्यापक है, वैसा ही ही सगुण-साकार-परब्रह्म भी व्यापक है। वह एकदेशीय नहीं है। व्यापक न होता तो

वह गर्भ में कैसे प्रकट होता ? बाहर से जाने की तो कोई गुंजाइश नहीं थी। चक्रधारी अनन्त तेज सम्पन्न पूर्णतम पुरुषोत्तम ने परब्रह्म उत्तरा के गर्भ में प्रकट हो करके अपने अस्त्रतेज से उस ब्रह्मास्त्र का विधूनन करके गर्भ का रक्षण किया और अमृत वर्षिणी कृपादृष्टि से पुनरुज्जीवित किया।

स एष लोके विख्यातः परीक्षिदिति यत्प्रभुः।
गर्भे दृष्टमनुध्यायन्परीक्षेत नरेष्विह॥

(भागवत १।१२।३०)

उस समय बालक ने अपने गर्भदृष्ट पूर्व दृष्ट पुरुष का स्मरण कर मनुष्यों में उसकी परीक्षा की थी। इसलिए वह लोक में 'परीक्षित्' नाम से विख्यात हुआ।।)

परीक्षित् का परीक्षित् नाम क्यों पड़ा ?

इसलिए कि गर्भ में उन्होंने भगवान् के स्वरूप को देखा। भगवान् के अनन्त मुखचन्द्र का दर्शन किया। उनके दिव्य दामिनीद्युतिविनिन्दक पीताम्बर का दर्शन किया। मंगलमय अंग के अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य का रसास्वादन किया। इसलिए वे मनुष्यों की परीक्षा किया करते थे।

बोले—ये कौन हैं ?

उत्तर मिला—ये भीम हैं, ये नकुल हैं, ये सहदेव हैं।

बोले—ये वे तो हैं ही नहीं, जिन्हें मैंने गर्भ में देखा।

परम कृपापात्र परीक्षित् पर कृपा करने के लिए वही परात्पर परब्रह्म कृष्ण ही शुकदेव का रूप धारण करके उनके कल्याण के लिए स्वयं प्रगट हो गये। क्योंकि भगवान् का प्रकाश भगवान् के द्वारा ही होता है। भगवान् ही परात्पर परब्रह्म श्रीशुकदेव जी महाराज के रूप में प्रकट हो गये, उनके कल्याण के लिए—

तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेषः॥

(भागवत १।१९।२५)

(उसी समय परम निरपेक्ष व्यास पुत्र भगवान् शुकदेव स्वच्छन्दता से पृथिवी पर विचरते हुए वहाँ आये। जो कि वर्णाश्रमादि चिह्नों से रहित, आत्मलाभ से सन्तुष्ट, स्त्री-बालकों से घिरे हुए और अवधूत वेष में थे।)

श्री सूत जी ने ऐसी वन्दना करके महाराज शुकदेव जी की लोकोत्तर महिमा का प्रख्यापन किया। परीक्षित् की भी विशेषताओं का वर्णन किया। इस तरह बतला दिया कि श्रीमद्भागवत के अद्भुत श्रोता और अद्भुत वक्ता हैं। दोनों का संवाद भी बड़ा अद्भुत है।

(९) परम धर्म

श्रीमद्भागवत अद्भुत है। इसमें परम तत्त्व का निरूपण है। वह भी केवल शुष्क परम तत्त्व नहीं, उस परम तत्त्व का जो निर्गुण-निराकार-निर्विकार होते हुए भी सगुण-साकार-सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उसकी जो मंगलमयी लीलाएँ हैं, उन्हीं का इसमें वर्णन है। श्रीहरि की अनन्त लीलाएँ है। लीलामृत के आस्वादन में भावुक भक्त रमे रहते हैं। इसमें श्यामसुन्दर मदनमोहन का अर्थात् श्याम तेज का वर्णन है। वह भी गौर तेज संवलित श्याम तेज का और श्याम तेज संवलित गौर तेज का वर्णन है। इस संवलित सम्मिलित तेज की आराधना-उपासना बिना किए परम विश्राम नहीं मिलता। इन सब बातों को कहने-सुनने के लिए सूत जी ने उपक्रम (आरम्भ) किया।

पहले वन्दना की—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥
(भागवत १।२।४)

श्रीनारायण ऋषि को, मनुष्यों में श्रेष्ठ नर-ऋषि को, सरस्वती देवी और व्यास जी को नमस्कार कर फिर जय (भागवत) ग्रन्थ का पाठ करो।

सूत जी ने कहा—भाई! जो आपने प्रश्न किया, वह तो बहुत अच्छा किया। आपका प्रश्न ऐसा है, जिससे अन्तरात्मा प्रसन्न शुद्ध हो जाता है—

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।
यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥
(भागवत १।२।५)

हे मुनिगण! आपने मुझसे बहुत अच्छी और संसार के लिए मंगलमयी बात पूछी है, क्योंकि आपने यह श्रीकृष्ण विषयक प्रश्न किया है, जिससे कि अन्तःकरण पवित्र एवं आनन्दित होता है।

मुनियो! परमधर्म क्या है? प्राणियों का परमधर्म सर्वोत्कृष्ट-धर्म वह है, जिससे भगवान् परात्पर परब्रह्म में प्रीति हो, भक्ति हो—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(भागवत १।२।६)

पुरुषों का सबसे उत्तम धर्म वही है जिससे श्रीहरि में निष्काम और अव्यभिचारिणी भक्ति हो जिससे कि चित्त प्रसन्न होता है।

'अधः कृतानि अक्षजानि ज्ञानानि यस्मात्' अक्षज-ज्ञान जिससे बहुत निकृष्ट रह जाता है, वही भगवान् हैं। माने अक्षज-ज्ञान का जो अविषय-निर्विकार, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, निर्दृश्य दृक् परात्पर परब्रह्म परमात्मा, वही भगवान् हैं। उनमें भक्ति ही परम धर्म (सबसे बड़ा धर्म) है। भक्ति कैसी हो ? अहैतुकी अर्थात् हेतु रहित भक्ति।

एक आचार्य ने कहा — अहैतुकी का ऐसा अर्थ करोगे तो **'यतो भक्तिरधोक्षजे'** यहाँ पञ्चमी नहीं बनेगी। **'यतः'** पञ्चमी तो कारण अर्थ में ही है। 'जिससे भगवान् में भक्ति हो' कारण तो स्पष्ट ही है। अगर भक्ति का कारण ही नहीं है, अहैतुकी है तो **'यतो भक्तिः'** बात कैसे बनेगी ? इसलिए अहैतुकी का अर्थ—**'हेतुः फलानुसन्धानं न विद्यते यस्यां सा अहैतुकी'** फलानुसन्धान जिसमें न हो ऐसी भक्ति का नाम अहैतुकी भक्ति है।

तो वह अहैतुकी भक्ति कैसी है ? जो परम धर्म से होती है। क्या परम धर्म है ? श्रीधर स्वामी के मतानुसार वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म-कर्म का अनुष्ठान। यज्ञ करना, दान करना, तप करना, व्रत करना, श्राद्ध करना, तर्पण करना, वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म-कर्म का अनुष्ठान करना परम धर्म है। वह भी भगवच्चरण-पङ्कज-समर्पणबुद्ध्या, स्वतन्त्र नहीं। जैसे संखिया जहर है, मारक है, लेकिन मारक संखिया भी मल्ल चन्द्रोदय बनकर अपरिगणित रोगों का निवारक बन जाता है। ऐसे ही यद्यपि कर्म निर्बन्धक है, विद्या मोक्षदा है। परन्तु भगवत्पाद-पङ्कज में समर्पित कर्म विमोक्षक होता है। माने भगवत्पादपङ्कजसमर्पण बुद्धि से उसा स्वधर्मानुष्ठान का परिणाम यह होता है कि बुद्धि पवित्र हो जाती है—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥

(महा० शान्ति० १४१।६)

(प्राणी कर्म से बंधता है और विद्या से विमुक्त हो जाता है। जबकि बात ऐसी है, इसलिए जो पारदर्शी यति हैं वे कर्म करते ही नहीं॥

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे[36] न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(महा० शान्ति० १।५।१२)

कैवल्य मोक्ष का कारण रूप उपाधि रहित ज्ञान भी भगवद्भक्ति के बिना सुशोभित नहीं होता, फिर जो कि सदा ही अभंगलरूप है और सत्त्वशुद्धि का कारण नहीं है, वह ईश्वरार्पण बुद्धि से रहित कर्म कैसे सुशोभित हो सकता है ?)

---

३६. न ह्यर्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम्

(भागवत १२।१२।५२)

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यति रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

(महा० शान्ति० १।२।८)

मनुष्यों का भली प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी धर्म यदि श्रीविष्वक्सेन नारायण की कथा में प्रेम उत्पन्न न करे तो वह केवल श्रम मात्र ही है ।)

निष्काम कर्म भी करो, अगर भगवान् में अर्पण न करो तो श्रम-ही-श्रम है । उसका कुछ फल नहीं । इसलिए भगवत्पादपंकजसमर्पणबुद्धि से स्वधर्म का अनुष्ठान करने का परिणाम यह होता है कि बुद्धि पवित्र हो जाती है । जैसा कि भगवान् गीताकार श्रीकृष्ण परमात्मा कहते हैं—

यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

(भगवद् गीता १८।५)

यज्ञ, दान और तप ये तीन प्रकार के कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं बल्कि ये करने योग्य ही है । फल की कामना से रहित ये तीनों पवित्र करने वाले हैं ।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

(भगवद्गीता १८।६)

इन सब कर्मों को सङ्ग त्याग करके, फल त्याग करके भगवत्पादपंकज समर्पण बुद्धि से अनुष्ठान करो । यह मेरा निश्चित उत्तम मत है ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः ॥

(भगवद्गीता १८।४६)

जिस अन्तर्यामी ईश्वर से समस्त भूतों की प्रवृत्ति-उत्पत्ति या चेष्टा होती है एवं जिस परमात्मा से यह समस्त जगत् व्याप्त है, उसका प्रत्येक वर्णाश्रमी मनुष्य अपने-अपने कर्मों से यजन करके ज्ञान निष्ठा की योग्यता रूप सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

स्वधर्म का अनुष्ठान करो । यज्ञ, दान, तप, जप, व्रत, श्राद्ध, तर्पण सब करो परन्तु भगवत्पादपङ्कजसमर्पण बुद्धि से, भगवत्पदप्राप्ति की भावना से । गोस्वामी जी कहते हैं—

तरपन होम करहिं विधि नाना।
विप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥
(रामचरितमानस २।१२८।७)

तर्पण करो, यज्ञ करो, होम करो, दान करो, ब्राह्मणों को भोजन कराओ। पर भगवच्चरणारविन्द में रति ही सबका फल चाहो, कुछ और नहीं। जो यज्ञ करते हैं, तप करते हैं, देवी-देवता का पूजन करते हैं, सबका फल भगवान् के चरणों में प्रीति ही चाहते हैं, बस और कुछ नहीं, उनके हृदय में भगवान् निवास करते हैं—

सबु करि मागहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्हके मन मन्दिर बसहु सियरघुनन्दन दोउ॥
(रामचरितमानस २।१२९)

इसी दृष्टि से **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** कहा। इसलिए कर्म हो निष्काम **'यतो भक्तिरधोक्षजे'**। दूसरे आचार्य कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन्, पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
(भागवत ६।३।२२)

इस लोक में भगवान् के नामोच्चारणादि के सहित किया हुआ भक्तियोग ही मनुष्य का सबसे प्रधान-धर्म माना गया है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(भागवत ७।५।२३)

(भगवान् विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन करना—यह उनकी नवधा भक्ति है॥)

इस मत में भगवन्नामकीर्तनादि ही परम धर्म है। यही सर्वोत्कृष्ट धर्म है, निष्काम श्रौत-स्मार्त धर्म नहीं। इत्यादि। यह सब अवान्तर लीला है। सब आचार्यों ने भिन्न-भिन्न ढंग से रस का अनुभव किया है। इसमें राग-द्वेष की बात नहीं है। सब आचार्य अपने-अपने ढंग से उसी तत्त्व में पर्यवसित होते हैं।

पहले पक्षवाले कहते हैं—'अहैतुकी' का अर्थ क्या है?

दूसरे कहते हैं—अहैतुकी का अर्थ है हेतु-रहित।

पहले वाले कहते हैं—'**यतः**' पञ्चमी कैसे ?

दूसरे कहते हैं—पञ्चमी ऐसी है कि जैसे 'आमाम्र पक्वाम्र' का हेतु है। वैसे ही भक्ति ही भक्ति का हेतु होती है। क्योंकि भक्ति क्या है ?

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥
धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धुः पूर्व विभागे चतुर्थी प्रेमभक्ति लहरी ६-८)

पहले **श्रद्धा** हो। **श्रद्धा** क्या है ? भक्ति का ही एक रूप है। इसी तरह साधु संग, **भजन क्रिया**—ये सबके सब भक्ति के ही रूप हैं। किन्तु इतना ही कहना है कि अपक्व भक्ति से ही परिपक्व भक्ति बनती है। इसलिए उससे अतिरिक्त हेतु कोई दूसरा नहीं है। अतः '**न हेतुः कारणं विद्यते यस्यां सा अहैतुकी**' ऐसा कहना उचित ही है। अहैतुकी है भक्ति और अप्रतिहता है, जो किसी भी प्रकार से प्रतिहत नहीं होती और अव्यवहिता (व्यवधान शून्य) होती है। जिसके बीच में क्षणभर का व्यवधान न हो, अखण्ड रूप से भगवत्-परायणता, भगवन्निष्ठा हो। इस तरह '**स वै पुंसां परो धर्मः**[३७]'।

---

३७. श्रीधरी—यत्र यत्प्रथमं पृष्टं सर्वशास्त्रसारमैकान्तिकं श्रेयो ब्रूहि इति, तत्रोत्तरम् 'स वै पुंसामिति', अयमर्थः—धर्मो द्विविधः, प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्चेति। तत्र यः स्वर्गाद्यर्थः प्रवृत्तिलक्षणः सोऽपरः। यतस्तु धर्माच्छ्रवणादरादिलक्षणा भक्तिर्भवति स परो धर्मः। स एवैकांतिकं श्रेय इति। कथं भूता ? अहैतुकी। हेतुः फलानुसंधानं तद्रहिता। अप्रतिहता विघ्नैरनभिभूता।

विश्वनाथ चक्रवर्ती सारार्थदर्शिन्याम्—सर्वशास्त्रसारं ऐकान्तिकं श्रेयो ब्रूहि इति प्रश्नद्वयस्य उत्तरमाह 'स वै पुंसां' पुम्मात्राणामेव धर्मः परः परमः श्रवणकीर्तनादि लक्षण। यदुक्तम्—'एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः (६।३।२२)। इत्यतः पर शब्दो विशेष्यो धर्मो भक्तियोग एव भवेदिति तथात्र वतुप् प्रत्ययेनैवकारेण चैतदन्यस्य परधर्म पदवाच्यत्वं च निषिद्धम्। यतो भक्तिः प्रेम लक्षणा भवेत्। अहैतुकी हेतुं विनैवोत्पद्यमाना इति सगुणा व्यावृत्ता। ननु महानयमपलापः क्रियते ? मैवम्। श्रवण कीर्तनादि रूपो यो धर्मः स भक्तिरेव साधन-नाम्नी, सैव पाकदशायां प्रेम नाम्नी।

भक्ति से अन्तरात्मा प्रसन्न होता है। अन्तरात्मा माने अन्तःकरण। अन्तःकरण की प्रसन्नता तो रज, तम के राहित्य से संभव है। रज कम हो जाय, तम कम हो जाय, सत्त्व का प्राधान्य हो जाय तभी अन्तःकरण की प्रसन्नता संभव है। सत्त्व का प्राधान्य होगा तो प्रकाश होगा, वैराग्य होगा, विवेक होगा। वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्य, ज्ञानाज्ञान और धर्माधर्म ये सब अन्तःकरण के धर्म हैं। अन्तःकरण तामसराजस होता है तो अवैराग्य, अधर्म, और अनैश्वर्य का प्राधान्य होता है। जब सत्त्व का विकास होता है तो ऐश्वर्य का प्राधान्य होता है, ज्ञान, वैराग्य, धर्म का प्राधान्य होता है। तभी मन प्रसन्न अर्थात् निर्मल हो जाता है, निष्कलंक हो जाता है। रजस्तमोलेशाननुविद्ध हो जाता है। तभी भगवत्तत्व समझ में आता है। जिसका अन्तरात्मा पवित्र नहीं है, उसे तो तत्त्वोपदेश सुनने पर भी भगवत्तत्त्व समझ में नहीं आता। जिसका अन्तरात्मा पवित्र है, उसी को भगवत्तत्त्व ठीक-ठीक समझ में आता है। जिसका मन अत्यन्त मलिन है, उसे तो भगवान् की कथा सुनने में रुचि ही नहीं होती। अत्यन्त पापी को तो कथा-श्रवण का सुयोग भी नहीं प्राप्त होता। अतः कथा-श्रवण में प्रीति और प्रवृत्ति तदर्थ सात्त्विक आहार-विहार और सात्त्विक ही समस्त व्यवहार का सेवन परमावश्यक है—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥
यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम्॥
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्॥

ते द्वे अपि भक्ति शब्देनैवोच्येते। तदपि 'भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्' (भाग० ११) इति 'यतो भक्ति रधोक्षजे' इत्यादिषु उत्तरस्याः भक्तेः पूर्वा भक्तिः कारणम्। पक्वाम्रस्य कारणं आम्राम्रमितिवत्। स्वादभेदनिबन्धनमेव तस्य कारणत्वं बालबोधनार्थं काल्पनिकमेव न तु वास्तवम्। न ह्येकस्यैव पुरुषस्य बाल्ययौवनाद्यनेकावस्थावतो हेतुहेतुमद्भावस्तात्त्विक इति। घटपटौदनादिषु मृत्तन्तुतण्डुलादीनां नामरूपलोप इवेति न तादृशत्वमत्र व्याख्यातुं शक्यमित्यवसेयम्। न च भक्तेः प्रसिद्धो हेतुः साधुसंग एवास्तीति वाच्यम् तस्यापि— 'आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिये' त्यादौ भक्तेर्द्वितीयभूमिकात्वेनोक्तत्वात्—भक्तित्वमेव। 'स्यान्महत्सेवया विप्रा' इत्यग्रेपि तथा व्याख्यास्यमानत्वाच्च।

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवत[३८] सेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

(भागवत १।२।१४-२०)

(अतः सर्वदा एकाग्र चित्त से सात्त्वतों के स्वामी भगवान् श्रीहरि का ही श्रवण, कीर्तन, ध्यान और पूजन करना चाहिए।)

जिनके निरन्तर ध्यान रूप खड्ग से युक्त विवेकीजन कर्म ग्रन्थि के बन्धन को काट डालते हैं, उन भगवान् की कथा में कौन प्रेम न करेगा ?

हे विप्रगण ! सुनने की इच्छावाले श्रद्धालु पुरुष को महापुरुषों की सेवा करने और पुण्यतीर्थ में रहने से भगवान् वासुदेव की कथा में रुचि हो जाती है।

जिनका श्रवण, कीर्तन, अत्यन्त पवित्र है, वे साधुजनों के सुहृद् भगवान् कृष्ण अपनी कथा सुनने वालों के हृदय में विराजमान हुए उनकी अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार भागवत का निरन्तर सेवन करने से अशुभ वासनाओं के प्रायः नष्ट हो जाने पर भगवान् उत्तमश्लोक में निश्चल प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है।

उस समय-लोभादि जो राजसतामस भाव हैं, उनसे रहित होकर सत्त्वगुण में स्थित हुआ चित्त प्रसन्न और निर्मल हो जाता है।

इस प्रकार भगवान् के भक्तियोग से प्रसन्नचित्त हुए आसक्ति रहित साधक को भगवत्तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है।)

मुनियो ! आपलोग तो आप्तकाम पूर्णकाम हैं। इसलिए लोकमंगल के लिए आपका यह प्रश्न है। सर्वोत्कृष्ट धर्म यही है जिससे भगवान् में भक्ति उत्पन्न हो।

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

(भागवत १।२।७)

---

३८. श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्त।

(भगवान् वासुदेव में प्रयुक्त किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसार से वैराग्य करता है और शुष्क-तर्कादि से रहित विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न उत्पन्न करता है।)

भगवान् सर्वान्तरात्मा वासुदेव हैं।

'वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् स वासुः द्योतनात्मकः स्वप्रकाशः देवः। वासुश्चासौ देवश्च वासुदेवः।'

सम्पूर्ण प्रपञ्च जिसमें निवास करता है और जो सबमें निवास करता है, घट-घट वासी सर्वान्तरात्मा, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी वह स्वप्रकाशात्मक देव वासुदेव हैं। उन भगवान् वासुदेव में भक्तियोग प्रयोजित हो करके शीघ्र ही वैराग्य पैदा करता है। संसार से वैराग्य बहुत जरूरी है। वैराग्य बिना हुए ब्रह्मात्म-तत्त्व का अनुभव नहीं होता!

'ज्ञानं च यदहैतुकम्' जो अहैतुक ज्ञान है। हेतु माने तर्क—**'हेतुस्तर्कः'**[३९] जिसमें तर्क का सन्निवेश नहीं। जो अतर्क है, श्रौत है, श्रुतिगम्य है। श्रुति से—वेदशास्त्र से जिस परात्पर परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। ऐसा ज्ञान शुद्ध मन में होता है।

'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां ......' (भागवत १।२।८)

धर्म का शुद्ध रूप से अनुष्ठान करो। वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म का साङ्गोपाङ्ग ठीक-ठीक अनुष्ठान करो। द्रव्य भी शुद्ध हो, कर्ता भी शुद्ध हों और ऋत्विज आदि भी शुद्ध हों। देश-काल भी बड़ा पवित्र हो। साङ्गोपाङ्ग समग्र श्रौत-स्मार्त धर्म का भी अनुष्ठान करो। अगर उसके द्वारा भगवान् की मंगलमयी कथा में रति (प्रीति) रुचि नहीं बनी तो श्रम ही है वह। **'श्रम एव हि केवलम्'** (१।२।८) एव कहने के बाद भी केवल कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसा धर्मानुष्ठान बिल्कुल निरर्थक होता है। अगर श्रौत-स्मार्त धर्मों का अनुष्ठान करने से भी भगवान् के चरणों में प्रीति न हो तो वह बिल्कुल निरर्थक ही है। अतः अत्यावश्यक है कि कथा में रुचि हो। तभी कर्म-त्याग की बात भी सध सकती है।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः॥

(भागवत ११।१८।२८)

---

३९. अहैतुकं शुष्कतर्काद्यगोचरमौपनिषदम् इत्यर्थः (श्रीधरी)

जो ज्ञाननिष्ठ हो विरक्त हो अथवा किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करने वाला मेरा भक्त हो, वह आश्रमादि को उनके लिङ्गों (चिह्नों) के सहित त्याग कर वेद-शास्त्र के विधि-निषेध रूप बन्धन से मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरे।)

ज्ञानी हो, विरक्त हो, संसार तुच्छ प्रतीत होता हो। लौकिक, पारलौकिक दृष्ट और आनुश्रविक सब प्रकार के जो विषय हैं, उनसे वितृष्णता हो। किसी भी विषय में तृष्णा न हो। इन्द्रलोक, कल्पवृक्ष, कामधेनु, नन्दनवन, चिन्तामणि, रम्भा-उर्वशी आदि दिव्याङ्गनाएँ सबसे जो विरक्त हो।

रमा बिलासु रामअनुरागी।
तजत बमन जिमि नर बड़भागी॥
(रामचरितमानस २।३२३।८)

अनन्त-अनन्त ऐश्वर्य हो, दिव्य विमान हो, दिव्य नन्दन वन हो, कल्पवृक्ष हो, चिन्तामणि हो, कामधेनु हो, अनन्त-अनन्त सुख-भोग-सामग्री हो उनकी ओर ऐसी दृष्टि हो जैसे वमन। मधुर, मनोहर पक्वान्न खाकर वमन हो गया हो उसे देखने की बुद्धि नहीं होती। ठीक इसी प्रकार संसार को देखने की जिसकी बुद्धि नहीं होती वह वैराग्य सम्पन्न है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
(योग दर्शन १।१५)

देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णा रहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है॥)

पर वैराग्य तो इससे भी ऊँचा है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।
(योग दर्शन १।१६)

पुरुष के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना है, वह पर वैराग्य है।)

प्रकृति-पुरुष के विवेक से पर वैराग्य होता है। अर्थात् अनन्त अखण्ड निर्विकार परात्पर परब्रह्म का अपरोक्ष-साक्षात्कार करने से गुणों में वितृष्णता हो जाती है।

साधक कम-से-कम शान्ति तो चाहते हैं। विषयों का त्याग इसलिए करते हैं कि शान्ति मिले। विषय से अशान्ति मिलती है। इसी तरह दान्ति, उपरति चाहते

हैं। पुरुष साक्षात्कार चाहते हैं। परन्तु ऊँचे-ऊँचे सात्त्विक परिणाम की भी अपेक्षा न रह जाय, यह अत्यावश्यक है।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

(भगवद् गीता १४।२२)

हे पाण्डव ! गुणातीत सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश एवं रजोगुण के कार्य प्रवृत्ति और तमोगुण के कार्य मोह उपलब्ध होने पर न द्वेष करता है और न उनकी निवृत्ति होने पर उनको चाहता है ॥)

उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट सात्विक प्रवृत्ति निवृत्त हो जाय तो उसमें व्याकुल नहीं। राजसी प्रवृत्तियों के प्रवृत्त हो जाने पर भी उससे खिन्नता नहीं। इस प्रकार की वितृष्णता बहुत ऊँची चीज है। विशुद्ध अन्तःकरण में ये सब बातें बनती हैं।

इस तरह भगवद्भक्त को अनपेक्ष होना आवश्यक है। अपेक्षा होने से ही कथा में बाधा पड़ती है। कथा में बैठे हैं। याद आ रही है जूते की, जूता तो कोई नहीं उठा ले जायगा। या दुकान याद आ रही है, भिन्न-भिन्न प्राञ्च याद आ रहा है। ऐसे व्यक्ति कथा श्रवण के शुद्ध अधिकारी नहीं। कथा श्रवण के शुद्ध अधिकारी तो वे ही हैं जो अनपेक्ष हों।

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

(भागवत ११।२०।९)

तभी तक कर्म करना चाहिए, जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुखों से वैराग्य न हो जाय अथवा जब तक मेरी लीला-कथा के श्रवण-कीर्तन में श्रद्धा न हो जाय ॥)

तब तक कर्म काण्ड करना चाहिए—यज्ञ, तप, दान करना चाहिए, जब तक पूरा वैराग्य न हो जाय। अथवा भगवान् के मंगलमय कथा—सुधा के पान में श्रद्धा जब तक न हो, कर्म करते रहना चाहिए। एतावता कर्म की सीमा है। भगवत्कथा में अखण्ड श्रद्धा अथवा सम्पूर्ण संसार से पूर्ण वैराग्य। इस तरह ज्ञान मार्ग के लिए परम वैराग्य और भक्ति के लिए भगवत्कथा में अखण्ड श्रद्धा। इसके बिना तो '**श्रम एव हि केवलम्।**

(११) मोक्ष पर्यवसायी धर्म, अर्थ और काम :—

'बोले, भाई ! धर्म का तो और भी फल है', इस पर कहा—

धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

(भागवत १।२।९।१०)

क्योंकि धर्म अपवर्ग-मोक्ष साधक है, उसका प्रयोजन केवल अर्थ-धन नहीं है। धर्म साधक अर्थ का फल केवल काम-भोग भी नहीं है ॥९॥ काम का फल भी इन्द्रिय-लालन नहीं है, जीवन का फल भी तत्त्व-जिज्ञासा ही है, इस लोक में यज्ञादि कर्मों के द्वारा प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल ही जीवन की सार्थकता नहीं है ॥१०॥

इन श्लोकों में अपना सारा सिद्धान्त बता दिया। धर्म का मुख्य फल है अपवर्ग-भगवत्पदप्राप्ति। बोले-अर्थ भी तो फल है। स्वर्ग मिले, नन्दनवन मिले, चिन्तामणि मिले, कामधेनु मिले, अनन्त-अनन्त भोगसामग्री मिले। इस तरह अर्थ भी तो फल है।

इस पर कहा—नहीं। अर्थ जो है, वह धर्म का प्रयोजन नहीं, धर्म का प्रयोजन-शुद्ध अपवर्ग है।

बोले—पर धर्म से तो अर्थ मिलता ही है फिर धन का क्या फल है ?

इस पर कहा—धन का परमफल धर्मानुष्ठान है। धन मिल गया, तब यज्ञ करो, व्रत करो, जप करो। परन्तु लोग क्या मानते हैं ? लोग मानते हैं कि धर्म का परम फल है अर्थ, अर्थ का फल काम है, काम का फल इन्द्रिय-तर्पण है।

किसी ने पूछा—क्यों भाई ! कर्म बहुत क्यों कर रहे हो ?

उत्तर दिया—भाई ! कर्म न करेंगे तो खायेंगे क्या ?

पूछा—खाते क्यों हो ?

उत्तर दिया—खायेंगे नहीं तो कर्म कैसे करेंगे ?

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमश्नुते ।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥

(पञ्चदशी १।३०)

कर्म करते हैं भोग के लिए, भोग भोगते हैं कर्म करने के लिए। जैसे नदी में पड़ा हुआ कीड़ा एक भँवर से दूसरे भँवर में, दूसरे से तीसरे में पड़ते रहकर सुख नहीं पाता, वैसे जन्म से जन्मान्तर लाभ करते रहने के कारण प्राणी सुख प्राप्त नहीं करते।।)

'कर्म करते हैं भोग के लिए और भोग भोगते हैं कर्म के लिए।' यह गोरख धन्धा कब मिटेगा ? कर्म के लिए भोग करते हैं, भोग के लिए कर्म करते हैं तो इस अखण्ड धारा को कौन रोकेगा ? इसलिए इससे विमुक्त होने के लिए यही आवश्यक है कि संसार से वैराग्य हो !

इस दृष्टि से तो धर्म का परम फल है अपवर्ग। वेदान्त सिद्धान्त है—श्रीमद्भागवत सिद्धान्त है कि 'भव बन्ध' और 'भव-मोक्ष' यह संज्ञा अज्ञान से हुई है—

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी।।

(भागवत १०।१४।२६)

अज्ञान के कारण भवबन्ध और मोक्ष की कल्पना है। वास्तव में अखण्ड सच्चिदानन्द परात्पर-परब्रह्म में न भव बन्धन नाम की कोई वस्तु है न मोक्ष नाम की कोई वस्तु।

अध्यात्म रामायण के अनुसार—

नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेत् प्रकाशरूपाव्यभिचारतः क्वचित्।
ज्ञानं तथाऽज्ञानमिदं द्वयं हरौ रामे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने।।

(अध्यात्म रामायण १।१।२३)

जिनकी संज्ञा अज्ञान से ही कल्पित है, वे संसार सम्बन्धी बन्धन और मोक्ष दोनों ही सत्य और ज्ञान स्वरूप परमात्मा से भिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार सूर्य में दिन और रात्रि का अभाव है, वैसे ही विचार करने पर अखण्डचेतनस्वरूप अद्वितीय परमात्मा में बन्धन और मोक्ष नहीं है।

शुद्ध चिद्घन राम में ज्ञान-अज्ञान दोनों की कल्पना नहीं हो सकती। प्रकाश रूप सूर्य में दिन-रात्रि जैसे संभव नहीं। इन सब दृष्टियों से निरावरण परात्पर परब्रह्म ही अपवर्ग है। इसलिए अपवर्ग और भगवत्पद प्राप्ति दोनों एक ही हैं। इसलिए कर्मकाण्ड का परमफल अन्त में भगवत्पद प्राप्ति है। उसका गौणफल है अर्थ। अच्छा तो धन मिल गया तो उसका क्या फल ?

बोले धन का मुख्य फल तो है धर्मानुष्ठान। धन मिला तो यज्ञ करो, दान करो, तप करो, परोपकार करो, समाज सेवा करो, राष्ट्र सेवा करो, गरीबों को सहायता पहुँचाओ। यह सब धन का परम फल है। धन का गौण फल काम भी है। काम अर्थात् विषय-भोग।

यद्यपि लोग काम का परम फल इन्द्रिय तर्पण मानते हैं, परन्तु वैसा है नहीं है। तब क्या फल है ? जीवन धारण करना। अरे भाई! पानी पीते हैं किसलिए, इसलिए कि शरीर स्वस्थ रहे, भगवान् का भजन हो। भोजन करते हैं कसलिए ? इसलिए कि शरीर स्वस्थ रहे, भगवान् का भजन करें। उद्देश्य की पवित्रता अत्यावश्य है कोई मक्खन खाता है, बादाम घोट-घोटकर पीता है।

हमने पूछा—'बेटा तुम मक्खन क्यों खाते हो, बादाम क्यों घोंट-घोंटकर पीते हो ?

बोले—'गुरु जी ! इसलिए खाते हैं कि हमारे टोला में—पड़ोस में कोई गुण्डा माँ, बहिन, बेटियों की इज्जत आबरू नष्ट करने की कोशिश करेगा तो हम उसका सिर तोड़ देंगे। भिड़न्त करेंगे। इसलिए हम बादाम घोटते हैं।'

हमने कहा—'शाबाश ? खूब बादाम पियो, खूब मक्खन खाओ। यह बड़ा पुण्य है, क्योंकि उद्देश्य पवित्र है।'

किसी दूसरे से पूछा—'तुम मक्खन क्यों खाते हो ?'

कहा—गुरु जी ! पड़ोसियों का सिर तोड़ने के लिए।'

हमने कहा—'ऐसा बादाम खाना तो पाप है। उद्देश्य ही तुम्हारा गलत है।' इसलिए उद्देश्य अच्छा हो। हम भोजन भी करें, पानी भी पीयें, कुछ भी करें, उद्देश्य है शरीर स्वस्थ रहे, भगवद् भजन करें, भगवान् का ध्यान करें' समाधि करें, भगवत्पद प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हों। इस ढंग से भोजन करना भी भजन है। पानी पीना भी भजन है। भोजन सामग्री उपार्जन करना भी भजन है। उद्देश्य हमारा भगवत्पदप्राप्ति हो। इस तरह काम का फल इन्द्रिय-तर्पण नहीं, बल्कि जीवन-यापन ही है।

बोले—फिर जीवन का फल क्या है ?

लोग तो यही मानते हैं कि जीवन का फल आनन्द लेना- मौज लेना-मजा लेना ही है। जब तक जियो मजा लो। विविध प्रकार के कर्मो को करते रहें और कर्मजा सिद्धियों को ही भोगते रहो। बस, यही है जीवन-सम्पादन का फल। परन्तु ऐसा नहीं। जीवन का फल है तत्त्व जिज्ञासा। जीवन इसलिए कि तत्त्वजिज्ञासा करो। बड़े भाग्य हैं उसके जिसके हृदय में तत्त्व जिज्ञासा होती है। हर-एक को तत्त्व-जिज्ञासा नहीं होती। दुनियाँ की जिज्ञासा होती है। लोग कहते हैं—

भाई ! गधे के कितने रोएँ होते हैं ? बताओ तो सही, गौ के कितने दाँत होते हैं ? परन्तु ये निरर्थक जिज्ञासा हैं । करो मत्था-पच्ची । गिनो गधे के दाँत । पर ऐसी जिज्ञासा होनी चाहिए—संसार का मूल क्या है ? संसार का परम कारण क्या है ? यह संसार दृश्य क्यों है ? दृश्य है तो किसके लिए है ? शय्या प्रासादादि शय्या-प्रासादादि के लिए तो नहीं होते । संघात अपने से (उनसे) विलक्षण किसी चेतन के लिए होता है । शय्या शय्या के लिए नहीं, प्रासाद प्रासाद के लिए नहीं । शरीर शरीर के लिए नहीं, इन्द्रियाँ इन्द्रियों के लिए नहीं । सारा संघात परार्थ है । शय्या किसी सोने वाले असंघात चेतन के लिए है, प्रासाद किसी असंघात चेतन के लिए है । ऐसे ही संहत यह देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार किसी असंहत निर्विकार अनिर्देश्य अखण्ड बोध आत्मा के लिए है । इन सब बातों को समझना चाहिए । अनर्गल इच्छाएँ तो पैदा होती ही रहती हैं । इच्छा बड़े भाग्य से होती है । माता पार्वती को जैसे इच्छा हुई, वैसी तो सचमुच में बड़े भाग्य से होती है—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी ।
बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी ॥

(रामचरितमानस १।८१।५)

जन्म-जन्मान्तर कुमारी रहूँगी-तो-रहूँगी, पर शादी करूँगी तो भूतभावन शंकर से ही ।

सप्तर्षि गये विघ्न मचाने, परीक्षा लेने । शिव जी ने ही भेजा—'जाकर परीक्षा तो लो । सप्तर्षियों ने कहा—"तुम बड़ी पगली हो । आखिर तो पत्थर की लड़की हो । अरे, तुम्हें शंकर मिल भी जाएगें तो क्या होगा ? वे तो बस-बस कुछ मत पूछो, मुण्डमाला पहिने होंगे । चिता का भस्म गाए हुए होंगे । साँपों का यज्ञोपवीत होगा । तुम्हारा उनसे विवाह हो भी जायगा तो क्या करोगी ? चलो हम तुम्हारी शादी श्रीमन्नारायण परात्पर परब्रह्म विष्णु से करा दें । उनका दामिनी—द्युति-विनिन्दक पीताम्बर देखकर निहाल हो जाओगी । वह दिव्य मकराकृति कुण्डल, वह मंगलमय अंग की आभा-प्रभा कान्ति । अरे, क्या कहना है ! गिरिजे ! आओ तुम्हारी शादी विष्णु से करा दें ।"

सप्तर्षियों की यह बात सुनकर पार्वती कठमुल्लों की तरह शास्त्रार्थ में नहीं पड़ी । उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि नहीं-नहीं शिव जी अच्छे हैं, विष्णु खराब हैं । इस झंझट में नहीं पड़ी । बोलीं—

महादेव अवगुन भवन विष्णु सकल गुण धाम ।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥

(राम चरितमानस १।८०)

"आप यही कहना चाहते हो कि महादेव में बहुत दोष हैं। माने लेती हूँ, महाराज ! महादेव अवगुण के भवन हैं और विष्णु बड़े अच्छे हैं, यही कहना चाहते हो, मान्य है, मान्य है। माना कि विष्णु सकल गुणधाम हैं। विष्णु भगवान् अनन्त-अनन्त कल्याण गुण-गणों के धाम हैं। जितना आप कहते हो, उससे भी अनन्त गुणित अधिक गुणधाम विष्णु हैं। महादेव अवगुण के धाम हैं। बस, यही तो। पर क्या करें", '**जाकर मन रम जाइ जहँ**......'

सारा शास्त्रार्थ खत्म हो गया। अगर झंझट में पड़तीं तो यह शास्त्रार्थ करो, वह शास्त्रार्थ करो। वह खण्डन हुआ। यह मण्डन हुआ। दुनियां भर का प्रपञ्च खड़ा होता। यह अडिग प्रीति है। इसी को लेकर गोस्वामी जी ने कहा—'**जेहि कर मन** ......'

कोई सन्देह ही नहीं, जिसको जिस पर स्नेह है वह अवश्य मिलेगा। कोई शक्ति नहीं जो दुनियाँ में रोक सके। यही बात गोपाङ्गना जनों में है। गोपाङ्गना भी कहती हैं—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

(उज्जवलनीलमणी स्थायिभाव० २९)

यह शर्त नहीं कि मेरे श्यामसुन्दर बड़े सुन्दर न हों, चाहे सुन्दर शेखर हों, चाहे सर्व गुणों से रहित हों, चाहे अनन्त-अनन्त कल्याण गुण गणों के धाम हों। यह भी शर्त नहीं कि वे हमसे प्यार करें तो हम उनसे प्यार करें। हमसे द्वेष करते हों चाहे हम पर बहुत अकारणकरुण करुणावरुणालय हों, वे श्री श्यामसुन्दर ही तो अब मेरे सदा सर्वदा के लिए सर्वस्व हैं, प्राणधन हैं।

मां धवो यदि निहन्ति हन्यतां, बान्धवो यदि जहाति हीयताम्।
साधवो यदि हसन्ति हस्यतां माधवः स्वयमुरीकृतो मया॥

(आनन्द वृन्दावन चम्पू: ८।३७)

मेरे पति यदि मुझे मारते हों तो भले ही मारें। मेरे भाई-बान्धव यदि छोड़ते हों तो सहर्ष छोड़ दें। साधु गण भी यदि मेरी हँसी उड़ाते हैं तो उड़ाते रहें। क्योंकि मैंने तो श्रीकृष्ण को विचार पूर्वक स्वयं ही अंगीकार किया है।)

('माधवो' पाठ मानकर—) "मेरे प्राणनाथ मेरे प्रियतम श्याम सुन्दर ब्रजेन्द्र-नन्दन मदन मोहन माधव अगर हमारा बध करना चाहते हों तो भले करें, उनकी मर्जी। हमने तो उनको अपना सर्वस्व आत्मा निवेदन कर दिया। हमारे बन्धु-बान्धव यदि हमारा परित्याग कर देते हों तो भले ही करें। साधु-सन्त हँसते हों तो भले हँसें,

खूब हँसें, पर मैंने तो माधव को अङ्गीकार कर लिया। डंका बजाकर अपने मदन-मोहन प्रियतम को, अपने प्राणधन को अङ्गीकार कर लिया।"

यहाँ भी कोई शर्त नहीं। शुद्ध प्रीति इसी ढंग की होती है। ब्राह्मण लोग यज्ञ करके, तप करके, दान करके, जप करके, व्रत करके इसी परात्पर परब्रह्म विषयिणी विविदिषा का लाभ करते हैं। भगवत्तत्त्ववेदन की उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न हो जाय, इसी के लिए पूर्ण यज्ञ, पूर्णतप, पूर्णदान, पूर्णव्रत है। क्योंकि और इच्छाएँ हो सकती हैं, भगवत्तत्त्ववेदन की उत्कट उत्कण्ठा बड़े भाग्य से उत्पन्न होती है।

साक्षात्कार की कहानी अलग है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन की कहानी अलग है। खाली विविदिषा भी दुर्लभ है। बुभुक्षा (खाने की इच्छा) सबको हो जायगी, पर मुमुक्षा कहाँ? किसी के सिर में आग लगी, कोई बोला—'देखो इस रास्ते से चले जाओ सरोवर मिलेगा, उसमें गोता लगाओ।' चला सरोवर में गोता लगाने। सिर में, दाढ़ी-मूँछ में आग लगी थी, उधर बीच में 'टी-पार्टी' हो रही थी, नर्तकी नृत्य कर रही थी। मित्रों ने कहा—'भाई दो मिनट टी-पार्टी में शामिल हो लो। नृत्य देख लो।' भला बताओ? जिसके सिर में आग लगी हुई है, वह सिनेमा देखेगा या टी-पार्टी में बैठेगा या किसी से इधर-उधर आँख मिलाएगा? कुछ नहीं। ऐसे ही जिसको बुभुक्षा के तुल्य, पिपासा के तुल्य विविदिषा हो जाय तो 'को न मुच्येत बन्धनात्' दुनियाँ में कौन प्राणी है जो बन्धन से मुक्त न हो जाय। अवश्य ही बन्धन से विमुक्त हो जायगा। ऐसी इच्छाओं के लिए यज्ञ, दान, तप करना पड़ता है। भगवत्कृपा से भगवत्प्रेप्सा—भगवत्प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा उदित होती है। विषयतृष्णा तो पिशाची है, पर भगवत्तृष्णा दिव्य है। भगवान् के मधुर मनोहर मंगलमय मुखचन्द्र के दर्शन की इच्छा भगवान् के पादारविन्द की नखमणिचन्द्रिका के दर्शन की इच्छा, दामिनीद्युतिविनिंदक पीताम्बर के दर्शन की उत्कण्ठा दिव्य है। यह जन्म जन्मान्तरों के पुण्य-पुञ्जों से मिलती है। यह पुण्य-पुञ्ज का फल है।

कृष्णभावरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं कोटिजन्मसुकृतैर्न लभ्यते॥

अर्थात् 'कृष्णभाव रस भाविता मति' कहीं से खरीदने से मिलती हो तो खरीदो। बोले—मिलेगी कैसे? उसके लिए व्याकुलता होना, यही उसकी कीमत है। जैसे बुभुक्षु भोजन के लिए और जैसे पिपासु पानी के लिए व्याकुल हो उठता है, ऐसे ही भक्त प्राणनाथ-प्रियतम के मुखचन्द्र का दर्शन करने के लिए व्याकुल रहता है। यह लौल्य कैसे मिलता है? कोटि-कोटि जन्मों के सुकृत से ही मिलता

है, बिना उसके नहीं। जन्म-जन्मान्तर का कल्प-कल्पान्तर का पुण्य-पुञ्ज समुदित हो तब ऐसी उत्कण्ठा होती है। भगवत्पादपङ्कजसमर्पण-बुद्धि से अनुष्ठित कर्मों के द्वारा ही पुण्य-पुञ्ज हो पाता है। इस तरह ऐसी उत्कृष्ट विविदिषा-तत्त्व जिज्ञासा उत्पन्न हो, यही कर्मों का फल है।

(१२) 'तत्त्व' की तात्त्विक परिभाषा :—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भागवत (१।२।११)

तत्त्ववेत्ता लोग अद्वितीय ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं जो कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि नामों से कहा जाता है।)

तत्त्वविद् लोग उसको तत्त्व कहते हैं जो अद्वैत ज्ञान है। सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य जो अखण्ड अनन्त बोध वही तत्त्व है। **'अद्वयं यज्ज्ञानं तदेव तत्त्वम्'** (भागवत १।२।११), **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्ति० २।१।१), **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** (बृहदा० ३।९।२८), **'अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'** (बृहदा० ४।५।१३)।

हमारे श्रीमज्जीव गोस्वामी ने तत्त्व सन्दर्भ में बड़ा गम्भीर विचार किया है, ऊँचा विचार किया है। उन्होंने कहा—**'अद्वयं ज्ञानं'** यह तो ठीक है। परन्तु उसकी विशेषता नामों के द्वारा व्यक्त हो। **'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'** उसे कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई परमात्मा कहते हैं, कोई भगवान् कहते हैं।'

वे कहते हैं—"ब्रह्म जो है, वह अत्यन्त बहिरंग है। बहिरंगों को बहिरंग ब्रह्म का ही दर्शन होता है। ब्रह्म से अन्तरंग है कतिचित् गुण-गण-विशिष्ट परमात्मा। जो अन्तरंग होते हैं, वे परमात्मा को समझ पाते हैं। परमात्मा से भी अन्तरंग है अचिन्त्यअनन्तकल्याणगुणगणनिलय अनन्तकोटिकन्दर्पदर्पदमनपटीयान् पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्। जो भगवान् के अत्यन्त अन्तरंग होते हैं, उन्हीं को भगवान् का अनुभव हो पाता है। इसी तरह उसी तत्त्व को भगवान्, उसी को परमात्मा और उसी को ब्रह्म कहते हैं। दृष्टान्त उन्होंने माघ का दिया है—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

(शिशुपालवध १।२)

(नारद जी आकाश से उतर रहे थे। जब वे दूर थे, तब द्वारकावासियों ने कल्पना की कि यह कोई महातेजः पुञ्ज ही है। कुछ और समीप आने पर शरीरवान्

प्राणी समझा। अधिक समीप आने पर अङ्ग-प्रत्यङ्गों की स्पष्ट प्रतीति हुई, 'कोई पुरुष है', ऐसा समझा और अधिक निकट होने पर उन्हें नारद जी का स्पष्ट ज्ञान हुआ।)

नारद जी महाराज आ रहे थे आकाश मार्ग से। यदुवंशियों की सुधर्मा सभा में भगवान् कृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द विराजमान थे। बलराम जी विराजमान थे। उन्होंने देखा कि कोई तेजः पुञ्ज अवतरित हो रहा था। कुछ समीप आने पर उन्होंने कोई शरीर समझा। जब अवयवों का पृथक्-पृथक् कुछ उन्मेष हुआ तो कहा-कोई पुमान्-पुरुष आ रहा है और समीप आने पर उन्होंने कहा—'ये तो देवर्षि नारद जी आ रहे हैं'।

इस तरह दूर से तेजः पुञ्ज का दर्शन हुआ, नजदीक से शरीरी पुमान् का बोध हुआ। अत्यन्त समीप से सक्षात् नारद का बोध हुआ। इसी तरह जो तत्त्व से सुदूर हैं वे ब्रह्म ही समझते हैं, केवल प्रकाश रूप समझते हैं भक्त लोग कहते हैं, ब्रह्म क्या है राधा रानी के नूपुर का जो प्रकाश है, वही ब्रह्म है। मौजी हैं। रसिकों का मौज है, रसास्वादन है। हाँ तो जो अत्यन्त दूरस्थ हैं, उन्हें चिन्मय-बोधमय-अखण्ड बोधस्वरूप भगवान् भासित होते हैं। जो कुछ नजदीक आते है उनके लिए वही केवल बोधरूप नहीं हैं किन्तु सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकतादि अनेक गुणों से विशिष्ट हैं। जो और नजदीक आते हैं वे कहते हैं—ओ हो हो! अचिन्त्य-अनन्त अखण्ड-कल्याणगुणगणोपेत अनन्तकन्दर्पदमनपटीयान् भगवान् हैं। हम लोग इसका रस लेते हैं। आनन्द लेते हैं।

लेकिन संकेतमात्र कर देते हैं। लक्षण ऐक्य होने से वस्तु का ऐक्य होता है, नाम के अनेकत्व होने से वस्तु का अनेकत्व नहीं होता। लक्षण एक है तो लक्ष्य एक है। यहाँ लक्षण तो एक है—**'अद्वयं यज्ज्ञानं तदेव तत्त्वम्'** केवल नाम ही तीन हैं। नाम भेद से वस्तु भेद माने तो नाम तो तीन हैं, एतावता वस्तु भी तीन सिद्ध होगी। फिर तो लक्षण भी तीन ही कहना चाहिए। यदि अलग-अलग लक्षण नहीं है एक ही लक्षण है—**'अद्वयं यज्ज्ञानं तदेव तत्त्वम्'** तो खाली **'ब्रह्मेति—परमात्मेति, भगवानिति'** नाम मात्र से उसका पार्थक्य कैसे हो जायगा?

सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद रहित, स्वप्रकाश, नित्य-विज्ञान को ही तत्त्व कहा है। वेदों का महान् तात्पर्य ब्रह्म ही में है और वही सब तरह से सर्वोत्कृष्ट है।

संकोच का कारण न होने से बृद्ध्यर्थक 'बृहि' धातु से निष्पन्न **'ब्रह्म'** शब्द का अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है। जो देश-काल-वस्तुपरिच्छेद वाला हो तो परिच्छिन्न होने के कारण अल्प ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड़ होता तो भी दृश्य होने के कारण अल्प और मर्त्य होगा। अतः अनन्त स्वप्रकाश सदानन्द तत्त्व

ही 'ब्रह्म' पद का अर्थ होता है। वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभी को अल्प और मर्त्य समझना चाहिए। फिर 'अनन्त' पद के साथ पठित 'ब्रह्म' शब्द का तो सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयता की कल्पना निर्मूल है।

किसी राजा ने ऐसी कहानी सुनना चाहा कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुर ने सुनाना आरम्भ किया—राजन्! एक वृक्ष था। उसकी अनन्त शाखाएँ थीं। उन शाखाओं में अनन्त-अनन्त उपशाखाएँ थीं। उपशाखाओं में भी अनन्त पल्लव थे। उन पर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ काल में एक पक्षी उड़ा 'फुर्र', दूसरा पक्षी उड़ा 'फुर्र', तीसरा पक्षी उड़ा 'फुर्र'। राजा ने कहा—आगे कहिए?

चतुर ने कहा—पहले पक्षियों का उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ। अनन्त पक्षी हैं। एक-एक करके उड़ने तो दो।

इसी तरह कल्पनाओं का अन्त ही नहीं है। अतः थोड़े में यही कहा जा सकता है कि अतिशयता की कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापति की भी मति जब विरत हो जाय, जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके, तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान् को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसी का 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' (ब्रह्मसूत्र १.१.१.) इत्यादि व्यास-सूत्रों से विचार किया गया है।

प्रकाश की अपेक्षा आदित्य में जिस अतिशयता की कल्पना की जाती है. उससे भी अनन्त कोटि-गुणित अतिशयता की कल्पना के पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय सर्व बहत् पदार्थ की सिद्धि हो, उससे भी देश-काल-वस्तुकृत परिच्छेदां को मिटाकर-परिच्छिन्नता आदि दूषणों का अत्यन्ताभाव सम्पादन करके तब उसे शब्द का अर्थ जानना चाहिए। इसी को 'तत्त्व' कहा जाता है। इसी का लक्षण है—**'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्'** इसी का नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षण के भेद से नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व घट का एक लक्षण है। अतएव घट, कुम्भ, कलशादि से उसका भेद नहीं।

हाँ ब्रह्म अनेक है—कार्य ब्रह्म, कारण ब्रह्म, कार्य-कारणातीत ब्रह्म। ऐसी स्थिति में यह हो सकता है कि कार्य-कारणातीतवेदान्तवेद्य शुद्धब्रह्म रूप भगवान् के प्रकाश स्थान में कार्य ब्रह्म या कारण ब्रह्म हो। 'निर्गुण ब्रह्म भगवान् का धाम है' ऐसा मानने वालों का यह आग्रह होता है कि धाम का अर्थ निवास स्थान ही होता है। परन्तु **'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्'** (भगवद्गीता १०.१२) (हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (ज्योति) और परम पवित्र हैं।) आदि स्थलों में स्वरूपभूत आत्मज्योति ही धाम का अर्थ होता है।

ऐसी स्थिति में यही मानना उचित है कि स्थूल कार्यब्रह्म के ऊपर सूक्ष्म-कार्य ब्रह्म, उसके ऊपर कारण ब्रह्म है। उस अव्यक्त कारणब्रह्म के ऊपर कार्य-कारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर है। यदि सर्वाधिष्ठान होने के कारण इसे सर्वधाम, सर्वनिवासस्थान भी कहें, तो कोई हानि नहीं। इसी अंश का स्पष्टीकरण श्रीमद्भागवत में इस प्रकार किया गया है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियै ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

(भागवत ३।२२।२८)

(एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्त जनों को अविद्या-प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि आदि द्वारा शब्दादिधर्मक प्रपञ्च रूप से भासित होता है।)

चतुर्थ-पुष्प

(१) भगवान् व्यास को देवर्षि नारद की प्रेरणा :—

तत्त्व के साक्षात्कार के लिए सम्पूर्ण प्रयास होते हैं। तत्त्व जिज्ञासा होने के बाद ही श्रवण-मननादि होता है और भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार होता है। भगवान् व्यास ब्रह्मविद्वरिष्ठ थे। फिर भी उनको शान्ति नहीं मिली। नारद जी महाराज उनके सामने आए[४०] नारद जी महाराज ने कहा—"तुमने जो कुछ भी किया है बहुत ऊँचा काम किया है, इसमें सन्देह नहीं। वेदों का व्यास (विस्तार) किया। ब्रह्मसूत्र का निर्माण किया। गीता का निर्माण किया। सब कुछ किया, पर अपेक्षाकृत भगवच्चरित्रामृत का वर्णन कम किया। इसलिए तुम वही करो।"

व्यास जी से देवर्षि नारद जी ने कहा—हमारी माता वेदवादी ब्राह्मणों के यहाँ दासी थी। ऋषि-महर्षि उनके यहाँ आये हुए थे। उनकी सेवा में हमारी माता रहती थीं। हम भी उनकी सेवा में रहते थे। उन महात्माओं के सम्पर्क से कुछ धर्मनिष्ठा, भक्तिनिष्ठा हो गई। अन्ततोगत्वा माता को साँप ने काट लिया। माता मर गयी। मैंने सोचा—अच्छा ही हुआ। भगवान् ने परम कृपा की, कल्याण ही किया। फिर जंगल में चला गया। एकान्त में भगवान् का ध्यान करने लगा।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥

(भागवत १।६।१७)

(भक्ति भाव से वशीकृत चित्तद्वारा भगवान् के श्रीचरण-कमलों का ध्यान करते ही भगवत्प्राप्ति की उत्कट लालसा से मेरे नेत्रों में आँसू छल-छला आये और हृदय में धीरे-धीरे भगवान् प्रकट हो गये।)

एकान्त में बड़ी तन्मयता से ध्यान करने पर परात्पर परब्रह्म प्रभु का हृदय में प्रादुर्भाव हुआ। उनके अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य, लोकोत्तर सौरस्यामृत का आस्वादन हुआ। ऐसे अद्भुत आनन्द-सम्प्लव में मन लीन हो गया कि लोक-परलोक सब भूल गया। आनन्दसम्प्लव में अन्तःकरण लीन हो गया। क्षणभर में ही वह स्वरूप अन्तर्हित हो गया। उसके बाद मैंने बड़ा प्राणायाम किया, आँख दबाया, नाक दबाया, कान दबाया—बड़ा प्रयास किया, परन्तु प्रभु नहीं आए। दर्शन नहीं हुआ। बड़ा व्याकुल हुआ। आकाश वाणी हुई—

---

४०. श्रीमद्भागवत १।५, ६ अध्याय।

हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्न मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।
सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान् ।।
(भागवत १।६।२२,२३)

(खेद है कि तुम इस जन्म में मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो गयी हैं, उन अधकचरे योगियों को मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। हे अनघ-निष्पाप! तेरे हृदय में मुझे प्राप्त करने की उत्कट उत्कण्ठा जाग्रत् हो इसलिए मैंने तुम्हें एकबार अपना दर्शन कराया। मुझे प्राप्त करने की इच्छा वाला भक्त धीरे-धीरे हृदय की सम्पूर्ण कामनाओं का भलीभाँति त्याग कर देता है।)

इस जन्म में तुम्हे अब मेरा दर्शन नहीं हो सकता। जिनका कषाय परिपक्व नहीं है, अभी खतम नहीं हुआ है, उनके लिए हमारा दर्शन असम्भव है।

'तो प्रभो, क्यों कर आपने इस माधुर्यामृत का अनुभव करा दिया ?' यदि ऐसा कहो तो सुनो ? एकबार जो माधुर्यामृत का रस-विन्दु तुमको अनुभव कराया वह इसलिए कि इसके पाने की उत्कट उत्कण्ठा हो जाय।

भगवत्पद प्राप्ति के लिए उत्कट-उत्कण्ठा हो, यही मुख्य बात है। ऊँचा से ऊँचा पुरुषार्थ—सबसे बड़ा पुरुषार्थ यही है।

इस सम्बन्ध में वेद मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति[४१] ।।
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।१, ऋक्० १।१६४।८०)

(जीव और ईश्वर दोनों एक ही वृक्ष पर साथ-साथ रहनेवाले सखा और सुपर्ण-पक्षी हैं। उनमें एक तो—जीव स्वादिष्ट पिप्पल-कर्मफल का भोग करता है ओर दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है।)

मोहन जोदड़ो-हड़प्पा की खुदाई में एक चित्र मिला। उस चित्र में एक वृक्ष की टहनी पर दो पक्षी बैठे थे। एक पक्षी के मुख में फल था, एक पक्षी के मुख में फल नहीं था। विचार चला 'यह किस सभ्यता का चित्र है' लोग कहने लगे 'सुमिरियन सभ्यता का चित्र है', हड़प्पा में सुमिरियन सभ्यता थी।

---

४१. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।६ द्वा=द्वौ, सुपर्णा=सुपर्णौ, सयुजा=सयुजो, सखाया=सखायो। सखायौ=समानाख्यानौ समानाभिव्यक्तिकरणौ एवम्भूतौ सन्तौ। (शाङ्कर भाष्य)

किसी ऋग्वेदी को वह चित्र मिल गया। वह नाच उठा—"अहह! ऋग्वेद के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं' इस मंत्र के अनुसार ही यह चित्र है।" उपनिषदों में भी यह मन्त्र है पर इसका मूल ऋग्वेद है।

इस श्रुतिका क्या अर्थ है? कई लोग कहते हैं—'द्वैतवाद', कई लोग कहते हैं—'अद्वैतवाद', कई लोग भिन्न-भिन्न वाद कहते हैं। असल में यह मंत्र तो केवल जीव के हृदय से निराशा पिशाची को निकालने के लिए है। 'निराशा पिशाची निकल जाय, आशा कल्पलता उदित हो' असल में इसी के लिए यह मन्त्र है।

दुनियाँ में लोगों का यह स्वभाव है कि जिसके पाने की आशा नहीं, लाख पीढ़ी के दादा, पर बाबा ने जिसे कभी पाया नहीं, आगे भी जिसके पाने की कभी संभावना नहीं, उसकी कामना भी नहीं। सम्राट् बनें, स्वराट् बने, चक्रवर्ती नरेन्द्र बनें, राष्ट्रपति बनें, प्राइम मिनिस्टर (प्रधान मन्त्री) बनें—बड़ी ऊँची-ऊँची कामनाएँ हैं। पर भगवत्पदप्राप्ति की कामना कहाँ? कहते हैं—'हमारे भाग्य में भगवत्साक्षात्कार कहाँ लिखा है?

उनसे कहो, 'आओ, आओ! सत्संग हो रहा है, सुनो।'

बोलेंगे—'महाराज! हमको तो मरने की भी फुरसत नहीं है।'

मतलब यह कि निराशा मन में जमी हुई है 'भगवान् का मिलन हमारे भाग्य में लिखा ही नहीं।'

वेद मंत्र कहता है—'नहीं, जीव! तुम इस निराशापिशाची को हृदय से निकालो। आशा-कल्पलता को अंकुरित करो। विश्वास करो भगवान् मिलेंगे।

भाई खरगोश को ऊँट से मिलना हो तो कठिनाई, कहाँ खरगोश कहाँ ऊँट? दोनों का कोई मेल-जोल नहीं। खरगोश का ऊँट से मिलना असम्भव। परन्तु हंस को हंस से मिलना कहाँ असंभव? एक हंस दूसरे हंस से मिले, इसमें क्या कठिनाई? परमात्मा भी शोभन पंखवाले सुपर्ण-पक्षी, जीवात्मा भी सुपर्ण। दोनों सुपर्ण ही तो हैं। सुपर्ण को सुपर्ण से मिलने में क्या कठिनाई? दोनों में साजात्य सम्बन्ध है। भले एक सम्राट्, स्वराट्, विराट् चक्रवर्ती नरेन्द्र हो और एक कमजोर हो, वराटिका (कौड़ी) पति हो तो भी एक जाति के होने के कारण एक खाट पर बैठने के हकदार हैं।

भगवान् भी सुपर्ण, जीवात्मा भी सुपर्ण, दोनों में सुपर्ण होने के कारण साजात्य सम्बन्ध है। दोनों सजातीय हैं। सजातीय को सजातीय से मिलने में क्या कठिनाई? इसलिए निराशा पिशाची को निकालो, आशा कल्पलता को अङ्कुरित करो। विश्वास करो, प्रभु तुमको अवश्य मिलेंगे। यत्न करो।

जीव के मन में शङ्का होती है—ठीक है हम दोनों सजातीय हैं, परन्तु कौरव-पाण्डव भाई-भाई थे, फिर भी लड़ मरे । बाली-सुग्रीव भाई-भाई लड़ मरे । इसलिए हम दोनों सुपर्ण हैं, इतने मात्र से मिलने की भावना नहीं होती ।

श्रुति आश्वासन देती है—"नहीं-नहीं **सखायौ,** सखा हैं । **भगवान् तुम्हारा सखा, तुम भगवान् के सखा । दोनों में साजात्य ही नहीं सख्य सम्बन्ध भी है । भगवान् तुम्हारे सजातीय और भगवान् तुम्हारे सखा । भगवान् तुम्हारे पालक सखा और तुम उनके बालक सखा । जीवात्मा अल्पज्ञ-अल्पशक्तिमान् बालक-सखा, भगवान् सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् पालक सखा ।**" हनुमान् जी पूछते हैं—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं । तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ।।
(रामचरितमानस ४।१।८)

"मैं तो अल्पज्ञ हूँ, अल्पशक्तिमान् हूँ । मैं तो अपने को भी भूल सकता हूँ, आप को भी भूल सकता हूँ । मैं पूँछूँ-तो-पूँछूँ, आप कैसे नर की नाईं पूछते हो । आप तो सर्वज्ञशिरोमणि हैं, आप कैसे भूलते हैं ?"

भगवान् जीवात्मा के सजातीय हैं और सखा हैं । सखा का बहुत ऊँचा महत्त्व है । श्रीदामा भगवान् के सखा थे । दोनों खेल खेलते थे । तय था जो हार जायगा, उस पर चड्डी लेगा । कई बार बेचारा श्रीदामा हारता रहा, घोड़ा बनता रहा, कृष्ण चड्डी लेते रहे । खेल ही तो है । कृष्ण हार गये । श्रीदामा कहने लगे "दाँव दो ।"

श्रीकृष्ण ने कहा—"भैया आज नहीं कल । आज देर हो गई है, गैयों को घेर लाओ, दाव कल लेना ।"

बोला—"नहीं, आज । आज तो हमको दाँव मिला है, तुम कल दोगे ?"

दामा ऐसा कहकर बिगड़ गया । सूरदास जी कहते हैं—

करि न्यारी हरि आपुनि गैयाँ ।

नाहि न बसति लाल कछु तुम्हरैं, तुमसे सबै ग्वाल इक ठैयाँ ।।
नाहि आधीन तेरे बाबा के, नहिं तुम हमरे नाथ-गुसैयाँ ?
हम तुम जाति-पाँति के एकै, कहा भयो अधिकी द्वै गैयाँ ।।
जा दिन पैं सचरे गोपिनि मैं, ताही दिन पैं करत लगरैयाँ ।
मानी हार सूर के प्रभु तब, बहुरि न करिहौं नन्द दुहैयाँ[४२] ।।

---

४२. प्यारी जी ने जब हरि से धेनु दुहाना प्रारम्भ किया तब प्रेमोन्मत्त श्याम की अट-पट चेष्टा देखकर उनके प्रति सखियों का सख्य उमड़ पड़ा, उसी सन्दर्भ में प्रस्तुत पद है ।

श्रीदामा—"तुम भी गोपाल हम भी गोपाल। तुम भी अपने बाबा के लाड़ले हम भी अपने बाबा के लाड़ले। तुम्हारे दो गइयाँ ज्यादा, हमारे दो गइयां कम। यही न? इसलिए खेल खेलना है तो अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता का ठसक भूल जाओ। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता का घमण्ड भूल जाओ। हम देहेन्द्रियादिनायकता का घमण्ड भूल जाँय। बस भागत्यागलक्षणा से हम दोनों एक।"

श्रीदामा भागत्याग तो नहीं जानता पर कहता है—"हम हार जाँय तो हम घोड़ा बने, तुम चड्डी लो और तुम हार जाओ तो तुम घोड़ा बनो हम चड्डी लें। इसमें गड़बड़ी है और तो हमारा खेल खुट। नहीं खेलते।" फिर पुराणान्तर में भगवान् ने मनाया है श्रीदामा को। भैया हम खेल खुट नहीं होने देंगे, आओ हम घोड़ा बनते हैं।

श्रीमद्भागवत के शब्दों में—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम्॥
(भागवत १०।१८।२४)

(हारे हुए श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को अपनी पीठ पर चढ़ाया, भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्ब ने बलराम जी को।)

श्रीदामा से पराजित होकर भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ा बनते हैं और वह लताओं का लगाम लगाता है, चुटिया पकड़ता है। 'कित-कित' कहता है। वाह-वाह यह खेल भक्तों का? तो सखा का बड़ा महत्त्व! सखा का बड़ा ऊँचा दर्जा।

श्रुति कहती है—**"द्वा सुपर्णा सखाया।"** 'तुम दोनों सखा हो। सखा को सखा से मिलने में क्या कठिनाई? निराशापिशाची को निकालो। विश्वास करो तुम्हें भगवान् मिलेंगे। इसी जन्म में मिलेंगे। काहे को ज्यादा घबरा रहे हो?'

जीव कहता है—"हाँ माता श्रुति, आप ठीक कहती हो। भगवान् सुपर्ण हैं, हम भी सुपर्ण हैं। भगवान् सखा हैं, हम भी भगवान् के सखा हैं। मिल सकना असंभव तो नहीं है। पर क्या करें, भगवान् तो साकेत धाम में, गोलोक धाम में, बैकुण्ठ धाम में विराजमान हैं। हम तो अपार भवसिन्धु में डूबते-उतराते हुए हैं। तो कैसे भगवान् मिलेंगे? साथ ही चकवी-चकवा दोनों सुपर्ण हैं, दोनों सखा हैं। चक्रवाकी का सखा चक्रवाक और चक्रवाक की सखी चक्रवाकी दोनों सुपर्ण भी हैं और सखा भी हैं; परन्तु दुर्दैव के दुर्विपाक से रात होते ही एक नदी के इस पार तो दूसरा नदी के उस पार; एक सरोवर के इस पार तो दूसरा सरोवर के उस पार। इस तरह दोनों सखा और सुपर्ण होते हुए भी दुर्दैव के दुर्विपाक से विप्रलम्भ जन्य

तीव्र ताप का अनुभव करते ही हैं। इसी तरह भले ही भगवान् और हम दोनों ही सुपर्ण हों, सखा हों तो दुर्दैव के दुर्विपाक से हम अपार संसार समुद्र में डूब रहे हैं। वे साकेत धाम, गोलोक धाम में विराजमान हो रहे हैं। वे कैसे हमको मिलेंगे ?"

महानुभावों ने लिखा है कि सारस का और उसकी पत्नी लक्ष्मणा का कभी वियोग नहीं होता, कदाचित् विप्रलम्भ होता है तो लक्ष्मण मर जाती है। बुद्धिमान् इसको ऊँची बात कहते हैं। महानुभावों ने लिखा है—

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो सति विरहे को जीवति ॥

(कैतव रहित (निष्काम) प्रेम मनुष्यलोक में होता ही नहीं, यदि हो जाय तो फिर विरह कहाँ ? यदि ऐसा होने पर भी विरह हो जाय तो फिर जीवन ही कहाँ ?)

इस दृष्टि से तो सारस पत्नी लक्ष्मणा का मर जाना ठीक ही है।

लक्ष्मणा पूछती है, चक्रवाकी को—"चक्रवाकी तेरा हृदय तो वज्र से भी अधिक कठोर है। भादों के अमावास्या की अँधियारी रात, घनघोर घटा उमड़ रही, दामिनी दमक रही, दादुर-ध्वनि चारों ओर सुहावनी लग रही, तू नदी के इस पार, तेरे प्रियतम नदी के उस पार। तूँ कालरात्रि जैसी रात्रि को बिता देती है। तेरा हृदय फट नहीं जाता। फिर तूँ गीली भी नहीं, सूखी आँखें लेकर प्रियतम से मिलने जाती है, तेरा हृदय फट नहीं जाता।"

चक्रवाकी उत्तर देती है—"लक्ष्मणे ! तूँ ठीक कहती है, बिल्कुल ठीक कहती है। सचमुच हमारा हृदय वज्र से भी ज्यादा कठोर है। पर सखि ! ऐसे विप्रलम्भ जन्यतीव्रताप के पश्चात् प्रियतम के सम्मिलन से जो सुख होता है तुम उससे परिचित नहीं हो, क्योंकि तुम तो विप्रलम्भ होते हो मर जाती हो।"

भक्तों ने कहा है कि विप्रलम्भजन्यतीव्रताप से सन्तप्त होकर मृत्यु की गोद में जाकर विश्राम पाने की कामना यह तो पलायन है, पलायन। चाहिए यह कि विप्रलम्भजन्यतीव्रताप को सहो, धैर्य के साथ सहो। सहने के बाद जो प्रियतम-सम्मिलन का सुख है वह लोकोत्तर है। आतप के बिना छाया का स्वाद ही क्या ? बुभुक्षा (भोजन की इच्छा) उत्कट न हो तो मधुर मनोहर पक्वान्न के पाने का स्वाद क्या ? विप्रलम्भ जन्य तीव्रताप न हो तो प्रियतम के सम्मिलन का सुख क्या ?

संगमविरह विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्य।
संगे सैव तथैका त्रिभवनमपि तन्मयं विरहे ॥

(संगम और विरह दोनों विकल्प रूप में प्राप्त हों तो विरह ही वर है—उत्तम है—वरण करने योग्य है। संगम में वह रमणी अकेली रहती है और विरह में त्रिभुवन भी तन्मय हो जाता है।)

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्टतः सा पुरः सा।
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य॥
हं हो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा।
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥
(अमरुशतक)

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा।
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा॥
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा।
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी॥
(विदग्धमाधवम् ५।१८)

न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥
(उज्ज्वल नीलमणि: श्रृङ्गारभेद ३)

(विप्रलंभ के बिना संभोग पुष्ट नहीं होता। जिस प्रकार रंजित वस्त्र को पुनः रंगने से अत्यन्त रक्त प्रतीत होता है।)

इस तरह जीव को शंका होती है, 'दुर्दैव के दुर्विपाक से भगवद्विप्रलम्भ-जन्य तीव्र ताप ही हमारे भाग्य में लिखा है, क्या करें?'

तब श्रुति आश्वासन देती है—नहीं, नहीं, **'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'** एक नदी के इस पार, एक नदी के उसपार वाली बात नहीं है, एक ही वृक्ष पर दोनों हैं। **जहाँ हृदय में जीवात्मा, वहीं हृदय में परमात्मा। अन्तर्यामी भगवान् कभी भी जीव को छोड़ते नहीं। नरक में जीव जाता है, सभी सगे सम्बन्धी तो साथ छोड़ देते हैं। भगवान् वहाँ भी रहते हैं। सर्वव्यापी हैं न?** नरक में नहीं हैं तो फिर कहाँ सर्वव्यापी होंगे? सर्वव्यापी हैं, इसलिए वहाँ भी रहेंगे ही। फिर आश्वासन देने के लिए भी तो परमात्मा वहाँ रहेंगे ही। जिस समय वह घबड़ायेगा तब आश्वासन कौन देगा? वही प्रभु प्रियतम परम प्रेमास्पद सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर ही तो आश्वासन देंगे। इसलिए समान वृक्ष पर—एक ही वृक्ष पर, एक ही टहनी पर दोनों रहते हैं। एक नदी के इसपार तो एक नदी के उसपार नहीं। इस तरह तीन सम्बन्ध हो गये (१) साजात्य सम्बन्ध, (२) सख्य सम्बन्ध, (३) सादेश्य सम्बन्ध।

सादेश्य—एक देश में ही दोनों हैं। कहीं जापान, इंगलैण्ड, न्यूयार्क में कोई भारतीय मिल जाय तो बड़े गले लगाते हैं। ओ हो हो! भारतीय हो वाह, वाह! भारत में कहाँ के हो भाई? 'बृन्दावन धाम के।' वाह, तब तो कहना ही क्या? सादेश्य की बड़ी महिमा है। देश की महिमा बाहर जाने से मालूम पड़ती है।

इसलिए तीन-तीन सम्बन्ध, साजात्य, सख्य और सादेश्य सम्बन्ध के रहते हुए निराश मत होओ, निराशा पिशाची को निकालो। प्रभु मिलेंगे, आशा कल्पलता को अंकुरित करो।

जीव पूछता है—हाँ, हाँ आपने बहुत ठीक कहा! फिर भी एक शङ्का और है, बस एक शङ्का।

श्रुति पुनः पूछती है—बोलो क्या है वह शङ्का?

जीव कहता है—शङ्का यह है कि वेदों ने भगवान् को असंग कहा है—**'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'** (बृहदा० ४।३।१५)=भगवान् असङ्ग हैं। पानी में कमल पत्र रहता है, पर निर्लेप रहता है। जिस तरह पानी में रहता हुआ भी कमल-पत्र निर्लेप रहता है, उसी तरह जीव के पास रहता हुआ भी भगवान् निर्लेप है। युक्ति भी हैं—यदि जीवों के दुःख से उसको दुःख हो तब तो परमात्मा को सबसे ज्यादा दुःख हो। जीव तो केवल अपने दुःख से ही दुःखी हो और परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त-अनन्त प्राणियों से सम्बन्धित होकर अनन्त-अनन्त दुःखों से दुःखी हों, तब तो बड़ा उपद्रव खड़ा हो जाय। इसलिए **'असङ्गो न हि सज्जते'** (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५.१५) यह मानना ही उचित है। 'दीपक' ने, चोर आया तो चोर को प्रकाशित कर दिया, घर का मालिक आया तो घर के मालिक को भी प्रकाशित कर दिया। भगवान् शङ्कराचार्य ने एक जगह निर्गुण-ब्रह्म की स्तुति की है—

उदासीनः स्तब्धः सततमगुणः सङ्गरहितो
भवांस्तातः कातः परमिह भवेज्जीवनगतिः।
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुषे स्नेहमथ तद्
वसस्व स्वीयान्तर्विमल जठरेऽस्मिन्पुनरपि॥

(प्रबोधसुधाकर २४५)

"हे देव! आप उदासीन, अनमन स्वभाव, कूटस्थ, निर्गुण, संग रहित हमारे तात—पिता श्री हैं। फिर भी मेरी क्या गति है? देव! यदि आप हम पर निष्प्रयोजन स्नेह नहीं करते तो भी हमारा विमल हृदय आपका भवन है, वहाँ आप निवास तो कीजिये।"

हे निर्गुण दादा जी! आप तो उदासीन हो। लड़का चाहे जिये चाहे मरे, उदासीन से क्या मतलब। गुण कहाँ आपमें, आप तो निर्गुण हो। संग ही नहीं आप

में। कहाँ का बेटा, कहाँ की बेटी। ऐसा जिसका तात है, उस पुत्र की क्या गति होगी? जिसका तात असङ्ग हो, उदासीन हो, स्तब्ध हो, अगुण हो, उसके बेटे की क्या गति होगी? अच्छा कुछ नहीं करते तो कम-से-कम हृदय में निवास तो करो, वहाँ तो बैठे रहो।

तुलसीदास जी कहते हैं—

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीरघुवीर धीर हितकारी ॥१॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ आइ बसे बहु चोरा ॥२॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं विनय निहोरा ॥३॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध,बोध-रिपु मारा ॥४॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा ॥५॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा ॥८॥
चिंता यह मोहि अपारा। अपजस नहि होइ तुम्हारा ॥९॥
(विजय पत्रिका १२५)

हम तो दुःख भोगने के आदी हैं। जन्म-जन्मान्तर, कल्प-कल्पान्तर में न जाने कितना दुःख भोग चुके हैं और भोग लेंगे, कोई बात नहीं; परन्तु चिन्ता यह है कि आपका अपयश न हो। किन्तु हमारी तो दुर्दशा होती रही है और अनन्त काल तक हो सकती है। हमको इसकी चिन्ता नहीं है—**'किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः'** 'जो आपके चरणों में आ चुके हैं, आपके शरणागत हैं, उनका पराभव आपके अनुरूप नहीं है। हमारा जो होना होगा, सो ठीक है।' इस तरह की बातें मन में आती हैं। तो जो असंग है, उसको इन सब बातों की क्या चिन्ता? इसलिए भगवान् की असंगता से डर लगता है और इसीलिए फिर निराशा पिशाची आ घेरती है।

फिर श्रुति ने कहा—नहीं-नहीं, डरो मत। सुनो—**'सयुजौ'**। अरे भगवान् असंग हैं! किससे असंग है, आत्मा से? नहीं, नहीं। अनात्मा से असंग है। अनात्मा का आत्मा के साथ संसर्ग नहीं है। तूँ तो आत्मा ही है। आत्मा-आत्मा के संसर्ग में क्या गड़बड़? बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है।

श्रीरामानुजाचार्य ने कहा—जीव का परमात्मा के साथ **'नीलमुत्पलं'** जैसा सम्बन्ध है। **'नीलं'** के समान जीव है। **'उत्पलं'** के समान परमात्मा है। **'उत्पलं'** का **'नीलं'** से असाधारण सम्बन्ध है कभी भी **'नीलं'**, **'उत्पलं'** से अलग नहीं होता। विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है। **'नीलं'** विशेषण है। **'उत्पलं'** विशेष्य हैं, इस तरह कभी जीव और परमात्मा का विछोह नहीं हुआ।

(विशिष्टाद्वैतवाद)

श्रीनिम्बार्काचार्य ने कहा— जीव और परमात्मा में स्वाभाविक भेदाभेद है। सुवर्ण को सुवर्ण जानने पर भी कुण्डलविषयिणी जिज्ञासा देखी जाती है **'किमिदम्'** । इसलिए मालूम होता है सुवर्णत्वेन रूपेण **ज्ञात है, लेकिन कुण्डलत्वेन** रूपेण कोई अलग चीज है। इसलिए **'सुवर्णं कुण्डलं'** सामान्य व्यपदेश से अभेद होने पर 'किमिदं' इत्याकारक जिज्ञासा देखने से मालूम पड़ता है कुण्डल कुछ और अर्थात् दोनों का कुछ भेद भी है। गोरस व्रती दूध, दही दोनों खाता है। पयोव्रती खाली दूध पीता है। दधिव्रती खाली दधि खाता है, दूध नहीं। माने गोरसत्वेन रूपेण इनका अभेद है, दधित्वेन, पयस्त्वेन रूपेण भेद है। यह स्वाभाविक भेदाभेद है।

इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाभिन्न परमतत्त्व जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। 'तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन, अर्थात् सुवर्णादि कारण के अधीन कार्य की स्थिति एवं प्रवृत्ति होती है, अतः अभेद भी है। ठीक ऐसे ही चित् भोक्तृवर्ग, अचित् भोग्यवर्ग परमतत्त्व के अधीन ही स्थिति प्रवृत्ति वाले हैं, अतः परतत्त्व से अभिन्न हैं, व्यवहार-दृष्टि से विरुद्ध धर्मवाले होने के कारण भिन्न भी हैं। इस मत में भी जीवात्मा का परमात्मा से विछोह नहीं होता। सुवर्ण का कुण्डल से कहाँ विछोह होता है ?

श्रीमध्वमत के अनुसार भी अन्तर्यामी परमात्मा सर्वव्यापी-सर्वत्र है। वह कभी भी जीवात्मा से वियुक्त नहीं होता। जीव का भी कभी परमात्मा से वियोग नहीं होता।

श्री शङ्कराचार्य के मत में भी तरंग और जल के समान जीव और परमात्मा का सम्बन्ध[४३] है। तरंग चाहे कितनो उछले कूदे, कहीं आये-जाये कभी भी जल से वियुक्त नहीं हो सकता। इसी तरह जीवात्मा कभी भी परमात्मा से वियुक्त नहीं हो सकता।

इस तरह से **परमात्मा असंग अवश्य हैं, परन्तु अनात्मा से, आत्मा से नहीं। जीवात्मा परमात्मा का सायुज्य सम्बन्ध है। चार सम्बन्ध हो गये—साजात्य सम्बन्ध एक, सख्य सम्बन्ध दो, सादेश्य सम्बन्ध तीन, सायुज्य सम्बन्ध चार। बोलो चार-चार सम्बन्धों के रहते हुए भी निराशा ? 'भगवान् न मिलेंगे', एह काहे को ? मिलेंगे भगवान्। चार-चार सम्बन्ध के रहते भगवान् मिले मिलाये हैं। यह जो गड़बड़ी है, वह तो चटपटी पैदा करने के लिए है।**

अरबरात निशि दिन मिलिबे को।
मिले रहत मानो कबहुँ मिले ना ॥

---

४३. सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥
(षट्पदी ३)

प्रीति अत्यन्त सुलभ में नहीं होती और अत्यन्त दुर्लभ में भी प्रीति नहीं होती। दौर्लभ्य सौलभ्य की सन्धि में प्रीति होती है। केवल दुर्लभ में असंभावना हो जाती है, केवल सुलभ में उपेक्षा हो जाती है। गंगा किनारे के लोग गंगा में दतून करते हैं, गंगा में कुल्ला करते हैं। लेकिन मारवाड़ में देखो, गोबर से लीप करके गंगा जल से भरी हुई शीशी को प्राङ्गण के बीच में रखकर स्तुति कहते हैं। उसमें रखा हुआ जल कभी-कभी बढ़ने लगता है। मारवाड़ में रहने वाले को जैसे गङ्गा में प्रेम है, वैसा गङ्गा किनारे रहने वाले को नहीं—**अतिपरिचयादवज्ञा।**

इस तरह श्रुति ने जीव से कहा—चार-चार सम्बन्ध के रहते निराश मत होओ, आशा कल्पलता को अंकुरित करो।

जीव ने कहा--एक शङ्का है।

श्रुति कहती है—बोलो अब कौन-सी शङ्का है ?

जीव कहता है—हमने पाप बहुत किये हैं। जन्म-जन्मान्तर युग-युगान्तर से इतना पाप किये हैं कि पाप के कारण भगवान् के सम्मुख मन होता नहीं। इसका क्या कारण है ?

व्यास कहते हैं—

> **नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।**
> **तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥**
> **(हरेर्नाम्नश्च या शक्तिः पापनिर्हरणे द्विज।**
> **तावत्कर्त्तुं समर्थो न पातकं पातकी जनः॥)**

(हे द्विज ! हरि के नाम में पापियों के पाप नाश करने को जितनी शक्ति है, उतनी पापियों में पाप करने की नहीं है।)

अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त-अनन्त प्राणियों में अनन्त-अनन्त जन्मों में पाप इतना नहीं बन सकता जितना एक भगवन्नाम में पाप मिटाने की शक्ति है। पाप कोई हरा, पीला, काला, गोरा, टन, मन, तोला, मासा, रत्ती का होता दिखाई देता है? शास्त्र प्रामाण्य से ही पाप है और शास्त्र प्रामाण्य से ही पाप का नाश भगवन्नाम से होता है। अगर पाप का प्रतिपादक शास्त्र प्रमाण है तो यह (भगवन्नाम से सर्व पापों की निवृत्ति का) शास्त्र क्यों नहीं प्रमाण है ? यदि शास्त्र नहीं प्रमाण है तो पाप होने में ही क्या प्रमाण है ?

व्यास भगवान् ने गर्जकर कहा—**'नाम्नोस्ति यावती शक्तिः'** भगवान् के नाम में जितना पाप मिटाने की शक्ति है, पापी उतना पाप कर ही नहीं सकता। एकबार बोलो प्रेम से श्रीराम ! श्रीराम !! श्रीकृष्ण ! श्रीकृष्ण !! विश्वास करो तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के युग-युगान्तर कल्प कल्पान्तर के पाप नष्ट हो गये।

चैतन्य महाप्रभु ने यही किया—नाम का दान किया। वे जोर से चिल्लाते थे, जिससे कि पशुओं और पक्षियों का भी, कीड़ों और मकोड़ों का भी, वृक्षों का भी—जो किसी तरह से भी नाम से सम्पृक्त हो जाते हैं, सबका कल्याण हो जाय। हाँ लेकिन एक बात न समझना 'भगवान् के नाम में पाप मिटाने की शक्ति है ही, थोड़ा पाप और करलो। अन्त में भगवन्नाम कह लेंगे, सब पाप खत्म हो जायगा।' नहीं-नहीं तुलसीदास कहते हैं—

अब लौं नसानी अब न नसैहों।
राम-कृपा भव-निशा सिरानी, जागे फिरि न डसैहों ॥१॥
पायेउँ नाम चारु चिन्तामनि, उरकर तें न खसैहों।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहों ॥२॥
बरबस जनमि फँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहों।
मन मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहों ॥३॥

(विनय पत्रिका १०५)

भूल-चूक से जो गड़बड़ी हुई सो हुई। 'अब लौं जो गड़बड़ानी सो गड़बड़ानी अब न गड़बड़ैहो, इस तरह से भगवान् के मंगलमय नाम का आश्रयण करो और आशा कल्पलता को अंकुरित करो भगवान् मिलेंगे।

प्रश्न उठता है जो भगवान् जीव के सखा हैं, स्नेही हैं, अत्यन्त सन्निकट हैं, अनात्मक वर्ग से अलिप्त हैं, वे कौन हैं सगुण या निर्गुण ?

हमारे शैवाचार्य, वैष्णवाचार्य कहते हैं—प्राकृत गुणगण हीन होने के कारण भगवान् निर्गुण हैं और अचिन्त्य दिव्य कल्याण गुणगणों के होने के कारण भगवान् सगुण हैं। यह सगुण-निर्गुण की परिभाषा है।

लेकिन दार्शनिक-नैयायिक लोग कहते हैं—**'निर्घटं भूतलं'** कहने के लिए घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता का अभाव भी चाहिए। घटत्वावच्छिन्न घट प्रतियोगी है। एक भी घट रहे तो **'निर्घटं भूतलं'** यह व्यवहार (शब्द प्रयोग) ही नहीं होगा। इसलिए घटत्वावच्छिन्न घटसामान्य है प्रतियोगी जिसका ऐसे अभाव से ही **'निर्घटं भूतलं'** बनता है। इसी तरह गुणत्वावच्छिन्न गुणप्रतियोगिताकाभाव चाहिए। गुण सामान्य है प्रतियोगी जिसका एवं भूत इस प्रकार के अभाव को ही निर्गुण कहते हैं। यह कह दो सीधे-सीधे कि हम निर्गुण मानते ही नहीं, तब तो बात समझ में आ जाय। लेकिन अमुक-अमुक गुण नहीं हैं तो निर्गुण बन जाएँगे ईश्वर, यह बात दार्शनिक दृष्टि से संगत नहीं।

सगुणवादी कहते हैं—लेकिन बहुत रूखी बात है। 'भगवान् निर्गुण हैं' कोई बात हुई, अरे अनन्त ब्रह्माण्ड को बनाने वाला ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान्

नहीं ? जो ज्ञानवान्, इच्छावान्, क्रियावान् है, वह निर्गुण कैसे ? निर्गुण नहीं, भगवान् सगुण हैं, सगुण।

निर्गुणवादी कहते हैं—पर क्या करें। श्रुतियाँ कहती हैं, 'निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं' (अध्यात्मोपनिषद् ६२) लाचारी तो इसी बात को लेकर है।

इसी बात के आधार पर भागवत में प्रश्न बना—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥
(भागवत १०।८७।१)

(भगवन् ! ब्रह्म कार्य-कारणातीत है। सत्त्व, रज, तम—ये तीनों गुण उसमें हैं नहीं। वह सर्वथा अनिर्देश्य है, मन और वाणी से संकेत रूप में भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। वैसे भी श्रुतियों की प्रवृत्ति सगुण में ही होती है। वे जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध अथवा रूढ़ि का ही निर्देश करती हैं। ऐसी स्थिति में श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किस तरह करती हैं ? क्योंकि निर्गुण के प्रतिपादन में उनकी पहुँच हो, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता।)

ब्रह्म सत्-असत् से परे है अर्थात् कार्य-कारण से परे है। निर्गुण है, निष्क्रिय है। एक होने के कारण अजाति है। शब्दों की प्रवृत्ति तो स्वरूप से होती है, जाति से होती है, क्रिया से होती है, गुण से होती है, सम्बन्ध से होती है। 'धनी, गोमान्' आदि शब्दों की प्रवृत्ति सम्बन्ध के आधार पर होती है। 'नीलमुत्पलं' आदि शब्दों की प्रवृत्ति गुण के आधार पर होती है। 'लावकः पाचकः' आदि शब्दों की प्रवृत्ति क्रिया के आधार पर होती है। 'ब्राह्मणः, गौः' इत्यादि शब्दों की प्रवृत्ति जाति के आधार पर होती है। तो इस तरह जिसमें जाति नहीं, गुण नहीं, क्रिया नहीं, सम्बन्ध नहीं, उसमें शब्दों की प्रवृत्ति कैसे हो ?[44] इसलिए 'निर्गुणे गुणवृत्तयः श्रुतयः कथं चरन्ति' यह प्रश्न है।

---

४४. ''अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केनोपनिषद् १.३) इति श्रुतेः।········ उपपत्तेश्च सदसदादिशब्दैर्ब्रह्म नोच्यते इति सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः, श्रूयमाणश्च श्रोतृभिः, जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण संकेतग्रहसव्यपेक्षोऽर्थं प्रत्याययति नान्यथा, अदृष्टत्वात्। तद्यथा गौरश्व इति वा जातितः, पचति पठतीति वा क्रियातः, शुक्लः इति वा गुणतः, धनी गोमानिति वा सम्बन्धतः। न तु ब्रह्म जातिमत् अतो न सदादिशब्दवाच्यम्। नापि गुणवद् येन गुणशब्देनोच्यते निर्गुणत्वात्। नापि क्रियाशब्दवाच्यं, निष्क्रियत्वात् 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' प्रत्याययति, नान्यथा अदृष्टत्वात्। (श्वेता० ६.१९) इति श्रुतेः। न च सम्बन्धी एकत्वात्। अद्वयत्वादविषयत्वादात्मत्वाच्च न केनचिच्छब्देनोच्यत इति युक्तं, 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तैतिरीयोप० २.९) इत्यादि श्रुतिभिश्च। (शाङ्करभाष्य गीता १३.१२)

इसका उत्तर आगे उन्होंने दिया है। श्रीधर स्वामी[४५] ने स्पष्ट किया है कि भाई ठीक है, श्रुतियाँ सगुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, निर्गुण का नहीं। क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१), यह परमात्मा का लक्षण है। सम्पूर्ण प्रपञ्च प्राणिवर्ग का जो अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, वही परमेश्वर है। वामनी, भामनी, ये सब उसके गुण हैं।

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति—
हो वाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति।
तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा
सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति ॥
एतँ संयद्वाम इत्याचक्षत
एतँ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति।
सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥
एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि।
नयति सर्वाणि वामानि नयति य एषं वेद ॥

(छान्दोग्योपनिषद् ४।१२।१-४)

('यह जो नेत्र में पुरुष दिखायी देता है, यह आत्मा है'—ऐसा उसने कहा—'यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है' उस पुरुष के स्थान रूप नेत्र में यदि घृत या जल डालें तो वह पलकों में ही चला जाता है।)

(इसे संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से इसे ही प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार जानता है, उसे सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओर से प्राप्त होती हैं।)

('यही वामनी है क्योंकि यही सम्पूर्ण वामों का वहन करता है।' जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण वामों का वहन करता है।)

('यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोगों में भासमान होता है।' जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण लोकों में भासमान होता है।)

'वामानि वननीयानि संभजनीयानि शोभनानि' = वाम-वननीय-सम्भजनीय अर्थात् शोभन पदार्थ। **'सर्वाणि वामानि' = 'पुण्य कर्मफलानि'** = सम्पूर्ण वाम = पुण्यकर्मफल।

---

४५. जहदजहत्स्वार्थलक्षणया सोऽयं देवदत्त इतिवद्विरुद्धांशत्यागेनानुगतचिदंशेनैकार्थेन सामानाधिकरण्येन निर्गुणे पर्यवसानम्। अस्थूलादिवाक्यानां तु साक्षादुपाधि निषेधेन तत्पदार्थशोधन उपयोगान्निर्गुण एव पर्यवसानम्।

(श्रीधरी भागवत १०।८७।२)

इसलिए भगवान् सगुण हैं। उन्हीं का प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं, लेकिन पर्यवसान उनका निर्गुण में है। इसलिए कहते हैं—**'नेति नेति'** (बृहदारण्यको० २।३।६)

नेयि नेति जेहि बेद निरूपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा॥
(रामचरितमानस १।१४३।५)

जनक नन्दिनी जानकी भगवती रामचन्द्र राघवेन्द्र भगवान् के साथ, लखन (लक्ष्मण) लाल के साथ जा रहीं थीं। तो चित्रकूट के आसपास की ग्रामवधूटियाँ इकट्ठी हो गईं। उन्होंने प्रश्न किया—

राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन ते लही दुति मरकत सोने॥
स्यामल गौर किसोर बर सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद सर्वरीनाथ मुख सरद सरोरुह नैन॥
(रामचरितमानस २।११५।८)

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥
(रामचरितमानस २।११६।१)

'सुमुखि! इनमें कौन तुम्हारे पति हैं?' तब उन्होंने अपने देवर का वर्णन किया—ये जो बड़े दिव्य सौन्दर्य पूर्ण हैं, कनक की द्युति-कान्ति इनके अंग के सामने फीकी लगती है, हमारे देवर हैं—

सकुचि सप्रेम बोल मृग नयनी। बोली मधुर वचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखनु लघु देवर मोरे॥
(रामचरितमानस २।११६।४, ५)

अपने प्रियतम को कहना था, कैसे कहतीं?

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सियँ सयननि॥
(रामचरितमानस २।११६।६, ७)

श्रीसीता ने 'ये हमारे हस्वेन्ड हैं' ऐसा नहीं बताया। ऐसा बताने में कोई रस भी नहीं। आँचल से अपने मुखचन्द्र को ढ़ाँक करके श्रीरामभद्र को निहारते हुए इशारे से अर्थात् मौन रहते हुए ही अपने पति को बताया।

किसी सभा में एक नवोढा पत्नी का पति बैठा है। सभा में उसकी सखियाँ पूछती हैं—'कहो सखी! इनमें कौन हैं तुम्हारे। क्या ये हैं?'

नवोढ़ा—उहूँ।

सखियाँ—तो ये हैं।

नवोढ़ा—उहूँ।

सखियाँ—तो सखी ये हैं!

नवोढ़ा— उहूँ।

सखियों ने पति पर उँगली दी तो चुप। 'अवचनेनैव प्रोवाच' कुछ न बोलकर ही उत्तर दिया। कहा भी है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्स्युः छिन्नसंशयाः॥
(दक्षिणमूर्तिस्तोत्र १२)

बट तरु के मूल में यह आश्चर्य दृश्य है कि शिष्यगण तो वृद्ध हैं और गुरु-युवा। गुरु का व्याख्यान तो मौन है और शिष्य संशयमुक्त हो गये हैं॥)

इस तरह 'नेति-नेति के द्वारा श्रुति निर्गुण के प्रतिपादन में चरितार्थ होती है। तो जब ब्रह्म निर्गुण ही है तो सृष्टि का अधिष्ठान (उपादान) और अधिष्ठाता ही कैसे बनता है?

श्री मैत्रेय उवाच—

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते॥
(विष्णु पुराण प्रथमे ३।१

भगवन्! जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय शुद्ध और निर्मलात्मा है उसको सर्गादि का कर्ता होना कैसे माना जा सकता है?।।)

श्री पाराशर उवाच—

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याः भावशक्तयः॥
भवन्ति तपसां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता।
तन्निबोध यथा सर्गे भगवान् सम्प्रवर्तते॥
(श्री विष्णु पुराण प्रथमे ६।२।६४)

हे तपस्वियों में श्रेष्ठ मैत्रेय! समस्त भाव पदार्थों की शक्तियाँ अचिन्त्य ज्ञान की गोचर-विषय होती हैं। उनमें कोई युक्ति काम नहीं देती। अतः अग्नि की शक्ति उष्णता के समान ब्रह्म की भी सर्गादि रचना रूप शक्तियाँ स्वाभाविक हैं। अब जिस प्रकार भगवान् सृष्टि की रचना में प्रवृत्त होते हैं, उसे सुनो॥)

४.४.१. गुणगण भगवान् के उपकारक नहीं :—

मान लिया थोड़ी देर के लिए कि गुण हैं अनन्त और अनन्त गुणगणनिलय भगवान् हैं। पर गुणगण भगवान् में क्या उपकार करेंगे?

गुणगणों की महिमा क्या है? यही कि वे अपने (उसके) आश्रय में महत्त्वातिशय का आधान करते हैं। 'आप बड़े सर्वज्ञ हैं, आप बड़े शक्तिमान् हैं' तो आपकी महिमा इन गुण गणों से बढ़ जायगी। ऐसे अनन्तकल्याणगुणगण भगवान् में महत्त्वातिशय या सौख्यातिशय का आधान कर सकेंगे क्या? तभी कर सकते हैं जब भगवान् का महत्त्व सीमित हों। यदि प्रभु सीमित हों तब तो उनमें महत्त्वातिशयाधान हो सकेगा, परन्तु भगवान निःसीम महान् हैं। 'बृहि वृद्धौ' धातु का ब्रह्म शब्द है। ब्रह्म का अर्थ है बृहत्—'**यद् बृहत्, तद् ब्रह्म**'। जो बृहत् है, उसी का नाम ब्रह्म है। कितना बृहत्? संकोचक प्रमाण होता तो कह देते इतना बड़ा। '**सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः**' परन्तु सर्वदेश, सर्वकाल के ब्राह्मणों का भोजन बन नहीं सकता। इसलिए संकोच करना चाहिए। '**निमन्त्रिता ब्राह्मणाः भोजनीयाः**', निमन्त्रित ब्राह्मणों का भोजन बन सकता है। ऐसे ही यदि यहाँ कोई संकोचक प्रमाण होता तो कहते, इतने बड़े का नाम ब्रह्म। ऐसा कोई संकोचक प्रमाण है नहीं। इसलिए कितना बड़ा ब्रह्म? '**निरतिशयं यद् बृहत् तद् ब्रह्म**।' वाचस्पति की मति भी जहाँ अतिशयता की कल्पना करते-करते थक जाय, ऐसे निरतिशय तत्त्व को ब्रह्म कहते हैं।

तत्रापि (वहाँ भी, इतने पर भी) '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१) अनन्त पद समभिव्याहृत ब्रह्म। ब्रह्म के साथ '**अनन्त**', जुड़ा हुआ है। '**अनन्त**'' का अर्थ 'देश-काल-वस्तु-परिच्छेद शून्य' है। वह अन्योन्याभाव का प्रतियोगी नहीं, अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं, प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी नहीं। चतुर्विध अभाव का जो अप्रतियोगी वह ब्रह्म। अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी देश परिच्छिन्न, अन्योन्याभाव का प्रतियोगी वस्तु परिच्छिन्न, प्रागभाव प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी काल-परिच्छिन्न। जो चारों अभावों का प्रतियोगी नहीं वह देश काल-वस्तु-परिच्छेद शून्य। ऐसा जो अनन्त-बृहत् उसमें गुणगणों के द्वारा महत्त्वातिशय का आधान नहीं हो सकता।

तब क्या होग? गुण गणों के द्वारा आनन्दातिशय का भगवान् में आधान किया जाय? यह भी नहीं हो सकता। आनन्द जहाँ सीमित हो, वहाँ आनन्द बढ़े। जहाँ निःस्सीम आनन्द पहले से है, वहाँ आनन्द की वृद्धि भी नहीं हो सकती। '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' (बृहदारण्यकोपनिषद् ३।२८) '**रसो वै सः**' (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७)।

तब गुणगण क्या करेंगे? अनर्थ निवर्हण करेंगे? कोई भी अनर्थ भगवान् में पहले से है ही नहीं। अनर्थ हो तब निवर्हण हो।

इस तरह गुणगण के प्रयोजन तीन हो सकते हैं—(१) स्वाश्रय में महत्त्वातिशय का आधान, (२) स्वाश्रय में आनन्दातिशय का आधान, (३) स्वाश्रय में अनर्थ निवर्हण ये तीनों कार्य सम्भव नहीं हैं। गुणगण भगवान् में निरर्थक हैं। भगवान् स्वयं ही कहते हैं भागवत में—

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः ॥
(भागवत ११।१३।४०)

(मैं समस्त गुणों से रहित हूँ और किसी की अपेक्षा नहीं रखता । फिर भी साम्य, असङ्गता, आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि मैं सबका हितैषी सुहृद, प्रियतम और आत्मा हूँ । वस्तुतः वे गुण हैं भी नहीं, सर्वथा दिव्य ही हैं ।)

अब देखो कितनी मीठी बात है । निर्गुण प्रभु को गुण भजते हैं, मुकुट, किरीट, कुण्डल ने तपस्या किया, जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर तक । प्रभु प्रसन्न हो गये । बोले—'वरदान माँगो ।'

मुकुट, किरीट, कुण्डल ने कहा—"प्रभो हमको अङ्गीकार कर लो, हमें धारण कर लो ।"

प्रभु इतने सुन्दर हैं, इतने सुन्दर हैं कि भूषण इनकी सुन्दरता को ढकते हैं । अन्यत्र तो भूषण अङ्ग को अलंकृत करते हैं, विभूषित करते हैं । यहाँ तो भगवान् के मंगलमय अङ्ग ही अलंकारों को अलंकृत करते हैं । भगवान् के मंगलमय अंग ही भूषणों को भूषित करते हैं ।

यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥
(भागवत ३।२।१२)

(भगवान् ने अपनी योगमाया का प्रभाव दिखाने के लिए मानवलीलोपयुक्त जो दिव्य श्री विग्रह प्रकट किया था, वह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत् तो मोहित हो ही जाता था, वे स्वयं भी मोहित हो जाते थे । सौभाग्य और सुन्दरता की पराकाष्ठा थी उस रूप में । उससे आभूषण भी विभूषित हो जाते थे ।)

भगवान् के मंगलमय अङ्ग भूषणों के भूषण, अलंकारों के अलंकार हैं ।

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं कुर्यान्मिनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥
बाहूंश्च मन्दगिरेः परिवर्तनेन निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
संचिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥
(भागवत ३।२८।२६, २७)

(श्री हरि का वक्षःस्थल महालक्ष्मी का निवास स्थान है । लोगों के मन एवं नेत्रों को आनन्द देने वाला है । ऐसा ध्यान करके फिर सम्पूर्ण लोकों के वन्दनीय

भगवान् के गले का चिन्तन करे, जो मानो कौस्तुभमणि को भी सुशोभित करने के लिए ही उसे धारण करता है। समस्त लोकपालों की आश्रयभूता भगवान् की चारों भुजाओं का ध्यान करे, जिनमें धारण किये हुए कङ्कणादि आभूषण समुद्रमंथन के समय मन्दराचल की रगड़ से और भी उजले हो गये हैं। इसी प्रकार जिसके तेज को सहन नहीं किया जा सकता, उस सहस्र धारों वाले सुदर्शन चक्र का तथा उनके कर-कमलों में राजहंस के समान विराजमान शङ्ख का चिन्तन करे।

श्रीभगवान् का जो काण्ड है, उसने कौस्तुभमणि को धारण करके कौस्तुभमणि की शोभा बढ़ा दी है। कौस्तुभमणि से भगवान् के अङ्ग की शोभा नहीं बढ़ी। हाँ फिर अलंकारों ने भगवान् के अङ्गों से अलंकृत होकर भगवान् के मंगलमय अङ्ग को अलंकृत किया। इस तरह श्रीहरि के मंगलमय अङ्गों को अलङ्कारों ने अलंकृत किया नहीं, पर पहले वे स्वयं ही श्री हरि के मंगलमय अङ्गों से अलंकृत हुए। ऐसे गुणों ने भी तप किया जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर तक। प्रभु प्रसन्न हुए।

गुणों ने कहा—"प्रभो आप नहीं स्वीकार करोगे तो हम दोष हो जायेंगे, गुण कहाँ रहेंगे ? जिसको प्रभु ने नहीं स्वीकार किया वह गुण है ? नहीं वह तो दोष है। इसलिए आप हमको गुण बनाना चाहते हो तो अङ्गीकार करो।"

प्रभु ने अनुग्रह करके गुणों को अङ्गीकार कर लिया। इसलिए—**निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।'** (भा० ११,१३,४०) भगवान् निर्गुण हैं, निर्गुण भगवान् को गुण भजते हैं, अतः भगवान् सगुण भी कहे जाते हैं।

अशब्दगोचरस्यापि तस्य वै ब्रह्मणो द्विज।
पूजायां भगवच्छब्दः क्रियते ह्युपचारतः॥
(श्री विष्णु पुराण अध्याय ५ अंश ६।७१)

अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप, पाणिपादादि शून्य होने के कारण—हे द्विज ! ब्रह्म यद्यपि शब्द का विषय नहीं है, तथापि उपासना के लिए उसका भगवत्-शब्द से उपचारतः कथन किया जाता है॥)

इस तरह भगवान् सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं। सगुणोपासक—निर्गुणोपासक दोनों ही भगवान् का भजन करते हैं।

इसलिए—

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥
(रामचरितमानस १।१९८)

जो व्यापक ब्रह्म-निरञ्जन, निर्गुण ब्रह्म है; वहीं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन के रूप में और माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी वृषभानुनन्दिनी नित्य निकुञ्जेश्वरी के रूप में प्रकट हुआ।

भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार भगवान् के विशेष अनुग्रह से ही संभव है ।

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥

(भागवत १०।१४।२९)

हे देव ! भगवान् ! आपका लोकोत्तर स्वरूप और माहात्म्य सर्वथा अद्भुत ही है । उसके ज्ञान से सकल दु:ख-दोषों की-सम्पूर्ण जगत् की निवृत्ति हो जाती है । जो पुरुष आपके युगल चरण-कमलों का तनिक-सा भी कृपा प्रसाद प्राप्त कर लेता है, उससे अनुगृहीत हो जाता है, वहीं आपके लोकोत्तर माहात्म्य को जान सकता है, दूसरा कोई ज्ञान-वैराग्यादि साधन रूप अपने प्रयत्न से बहुत काल तक कितना भी अनुसन्धान करता रहे, आपकी महिमा का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता ।।)

भगवान् के मंगलमय पादाम्बुजद्वय का प्रसादलेश (कण) भी प्राप्त हो जाय तो भगवत्तत्त्व को, श्रीभगवान् की महिमा के तत्त्व को समझा जा सकता है । अन्यथा कोई उपनिषदों में ब्रह्मात्म-तत्त्व का अन्वेषण करता-करता बहुत समय व्यतीत कर दे, तो भी ब्रह्मात्म-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाता । यह कोई नई बात नहीं हैं । वेदों में यहीं कहा है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
त ँ् हदेवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१८)

प्रपत्ति-भगवत्-शरणागति के बिना भगवत्-स्वरूप का अनुभव असम्भव है :—

ज्ञान के साधनों में गीता कहती है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिव्यभिचारिणी (गीता १३।१०) 'और मुझमें अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति हो, तब तत्त्व को जान सकते हैं ।'

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(भगवद्गीता १४।२६)

मुझ सर्वभूत हृदयाश्रित नारायण का जो कभी भी न व्यभिचरित होने वाले भक्ति रूप योग के द्वारा सेवन करता है, वह गुणातीत होकर मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है ।।)

बहुत स्पष्ट राजमार्ग है भक्ति । बिना भगवदनुग्रह के कभी भी भगवत्स्वरूप साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

तुलसीदासजी महाराज का फैसला है—

सोई जानइ जेहि देहु जनाई ।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥
(रामचरित मानस २।१२६।३)

आप जिसको चाहें, उसको जना दें ।

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनन्दन ।
जानहिं भगत भगत उर चन्दन ॥
(रामचरित मानस २।१२६।५)

आपकी कृपा से ही आपके स्वरूप का ज्ञान संभव है ।

इसलिए कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥
(कठोपनिषद् १।२।२३)

अर्थात् बहुत प्रवचन से ब्रह्मात्म-तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है, ऐसा मत समझो। बहुत श्रवण करने से ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है, ऐसा मत समझो । धारणाशक्तिमती मेधा के द्वारा ब्रह्मात्म-तत्त्व समझ में आ जायगा, सो भी नहीं । तब कैसे आयेगा ? 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'

रामानुजाचार्य जी महाराज की व्याख्या है—भगवान् (परमात्मा) जिस साधक को स्वयं वरण करते हैं, वही उनको पाता है । स्वयंवरा राजकन्या जिसके गले में जयमाला डाल दे, जिसको वरण कर ले, वही उसके अनन्त माधुर्य के रसास्वाद का अनुभव कर सकता है । ऐसे सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर, सर्वाधिष्ठान प्रभु जिसके गले में जयमाला डाल दें, जिसको अपना बना लें, उसी को भगवत्स्वरूप का अनुभव हो सकता है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' एष परमात्मा यं साधकं प्रार्थयते तेन लभ्यः' ।
'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' तस्य उपासकस्य एष आत्मा परमात्मा स्वरूपं प्रकाशयति स्वात्मानं प्रयच्छतीत्यर्थः । 'वृणुते' इति पाठेऽपि स एवार्थः ।
(कठोपनिषद्, श्रीभाष्य) ।

अन्त में श्रीरामानुजाचार्य स्वयं ही कहते हैं—**औपनिषदपरमपुरुषवरणीयता-हेतुगुणविशेषविरहिणां अनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाणां अनधिगतपद वाक्य-**

स्वरूपतदर्थयाथात्म्यप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्ततदितिकर्तव्यतारूपसमीचीनन्यायमार्गाणां विकल्पासहविविधकुतर्ककल्ककल्पितमिति न्यायानुगृहीतप्रत्यक्षादिसकलप्रमाणवृत्त-याथात्म्यवद्भिरनादरणीयम्। (ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्यजिज्ञासाधिकरण)।

शङ्कराचार्य जी महाराज अर्थ करते हैं—

यमेव स्वात्मानमेव साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानम् एव प्रार्थयत आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः।

कथं लभ्यत इत्युच्यते—तस्यात्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यम् इत्यर्थः।

(यह साधक जिस अपने आत्मा का वरण-प्रार्थना करता है, उस वरण करने वाले आत्मा द्वारा यह स्वयं ही प्राप्त किया जाता है- अर्थात् उससे ही 'यह ऐसा है' इस प्रकार जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि केवल आत्मलाभ के लिये ही प्रार्थना करने वाले निष्काम पुरुष को आत्मा के द्वारा ही आत्मलाभ होता है।)

(किस प्रकार उपलब्ध होता है, इस पर कहते हैं—उस आत्मकामी के प्रति यह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूप अर्थात् अपने याथात्म्य को विवृत-प्रकाशित कर देता है।)

माने पहल किसकी ओर से हो। पहल भगवान् की ओर से या जीव की ओर से ? 'साधक की ओर से, यह शङ्कराचार्य मानते हैं। उनकी भी बात ठीक ही है।

अन्त में रामानुजाचार्य और शङ्कराचार्य का समन्वय हो जाता है। क्योंकि श्री रामानुजाचार्य भी यह मानते ही हैं कि भगवद्वरणीयतागुणगणविरहितों को भगवतत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता। एतावता मालूम पड़ता है कि कुछ अपेक्षा है। भगवान् भी सर्वथा निरपेक्ष का वरण नहीं करते हैं। नहीं तो वैषम्य नैर्घृण्य दोष आ जायगा।

'कोई नातेदार है वह आपका जिसका कि आपने वरण किया ? हम कोई शत्रु हैं आपके जो हमारा आपने वरण नहीं किया ? हमको वरण क्यों नहीं किया ?' झगड़ा हो जाय भक्तों में। वे कहने लग जांय 'प्रभो ! आप स्वयं ही कहते हैं— **'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९.२९)।

'हम सब भूतों में सम हैं। कोई हमारा द्वेष्य नहीं, कोई हमारा प्रिय नहीं।'

परन्तु भगवान् स्वयं यह भी तो कहते हैं—**'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'**

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(भगवद्गीता ९।२९)

(मैं सब प्राणियों में समान रूप से हूं। न मेरा कोई द्वेष्य है न कोई प्रिय। जो भक्ति से मुझको भजते हैं, वे स्वभाव से मुझमें स्थित हैं और मैं स्वभाव से उनमें हूं।)

अर्थात् जो भजन करता है, उसी को प्रभु वरण करते हैं। इस तरह शङ्कराचार्य जी का कहना ठीक है—यह साधक भगवान् को वरण करता है। उसी वरण से भगवान् प्रसन्न हो करके अपने स्वरूप का अनुभव करा देते हैं।

इसका मतलब यह न समझना कि प्रवचन व्यर्थ है, श्रवण व्यर्थ है। स्वाध्याय प्रवचन बड़े महत्त्व के हैं। क्योंकि इनका तत्त्व से सम्बन्ध है। वेद भी भगवान् का प्रकाशक है। उपनिषद् भी भगवान् का प्रकाशक है। **भगवान् ही भगवान् का प्रकाशक हो सकता है। भगवान् का प्रकाशक दूसरा नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् स्वयं प्रकाश हैं। उन्हीं का स्वाध्याय करते रहेंगे, प्रवचन करते रहेंगे तब भगवत्स्वरूप का प्रकाश होगा।**

तैत्तिरीयोपनिषद् में और सब साधन एक-एक बार हैं, जब कि स्वाध्याय और प्रवचन का आवर्तन बार-बार है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च ॥
प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजापतिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ॥

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।९)

एतावता—

वरणं विना केवलेन प्रवचनेन भगवान् न लभ्यः।
वरणं विना केवलया मेधया भगवान् नोपलभ्यते।
वरणं विना केवलेन श्रवणेन भगवान् नोपलभ्यते।
वरणसहितेन प्रवचनेन तु भगवान् उपलभ्यते।
वरणसहितया मेधया तु भगवान् उपलभ्यते।
वरणसहितेन श्रवणेन तु भगवान् उपलभ्यते।

कहा भी है—

> **स्वाध्यायसंयमाभ्यां स दृश्यते पुरुषोत्तमः।**
> **तत्प्राप्तिकारणं ब्रह्म तदेतदिति पठ्यते॥**
> **स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमावसेत्।**
> **स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥**
> **तदीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगिस्तथापरम्।**
> **न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतस्य शक्यते॥**
> (विष्णु पुराणे, षष्ठेऽ शे ६।१-३)

(वे पुरुषोत्तम स्वाध्याय और संयम के द्वारा देखे जाते हैं, ब्रह्म की प्राप्ति का कारण होने से ये भी ब्रह्म ही कहलाते हैं। स्वाध्याय से स्वाध्याय के अनन्तर योग का और योग से योग के अनन्तर स्वाध्याय का आश्रय करो। इस प्रकार स्वाध्याय और योग रूप संपत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं। ब्रह्म स्वरूप परमात्मा को मांसमय चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता, उन्हें देखने के लिए स्वाध्याय और योग ही दो नेत्र हैं।)

इस दृष्टि से भगवान् की कृपा से ही भगवान् के स्वरूप का दर्शन होता है।

(५) भगवदाराधन की विधि :—

भगवद्गुणगण के ज्ञान से ही तत्त्वज्ञों को भी बहुधा शान्ति प्राप्त होती है। व्यास भगवान् तो बड़े तत्त्वदर्शी थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रों का निर्माण किया। सम्पूर्ण वेदों का विवरण (व्यास, विस्तार) किया। गीता का भी आविर्भाव उन्होंने किया।

> **भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः।**
> **दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत॥**
> (भागवत १।४।२९)

भारत के व्यपदेश से वेदार्थ का प्रकाश भी सबके कल्याण के लिए किया।

फिर भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। तब देवर्षि नारद से प्रेरित और प्रभावित होकर उन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण का प्रणयन किया।

वेदों में सबका अधिकार नहीं है। जरा विधि-निषेध है। उपनयन वेदाध्ययन का अङ्ग है। अङ्ग बिना अङ्गी सम्पन्न नहीं होता। उपनयन भी परम्परा प्राप्त लोगों का ही होता है, मनमानी नहीं। अनादि अविच्छिन्न परम्परा से जिसका उपनयन संस्कार चला आ रहा है, उसी का उपनयन संस्कार होता है। उपनीत ही वेद श्रवण का अधिकारी है। जो वेदादि के अधिकारी नहीं उनके लिए महाभारत के प्रसङ्ग से

वेदार्थ ही नहीं, अपितु वेदार्थ सार भी व्यास भगवान् ने व्यक्त किया। जो मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों का तत्त्व है, उपनिषदों का सार है, वही गीता में आ गया, बल्कि और अच्छा—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

(गीता माहात्म्य)

उपनिषदें गाय हुईं। मदन-मोहन श्याम सुन्दर गोदोहन करने वाले गोपाल हुये। पार्थ बछड़ा हो गये। फिर अनुपम गीतामृत दुग्ध की प्राप्ति हो गई।

श्रीमद्भागवत तो निगमकल्पतरु का परिपक्व फल है और शुकतुण्डसंस्पृष्ट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा सबको ज्ञान हो सकता है। हाँ कुछ लोगों को अध्ययन के द्वारा और कुछ लोगों को श्रवण के द्वारा।

इन सब दृष्टियों से श्रवण के द्वारा सभी इसके अधिकारी हो सकते हैं। विदुरादि शूद्र थे, लेकिन उन्हें ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार था।

महाभारत में प्रसंग धृतराष्ट्र की कूटनीति थी। उन्होंने संजय के द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर को कहलाया—'बेटा! दुर्योधन तो दुष्ट है, अयोग्य है। तुम तो धर्मात्मा हो। हम बहुत समझा चुके दुर्योधन मानता ही नहीं। पुत्र! संग्राम होगा तो सारा कुल खत्म हो जायगा। तुमने जैसे इतने दिन जंगल में भिक्षावृत्ति से काम चला लिया, शेष जीवन भी उसी तरह बिता लो। क्षणभंगुर जीवन है। थोड़े दिन और सही।'

धर्मराज युधिष्ठिर ने धैर्य और प्रेम पूर्वक धर्मसंगत उत्तर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन ने संजय को युक्तियुक्त उत्तर दिया।

(महाभारत उद्योगपर्व अध्याय २२ से २३)

अन्तःपुर में श्रीकृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी और मानिनी सत्यभामा विराज रही थीं। उस स्थान में कुमार अभिमन्यु और नकुल, सहदेव भी नहीं जा सकते थे—

नैवाभिमन्युर्न यमौ तं देशमभियान्ति वै।
यत्र कृष्णौ च कृष्णा च सत्यभामा च भामिनी॥

(महाभारत उद्योगपर्व० ५९।४)

संजय ने देखा—वे दोनों मित्र मधुर पेय पीकर आनन्द विभोर हो रहे थे। उन दोनों के श्रीअङ्ग चन्दन से चर्चित थे। वे सुन्दर वस्त्र और मनोहर पुष्पमाला धारण करके दिव्य आभूषणों से विभूषित थे—

उभौ मध्वासवक्षीबावुभौ चन्दनरूषितौ ।
स्रग्विणौ वरवस्त्रौ तौ दिव्याभरणभूषितौ ।।

(महाभारते उद्योगपर्व० ५९।५)

श्रीकृष्ण के दोनों चरण अर्जुन की गोद में थे और महात्मा अर्जुन का एक पैर द्रौपदी की तथा दूसरा सत्यभामा की गोद में था।

अर्जुनोत्सङ्गगौ पादौ केशवस्योपलक्षये ।
अर्जुनस्य च कृष्णायां सत्यायां च महात्मनः ।।

(महाभारते उद्योगपर्व० ५९।७)

श्रीभगवान् ने कहा—भरी सभा में दुःशासन ने अबला, रजस्वला, एकवस्त्रा द्रौपदी का चीर खींचना आरंभ किया। उसने मुझे पुकारा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ।।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ।।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ।।

(महाभारत सभापर्व ६८।४१-४३)

(हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण ! हे गोपाङ्गनाओं के प्राणवल्लभ केशव ! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे संकट नाशन जनार्दन ! मैं कौरव रूप समुद्र में डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। श्रीकृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! गोविन्द ! कौरवों के बीच में कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबला की रक्षा कीजिये।)

यद्यपि मैंने उसी समय वस्त्रावतार धारण किया, द्रौपदी की लज्जा बचा ली। **'नारी बीच साड़ी है कि साड़ी बीच नारी है कि नारी ही की साड़ी है कि साड़ी ही की नारी है।'** पता लगाना कठिन हो गया। दस हजार हाथियों का बल दुःशासन की भुजाओं में था, वह भी समाप्त हो गया, पर चीर नहीं खिचा। तो भी मैं ऋणी हूँ। हृदय से क्षणभर के लिए वह निकलता ही नहीं। सूर-दर-सूद बढ़ता जाता है। मैं दूर था। कृष्णा ने मुझे पुकारा। यह मेरे ऊपर ऋण है। कह देना धृतराष्ट्र से इसे मैं चुका दूंगा—

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्मापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम् ॥
(महाभारत उद्योग पर्व ५९।२२)

संजय अन्तःपुर की स्थिति को देखकर और श्रीभगवान् के सन्देश को सुनकर काँप गये। इतनी अन्तरंगता! वासुदेव सर्वान्तिरात्मा सर्वेश्वर जहाँ इतने अन्तरंग हैं, तब भला पाण्डवों का अकल्याण कैसे हो सकता है?

मतलब यह कि द्रौपदी ने बालों को बाँधा ही नहीं था। श्रीकृष्ण भगवान् को पाण्डवों ने दूत बनाकर भेजा। द्रौपदी अपने बालों को लेकर सामने आयी। कहने लगी—श्यामसुन्दर हमारे इन बालों को ध्यान रखना। मेरी प्रतिज्ञा है। दुःशासन की भुजा उखाड़ी जायगी, उसके खून से नहाऊँगी। तब इन बालों को धोऊँगी।

संजय ने धृतराष्ट्र को सब सन्देश सुना दिया। धृतराष्ट्र को नींद नहीं आयी। प्रजागर हो गया। विदुर जी को बुलाया। विदुर जी ने देखा इनको शान्ति किसी तरह नहीं मिल रही। अन्त में ब्रह्मात्म-तत्त्व की महिमा सुनायी। 'आत्मवित् ही शोक को तर सकता है'—**तरति शोकमात्मवित्** (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।३)

विदुर जी ब्रह्मात्म-तत्त्व को कहते-कहते रुक गये।

धृतराष्ट्र ने कहा—"विदुर रुको मत। क्यों रुकते हो?"

विदुर ने कहा—"शूद्र योनि में मेरा जन्म हुआ है, मैं आपको तत्त्व का उपदेश नहीं कर सकता।"

धृतराष्ट्र ने कहा—"क्या आप इस तत्त्व को जानते हो?

विदुर ने कहा—"हाँ! परन्तु हमें उपदेश करने का अधिकार नहीं है।"

धर्मार्थकुशलो धीमान् मेधावी धूतकल्मषः।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥
(महाभारत आदि पर्व ६३।११४)

(द्वैपायन व्यास से ही शूद्र जातीय स्त्री के गर्भ से विदुर जी का भी जन्म हुआ था वे धर्म और अर्थ के ज्ञान में निपुण बुद्धिमान, मेधावी और निष्पाप थे।)

धृतराष्ट्र उवाच

किं त्वं न वेद तद् भूयो यन्मे ब्रूयात् सनातनः।
त्वमेव विदुर ब्रूहि प्रज्ञाशेषोऽस्ति चेत् तव ॥
(महाभारत उद्योगपर्व ४१।४)

(विदुर ! क्या तुम उस तत्त्व को नहीं जानते, जिसे अब सनातन ऋषि मुझे बतावेंगे। यदि तुम्हारी बुद्धि कुछ भी काम देती हो तो तुम्हीं मुझे उपदेश करो।)

विदुर उवाच

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वतीमहम्॥
(महाभारत उद्योग पर्व ४१।५)

विदुर बोले—'राजन् मैं जानता तो हूँ अवश्य, परन्तु मेरा जन्म शूद्र-स्त्री के गर्भ से हुआ है, अतः मैं जितना बता चुका उससे अधिक और कोई उपदेश नहीं दे सकता। कुमार सनत्सुजात का यावत् ज्ञान है, मैं वह सब जानता हूँ, परन्तु वही उपदेश करेंगे।)

ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत्।
न तेन गर्ह्यो देवानां तस्मादेतद् ब्रवीमि ते॥
(महाभारत उद्योग पर्व ४१।६)

(ब्राह्मण योनि में जिसका जन्म हुआ है वह यदि गोपनीय तत्त्व का प्रतिपादन कर दे तो देवताओं की निन्दा का पात्र नहीं बनता। इसी कारण मैं आपको ऐसा बता रहा हूँ।)

धृतराष्ट्र बोले—तो मैं कैसे जानूँगा ?

विदुर जी ने ब्रह्मलोक में विराजमान भगवान् सनत्कुमार का आवाहन किया। वे आ गये। विदुर जी की प्रेरणा से धृतराष्ट्र ने पाद्य-अर्घ्य और मधुपर्क आदि से विधिवत् उनकी पूजा की। भगवान् सनत्कुमार ने एकान्त में राजा को ब्रह्मात्म-तत्त्व का उपदेश किया। विदुर ब्रह्मविद्वरिष्ठ भगवत्तत्त्व विज्ञान सम्पन्न थे। भगवान् उनके वशीभूत थे। पाण्डवों के दूत बनकर गये भगवान्, परन्तु कौरवों का एक पत्ता भी नहीं लिया, एक फूल भी नहीं लिया। विदुर के यहाँ अतिथि बने।

इस तरह श्रीकृष्ण चन्द्र के अत्यन्त अन्तरंग, ब्रह्मविद् वरिष्ठ ज्ञानी होते हुए भी विदुर ने मर्यादा की रक्षा की।

भगवान् व्यास ने वेदों का विस्तार करके, महाभारत और पुराणों की रचना करके यही बताया कि वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म का पालन करते हुए फल को भगवान् के चरणों में अर्पण करो और भगवान् की आराधना करो।

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥
(श्रीविष्णु पुराण तृतीय ८।९)

(जो पुरुष वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने वाला है, वही परम-पुरुष विष्णु की आराधना कर सकता है; उन्हें सन्तुष्ट करने का और कोई मार्ग नहीं ।)

महाभारत संग्राम हो चुका था। भीष्मपितामह शरशय्या पर आसीन थे। एक दिन भगवान् श्यामसुन्दर समाधि में बैठे थे। धर्मराज युधिष्ठिर अकस्मात् चले गये देखा तो रोमाञ्च कण्टकित हैं। श्यामसुन्दर मदनमोहन का अङ्ग-अङ्ग रोमाञ्च कण्टकित है। आँखों में आनन्दाश्रु है। विचित्र गद्गद् अवस्था है। आहट हुई। भगवान् ने समझ लिया—धर्मराज युधिष्ठिर हैं। भगवान् ने उनका सम्मान किया। पूछा—"कैसे आये ?"

धर्मराज ने कहा—"हम कैसे आये, यह तो फिर बतायेंगे। आप क्या कर रहे थे ? सारा संसार आपका ध्यान करता है। योगीन्द्र-मुनीन्द्र अमलात्मा-परमहंस-शिव-ब्रह्मादि आपका ध्यान करते हैं। आप किसका ध्यान कर रहे थे ?"

बोले—"भीष्म का। भीष्म अब देह त्याग करना चाहते हैं। उन्होंने तन्मयता से हमको स्मरण किया है।"

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
(भगवद् गीता ४।११)

(जो जिस तरह से मुझको भजता है। उसको मैं भी उसी प्रकार भजता हूँ, राग-द्वेष या मोह से नहीं भजता हूँ। इस रहस्य को जानकर बुद्धिमान् पुरुष मेरे बताये मार्ग से ही मेरा अनन्य भाव से भजन करते हैं।)

वे जिस प्रकार सानुराग-सस्नेह हमारा अनुस्मरण कर रहे थे, मेरी स्वाभाविक रूप से वैसी ही वृत्ति हो गयी। फिर भगवान् श्रीकृष्ण के साथ धर्मराज युधिष्ठिर भीष्म जी के पास गये। युधिष्ठिर जी का शोक-मोह किसी तरह से दूर नहीं होता था। उन्हीं की कृपा से शोक-मोह दूर हुआ। भीष्म जी ने अनेक प्रकार से ज्ञान-विज्ञान का उपदेश किया। राजधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया।

अन्त में भीष्म पितामह ने भगवान् का दर्शन करते हुए भगवान् का ध्यान करते हुए देहत्याग किया। ध्यान भी कैसा ? 'मेरे बाणों से जिनके श्री अङ्ग से रक्त निकल रहा है। किंशुक तुल्य पीताम्बर रक्त रञ्जित हो रहा है। जो महाभारत युद्ध में शस्त्र न ग्रहण करने की अपनी प्रतिज्ञा भूलकर मेरी प्रतिज्ञा को सफल बनाने के लिए रथाङ्ग पाणि होकर मेरी ओर दौड़े आ रहे हैं।'

आजु जौ हरिहिँ न सस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु-सुत न कहाऊँ ॥
स्यन्दन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।
पाण्डव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ॥
इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ ।
सूरदास रनभूमि विजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ ॥

(सूरसागर प्रथम स्कन्ध २७०)

भीष्म ने प्रतिज्ञा की थी—"यदि मैं आज श्रीहरि को अस्त्र न गहाऊँ तो शान्तनु सुत न कहाऊँ, गङ्गा माता को लजाऊँ ।"

भक्तवत्सल भगवान् अपनी प्रतिज्ञा को भूल जाते हैं । अर्जुन से श्रीभगवान् ने पहले ही कह रखा था—

कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

(भगवद्गीता ९।३१)

'अर्जुन ! तूँ प्रतिज्ञा कर कि वासुदेव का भक्त कभी नष्ट नहीं होता ।'

अर्जुन बोले—"आप ही क्यों नहीं प्रतिज्ञा करते, हमसे कराते हो ?'

भगवान् बोले—'हमारो प्रतिज्ञा अभी गड़बड़ होने वाली है । इसलिए हमारी प्रतिज्ञा पर कोई विश्वास नहीं है । पर भक्त की प्रतिज्ञा कभी गड़बड़ नहीं होगी । इसलिए तू प्रतिज्ञा कर ।'

यह सब काण्ड हुआ । अन्त में भगवान् विदा होने लगे । कुन्ती माता ने स्तुति किया ।

कुन्ती माता ने वरदान माँगा—"अशरणशरण अकारणकरुण करुणावरुणालय हम को तो विपत्ति का वरदान दो, विपत्ति दो । क्योंकि हम सम्पत्ति में तो आपको भूलती हैं और विपत्ति में आपका स्मरण करती हैं ।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

(भागवत १।८।२५)

(जगद्गुरो ! हमारे जोवन में सर्वदा पद-पद पर विपत्तियाँ आती रहें, क्योंकि विपत्तियों में ही निश्चित् रूप से आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जाने पर फिर जन्म-मृत्यु की प्राप्ति नहीं होती ।)

ओ हो हो ! कितनी अद्भुत बात है। एक दिन, दो दिन की विपत्ति में लोग घबड़ा जाते हैं। कुन्ती वरदान माँगती हैं—'सदा सर्वदा मुझको विपत्ति का वरदान दो क्यों ? इसलिए कि विपत्तिग्रस्त होकर हम आपको याद करती हैं। आपकी याद करना यही तो जीवन का सार है।'

हनुमान् जी महाराज ने कहा—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन भजन न होई॥

(रामचरितमानस ५।३१।३)

ठीक ही है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

दुनियाँ की विपत्ति कोई विपत्ति नहीं है। दुनियाँ की सम्पत्ति कोई सम्पत्ति नहीं है। भगवान् का विस्मरण ही विपत्ति है। भगवान् का स्मरण ही सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है। यह समझ करके महापुरुषों ने विपत्ति का वरदान माँगा है। दुनियाँ में कोई दूसरा दृष्टान्त नहीं है, जिसने वरदान माँगा हो विपत्ति का। एकमात्र कुन्ती का यह दृष्टान्त है जिसने वरदान माँगा विपत्ति का।

कुन्ती बड़ी तत्त्वविदुषी है। वह कहती है—आपका आविर्भाव क्यों होता है ?

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(भागवत ३।८।२०)

('भगवन् ! जो अमलात्मा परमहंस मुनि हैं, उनको भक्ति योग का विधान करने के लिए आपका अवतार होता है; हम स्त्रियाँ इस रहस्य को कैसे समझ सकती हैं।')

निराकार निर्विकार अद्वैत अनन्त अखण्ड निर्गुण सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म सगुण साकार रूप धारण कर लें, इसकी क्या आवश्यकता है ? यद्यपि स्वयं ही भगवान् ने कहा है—**'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत'।**

(श्रीमद्भगवद्गीता ४।७)

'साधुओं का परित्राण दुष्टों का दर्प दलन और धर्मसंस्थापन' यही भगवान् के प्रादुर्भाव का प्रयोजन है। पर यह हेतु अनन्यथासिद्ध नहीं।[४६] अन्यथासिद्ध हेतु है। क्यों ? सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अपने संकल्पमात्र से सब कुछ कर सकते हैं। सत्य

---

४६. समन्वय का दृष्टिकोण इस प्रवचन के अन्तिम चरण में है।

संकल्प भगवान् सत्य संकल्प कर दें—"**अद्यैव दुष्टानां सर्वथा विनाशो भवतु**' तो तत्क्षण दुष्टों का सर्वथा विनाश हो जाय। अरे मच्छर मारने के लिए परमाणुबम, हाइड्रोजनबम छोड़ा जायगा? भगवान् तो संकल्प मात्र से अखिल ब्रह्माण्ड का उपसंहार करते हैं—'**इदमिदानीमुपसंहर्तव्यम्**' संकल्पमात्र से अखिल ब्रह्माण्ड का उत्पादन करते हैं—'**इदमिदानीमुत्पादनीयं**' संकल्प मात्र से विश्व का पालन करते हैं—'**इदमिदानीं पालयितव्यं**' फिर संकल्पमात्र से रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु आदि का संहार नहीं कर सकते क्या? कर ही सकते हैं। ध्रुव, प्रह्लादादि साधुओं का परित्राण संकल्प मात्र से हो ही सकता था। अन्तर्यामी परमात्मा के लिए यह सब संभव है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(भगवद्गीता १८।६१)

(हे अर्जुन! सब भूतों के हृदय में शासन करने वाला ईश्वर स्थित है। वह सब प्राणियों को यन्त्रारूढ़-कठपुतली के समान माया से भ्रमण कराता है।)

धर्मसंस्थापन भी संकल्प मात्र से हो ही सकता था।

इस तरह संकल्पमात्र से भगवान् धर्मसंस्थापन, दुष्टदलन और साधु परित्राण कर सकते हैं। अतः भगवान् के अवतार का अन्यथा सिद्ध कोई हेतु बतलाना चाहिए।

इसलिए कुन्ती कहती हैं—"मेरी समझ में आता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग का विधान करने के लिए आपका आविर्भाव होता है।"

हंस :—

सांख्यवादी हंस होते हैं। नीर-क्षीर का विश्लेषण करने वाला हंस होता है। सांख्यवादी नीर-क्षीर के तुल्य प्रकृति-पुरुष का विश्लेषण करने के कारण हंस होते हैं।

परमहंस :—

परमहंस वे होते हैं जो सत्यानृत का विश्लेषण करते हैं। नीर और क्षीर सत्यानृत्य नहीं हैं, दोनों सत्य हैं परन्तु रज्जु सर्प, मरु-मरीचिका सत्यानृत हैं। रज्जु सत्यं है और सर्प मिथ्या। मरु सत्य है और जल मिथ्या (अनृत) सत्यानृत के मिथुनीभाव का विश्लेषण करने पर सत्य ही बाँकी बच जाता है, अनृत रह ही नहीं जाता है।

इस तरह 'हंस' सांख्यवादी हुए। केवल ब्रह्मात्मसाक्षात्कार करके नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च को वाधित कर देने वाले ब्रह्मात्मैक्यतत्त्ववादी वेदान्ती 'परमहंस' हैं।

अमलात्मा :—

परमहंस होने पर भी किञ्चित् राग के कारण अन्तःकरण मलिन रह सकता है। यद्यपि राग को अबोध सूचक माना है। भला जिसके हृदय में काम जागरूक है—जाज्वल्यमान है, उसके लिए ब्रह्मात्मसाक्षात्कार की कल्पना कौन कर सकता है? साथ ही 'रागादि हो भी सकते हैं', ऐसा भी माना है—

रागो लिङ्गमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु।
कुतः शाद्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

(पंचदशी रामकृष्णटीका ७.१९१)

(चित्त की विहार भूमि रूपी विषयों में राग होना ही अबोध का लिङ्ग-चिह्न है; जिस वृक्ष की खोह में आग लगी हो उसमें हरियाली कहाँ से आवेगी? अर्थात् **जैसे धुँआँ अग्नि ज्ञान का लिङ्ग है, वैसे ही विषयों में अनुराग का होना अज्ञान का चिह्न है।)**

अनुमान इस प्रकार होना—यह पुरुष अज्ञानी है; रागवान् होने से; अन्य अज्ञानी के समान।

शास्त्रार्थस्य समाप्तत्वान्मुक्तिः स्यात्तावता मितेः।
रागादयः सन्तु कामं न तद्भावोऽपराध्यते॥

(पंचदशी रामकृष्णटीका ७.१९१)

शास्त्र के अर्थ को सम्पूर्ण कर लेने के कारण शास्त्रतात्पर्य को भलीभाँति जान लेने के कारण, ब्रह्मात्मतत्त्व के ज्ञानमात्र से भी मुक्ति हो ही जायगी। मन के धर्म रागादि चाहे जितने रहें, उनके होने से तत्त्वज्ञ की कोई हानि नहीं।)

प्रारब्धवशात् परमहंसों के हृदय में भी राग हो सकता है। महाराज जड़-भरत के लिये लिखा है—**'मृगदारकाभासेन स्वारब्ध कर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसः'** (भागवत ५।८।२६) हिरण के बच्चे में उनको प्रेम हो गया। वह मृगदारकाभास उनका आरब्ध कर्म ही था। अर्थात् आरब्ध कर्म ही मृगदारक के रूप में प्रकट हो गया। इसी कारण वे बन्धन में पड़े। इसलिए ब्रह्मात्म ज्ञानी में भी कुछ रागादि का प्रपञ्च चल सकता है।

प्रश्न—लेकिन जो परमहंस हैं और रागादि दोष रहित होने के कारण अमलात्मा हैं साथ ही मुनि मननशील हैं, वे तो भगवत्पद प्राप्त कर ही चुके हैं, अब उनको भगवद्भक्ति की क्या जरूरत है कि भगवान् अवतार ग्रहण करें?

उत्तर है—जो मल-विक्षेप यानी रजोलेश-तमोलेश से निर्मुक्त हैं, जिन महानुभावों के चित्त को खींचने में कोइ भी लौकिक सत्ता समर्थ नहीं है और जो सदा ही दृश्यातीत शुद्ध चेतन में ही परिनिष्ठित रहते हैं। उनके आकर्षणकेन्द्र स्वयं श्री भगवान् ही सगुण-साकार रूप में होते हैं। उन्हें अपनी परमानन्दमयी हैतुकी भक्ति प्रदान करने के लिए उनके परमाराध्य और एकमात्र ध्येय-ज्ञेय शुद्ध परब्रह्म ही अपनी लीला शक्ति से सगुण विग्रह धारण करते हैं।

ब्रह्मसाक्षात्कारसम्पन्न परमहंसों को श्रीपरमहंस बनाने के लिए भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। श्रीपरमहंस अर्थात् शोभित परमहंस। भगवत्प्रीति के बिना सर्वकर्मसंन्याससाध्य जो अपरोक्ष ब्रह्मात्मसाक्षात्कार वह भी निरर्थक होता है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥

(भागवत १।५।१२)

(वह निर्मल ज्ञान भी, जो कि मोक्षोपलब्धि का साक्षात् साधन है, यदि भगवद्भक्ति से विरहित हो तो उसकी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओं में सदा ही अमङ्गल रूप है, वह काम्यकर्म और जो भगवान् को अर्पण नहीं किया गया है, ऐसा अहैतुक-निष्काम कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकते हैं।)

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

(रामचरितमानस २।२७६।५)

राम-प्रेम के बिना ज्ञान की शोभा नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन के पादारविन्द में प्रीति नहीं तो फिर वह ज्ञान शोभित नहीं। इसलिये भक्तियोग का विधान करके परमहंस को श्रीपरमहंस बनाने के लिए भगवान् को अवतरित होना ही चाहिए। भगवान् के सत्य-संकल्प होने से ही यह काम नहीं हो सकता।

भक्ति के लिए अपेक्षित भजनीय—जैसे कर्म के स्वरूप द्रव्य और देवता हैं, वैसे ही भक्ति का स्वरूप भजनीय है। भजनीय नहीं होगा तो भक्ति क्या होगी? इसलिये भजनीय चाहिये; निराकार-निर्विकार तो उनका स्वरूप ही है, उसका भजन क्या होगा? फिर भक्ति में थोड़ा-सा द्वैत चाहिए। एक भक्त चाहिये एक भजनीय। भजनीय के बिना भक्ति नहीं हो सकती। प्रेम लक्षणा भक्ति का आलम्बन कोई अत्यन्त चित्ताकर्षक और परम अभिलषित तत्त्व ही हो सकता है। जो महामुनीश्वर प्रकृति-प्राकृतप्रपञ्चातीत परमतत्त्व में परिनिष्ठित हैं—उनके मन का आकर्षण भगवान् के सिवा प्राकृत पदार्थों में तो हो नहीं सकता। अतः इस बात की आवश्यकता होती है कि उनके परमाराध्य भगवान् ही अचिन्त्य एवं अनन्त सौन्दर्य-

माधुर्यमयी मंगलमूर्ति में अवतीर्ण होकर उन्हें भजनीय रूप से अपना स्वरूप समर्पण कर भक्तियोग का सम्पादन करें, क्योंकि जो कार्य पूर्ण परब्रह्म परमात्मा के अवतीर्ण हुए बिना सम्पन्न न हो सकता हो, जिसके सम्पादन में उनकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कुण्ठित हो जाय, उसी के लिए उनका अवतीर्ण होना सार्थक हो सकता है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(भागवत १।७।१०)

(जो आत्माराम हैं, महामुनीन्द्र हैं, निर्ग्रन्थ हैं, वे लोग भी भगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं क्योंकि भगवान् के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भी अपनी ओर खींच लेते हैं।)

'न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते।' बिना प्रयोजन के किसी मन्द की भी प्रवृत्ति नहीं होती। फिर अमलात्मा मुनीन्द्र परमहंसों की भगवद्भक्ति में क्यों प्रवृत्ति होती है? इसी का उत्तर है—**'इत्थं भूतगुणो हरिः'** भगवान् का गुण ही ऐसा है। आत्मारामचित्ताकर्षण गुण के कारण ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ भी भगवान् की ओर आकृष्ट होते हैं। जैसे जितना शुद्ध निर्मल लोहा होता है, वह उतना ही चुम्बक के द्वारा आकृष्ट होता है, वैसे ही जितना निर्मल निष्कलंक परम पवित्र अमलात्मा परमहंस होता है, वह उतना ही भगवान् के द्वारा आकृष्ट होता है।

एक दृष्टि और है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषद् २।४।१)

'स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया।' यदि केवल इन्द्रियों की रचना अभीष्ट हो तो **'व्यरचयत्'** कह देते। **'त्रिहु हिंसायाम्'** धातु का प्रयोग क्यों किया?' 'त्रिहु' धातु तो हिंसार्थक है। इसका अर्थ यह है कि भगवान् ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर उनकी हिंसा किया (की)। हिंसा क्या है? **'न हि शस्त्र वध एव वधः' = शस्त्र वध ही वध नहीं है,** किन्तु—

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥

(भागवत १०।३१।२)

हमारे अनुरागपूर्ण हृदय के नाथ ! हम तुम्हारी निःशुल्क दासी हैं। तुम शरत्कालीन जलाशय में सुन्दर-से-सुन्दर सरसिज की कर्णिका के सौन्दर्य को चुराने वाले नेत्रों से हमें घायल कर चुके हो। हे वरद ! प्राणेश्वर ! क्या नेत्रों से मारना वध नहीं है ? अस्त्रों से मारना ही वध है ?)

दृष्टि वध भी तो वध है। इसी तरह दर्शनीय के दर्शन से विमुख रखना भी तो वध है। इसलिए इन्द्रियों ने जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर तक तप किया। भगवान् उनकी तपस्या से प्रसन्न हो गये। बोले—'वरदान माँगो।'

इन्द्रियों ने कहा—प्रभो ! आपने हमें अपने अनन्त माधुर्यामृत के रसास्वादन से वञ्चित कर दिया है। हम बहिर्मुख हैं इसलिए आपको नहीं पा सकतीं। आपने हमारी हिंसा की। बुद्धि आपका 'दर्शन करती है—**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** (कठो० १।३।१२) मन आपका दर्शन करता है—**मनसैवानुद्रष्टव्यं** (बृहदारण्यक-२।४।११, ४।४।१९), **मनसैवेदमाप्तव्यम्** (कठोपनिषद् २।४।११), हम भी आपका दर्शन करना चाहती हैं।

भगवान् ने कहा—'एवमस्तु'।

फिर क्या था ? इन्द्रियों को उस वस्तु के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो गया। चक्षुरादि इन्द्रियाँ जिसे नहीं देख सकतीं—**यच्चक्षुषा न पश्यति** (केनोपनिषद् १।६), मन जिसका मनन नहीं कर सकता—**'यन्मनसा न मनुते'** (केनोपनिषद् १।५) 'चक्षु के द्वारा जिसे देखा नहीं जा सकता और मन के द्वारा जिसका मनन नहीं किया जा सकता' ऐसा जो अलक्ष्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, निराकार, निर्विकार, अद्वैत परात्पर परब्रह्म[४७] वह श्रीकृष्णचन्द्र बन गया।

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन के मधुर मनोहर मंगलमय मुखचन्द्र, पादारविन्द की नखमणिचन्द्रिका, मंगलमय दिव्य अङ्ग की आभा-प्रभा-कान्ति दिव्य पीताम्बर—ये सब अभौतिक वस्तुएँ हैं, भौतिक वस्तुएँ नहीं। ये जड़ वस्तुएँ

---

४७. नान्तः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् ॥
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं ।
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥
(माण्डूक्यो ७)
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥
(कठोपनिषद् १।३।१५)

भी नहीं। 'नेति नेति' कहकर वेद-वेदान्त जिस परब्रह्म तत्त्व का वर्णन कर रहे हैं, वही श्रीकृष्णचन्द्र के मधुर-मनोहर मुखचन्द्रादि के रूप में अभिव्यक्त हैं। भगवान् के श्री अंग की दिव्य आभा, प्रभा और कान्ति भी स्वयं परात्पर परब्रह्म ही है। क्योंकि नयनों को रूपामृत प्रदान करने के लिए अदृश्य, अग्राह्य ब्रह्म ही रूप हुआ है। इसलिए जिसने उस रूप को निहार लिया वह धन्य-धन्य हो गया।

जिन नयनन सों यह रूप लख्यो
उन नयनन सों अब देखिय काहा।

सूरदास जी महाराज कुएँ में गिर पड़े थे। भगवान् ने कृपा की। उनको लोकोत्तर स्पर्श प्रदान किया। कुएँ से निकले। **भगवान् के हस्तारविन्द का स्पर्श ब्रह्मस्पर्श है। शुद्ध परात्पर परब्रह्म ही श्रीकृष्ण का पादारविन्द, हस्तारविन्द, मुखारविन्द, वदनारविन्द है। सब कुछ रसस्वरूप मधुर ही है—**

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥

(श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत मधुराष्टकं)

सूरदास जी ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्तकर रोमाञ्चकण्टकित हो गये। आनन्दाश्रु से उनकी आँखें भरपूर हो गयीं। बड़ा प्रेम किया भगवान् ने। अनुग्रह करके नेत्र प्रदान किया। पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका का दर्शन किया। मंगलमय दिव्य अंग की आभा-प्रभा-शोभा-कान्ति को निहारा।

भगवान् ने कहा—'अब जाँयगे भाई सूरदास जी!'

सूरदास ने कहा—'हाँ हाँ महाराज जाना।'

श्रीभगवान् चल पड़े। तो सूरदास ने कहा—'अरे एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अनन्त ब्रह्माण्ड नायक—एक अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् देहेन्द्रियादि नायक से हाथ छुड़ा ले, कोई बहादुरी तो नहीं! हम देखें आपकी बहादुरी जब आप हमारे हृदय से निकल जाओ।

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

(लीलाशुक-बिल्वमङ्गल)

बाँह छुड़ा के जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदै से जब निकसिहौ मरद बखानौं तोहि॥

अच्छा ठीक है, जाओ, पर मेरी आँखें जैसी थीं वैसी ही बना के जाओ ?

भगवान् ने कहा—'नहीं, नहीं, रखो, रखो।'

सूरदास ने कहा—'क्या करेंगे, अब क्या करेंगे ?'

'जिस नयनों से आपके इस मुखचन्द्र के सौरस्यामृत, सौन्दर्यामृत का अनुभव कर लिया, उनसे अब क्या देखें ?' ऐसे ही समझ लेना चाहिए—जिन घ्राणों से भगवान् के मंगलमय पादारविन्द के दिव्य सौगन्ध्यामृत का आस्वादन हो गया, उनसे अब क्या सूंघें ? जिन कानों से भगवान् के दिव्य मुखचन्द्र निर्गत वचनामृत का रसास्वादन हो गया, अब उन कानों को क्या सुनना है ?

इस तरह से वह जो सच्चिदानन्दघन परात्पर परब्रह्म है। वह इन्द्रियों को वरदान देकर श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रकट हुआ है। वह दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूप, दिव्य रस और दिव्य गन्ध के रूप में प्रकट होकर भक्तों की इन्द्रियों को आह्लादित कर रहा है। इन्द्रियाँ भगवान् का अनुभव कर रही हैं—**'मयैव वृदावन गोचरेण'** (भागवत ११।१२।११),**'वृन्दावने गाः इन्द्रियाणि चारयति।'**

इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं; उन्हें ब्रह्मानुभूति नहीं होती। परमात्मा ने उन्हें भी ब्रह्मानुभूति कराया। अर्थात् अनन्त अखण्ड परात्पर परब्रह्म का आस्वादन कराया।

इन सब दृष्टियों से स्पष्ट होता है कि कुन्ती का कहना बिल्कुल ठीक है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग का विधान करके उन्हें 'श्रीपरमहंस' बनाकर उनके ज्ञान-विज्ञान को सुशोभित-समलंकृत करने के लिए, उनमें चार चाँद लगाने के लिए ही श्रीकृष्णचन्द्र का अवतार हुआ है। यही भगवान् के आविर्भाव का प्रयोजन है।

'तथा परमहंसानां' के साथ 'परित्राणाय साधूनां' की संगति :—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

(भगवद्गीता ४।७, ८)

(अर्जुन ! प्राणियों के अभ्युदय और निःश्रेयस् के साधन रूप वर्णाश्रम धर्म की जब हानि एवं अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं प्रकट होता हूँ—अपने आपको

अभिव्यक्त करता हूँ। साधुओं-सन्मार्गस्थ सत्पुरुषों की रक्षा एवं दुष्टों का विनाश और धर्म की संस्थापना करने के लिए युग-युग में आविर्भूत होता हूँ ॥)

भगवद्वचनों को कुन्ती-वचन के अनुसार लगाओ। किन साधुओं का परित्राण ? उन साधुओं का जिनका परित्राण करने के लिए भगवान् के पास दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं। कोई मोक्ष चाहे भगवान् उसको मोक्ष दे दें, भोग चाहे भगवान् उसको भोग दे दें। कोई साम्राज्य, स्वाराज्य चाहे उसे साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य दे दें। परन्तु कई ऐसे हैं जो कुछ नहीं चाहते, केवल मुखचन्द्र का दर्शन ही चाहते हैं—

गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥

(भागवत १०।१९।१६)

(इधर व्रज में गोपियों को श्रीकृष्ण के बिना एक-एक क्षण सौ-सौ युग के समान हो रहा था। जब भगवान् श्रीकृष्ण लौटे तब उनका दर्शन करके वे परमानन्द में मग्न हो गयीं।)

गोपाङ्गनाओं को भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन में अनन्त आनन्द होता था। श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्दकन्द के बिना एक क्षण सौ युग के तुल्य बीतता था। फिर घड़ी कैसे बीतती होगी ? जहाँ एक क्षण सौ युग के समान बीते वहाँ दण्ड, घड़ी और प्रहर कैसे बीते ? भगवान् के पास कोई उपाय नहीं, बस एक ही उपाय था कि उनको दर्शन देते। ऐसे भक्तों को भगवान् का दर्शन तो तभी सम्भव हुआ, जब वे निर्गुण, निराकार, अद्वैत सच्चिदानन्दघन परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में प्रकट हुए।

इस तरह यहाँ 'साधु' शब्द से गोपाङ्गना जैसे साधु ही समझना चाहिये, जिनका परित्राण भगवान् के दर्शनों के बिना हो ही नहीं सकता था। इसलिए यह अनन्यथा सिद्ध हेतु है।

श्यामसुन्दर एक जगह ललिता जो कि श्री राधारानी वृषभानुनन्दिनी की परम अन्तरंगा सखी हैं, उससे कहते हैं—

पूर्वानुरागगलितां मम लम्भनेऽपि, लोकापवाद दलितामथ मद्वियुक्तौ।
दावानलज्वलितजातिवनीसदृक्षामेतां कथं कथमहो बत सान्त्वयामि ॥

अर्थात् यह तो मेरे पूर्वानुराग में ही गलित हो चुकी हैं और मेरे सम्मिलन में भी लोकापवाद से दलित होती हैं। विप्रयोग में तो ये दावानल ज्वलित जातिवनी के समान हो जाती हैं। इन्हें मैं कैसे सान्त्वना दूँ ?

'ललिते, क्या करें ? राधारानी वृषभानुनन्दिनी को हम किस तरह सान्त्वना दें ? पूर्वानुराग सबके लिये सुखद होता है। किसी दुलहिन को दूल्हा से मिलने की जो कल्पना होती है, वह तो पहले वैकुण्ठ से भी बड़ी ऊँची लगती है। बाद में जो हो सो हो। पूर्वानुराग की कल्पना, पूर्वानुराग का सुखद स्वप्न वह तो बड़ा अद्‌भुत होता है। परन्तु यहाँ तो पूर्वानुराग वैसे ही गलित हो चुका है जैसे बर्फ की पुत्तलिका (पुतली) आतप से संतप्त होकर द्रवीभूत हो जाती है।

ललिता—श्यामसुन्दर ! फिर मिल जाओ।

श्रीकृष्ण—मिलने पर भी लोकापवाद के कारण वे डरती हैं।

गर्गाचार्य जी महाराज ने यह उपद्रव खड़ाकर दिया है। जिस समय इन गोप-कन्याओं को श्रीकृष्ण दर्शन होगा, सौ वर्ष के लिये घोर विप्रलम्भ ताप होगा। इसलिये प्रकट रूप में ये मिल सकतीं भी नहीं। सब उनके पीछे पड़े हैं। डर है—

"बलिहारी करौं व्रज में बसि वो
जहँ पानी में आग लगावें लुगाई॥"
"इत मत निकसे चौथ को चन्दा तोहे
देखे ते कलंक मोहि लग जायगो।"

ललिता—तो फिर प्रभो ! प्रकट हो जाओ ?

श्रीकृष्ण—परन्तु मेरा वियोग होते ही इतनी भयङ्कर स्थिति हो जाती है, जैसे जूथिका, मल्लिका, मालती जाति की लताएँ दावानल से ज्वलित होकर समाप्त हो जाती हैं, वैसे ही मेरे विप्रलम्भ में इनकी दशा हो जाती है। बोलो, इनको मैं सान्त्वना दूँ तो कैसे दूँ ? मोक्ष चाहें तो मोक्ष देदूँ, संभोग चाहें संभोग देदूँ, परन्तु इन्हें ये सब बिल्कुल चाहिए नहीं, फिर करूँ-तो-करूँ क्या ?

इस तरह भगवद्दर्शन के बिना जिन साधुओं का परित्राण नहीं हो सकता, उन साधुओं के परित्राण के लिए श्रीभगवान् का अवतार होता है।

'धर्मसंस्थापनार्थाय' यहाँ धर्म कौन-सा ? भगवद्भक्ति रूप धर्म को ही धर्म समझना चाहिए। 'बिना भजनीय के भक्ति बन नहीं सकती', यह कह ही चुके हैं। अतः भक्ति लक्षण धर्म की संस्थापना के लिए अद्वैत-अनन्त-अखण्ड-परात्पर-परब्रह्म का श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है।

प्रश्न—**'विनाशाय च दुष्कृताम्'** यह तो संकल्प मात्र से हो सकता था, इसके लिए भगवान् के अवतार की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—ऐसे दुष्कृती जिन्होंने भगवान् के लिए ही दुष्कृत किया जानबूझकर, ऐसे कौन ? जय-विजय, उनके लिए तो अवतार की ही आवश्यकता थी।

जय-विजय भगवान् के भक्त थे। उन्होंने ताड़लिया 'भगवान् के मन में युद्ध चिकीर्षा (युद्ध करने की इच्छा) है', परन्तु इनसे कौन लड़ेगा ?

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥

(भागवत २।५।१३)

(यह माया तो उनकी आँखों के सामने ठहरती ही नहीं, विलज्जित होकर दूर से ही भाग जाती है। फिर भी अज्ञजन उस माया से ही विमोहित होकर 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार अनर्गल प्रलाप करते करते रहते हैं, बकते रहते हैं।)

माया स्वयं इनके सामने खड़ी होने में शर्माती है। माया इनसे लड़ेगी कैसे ? जितने भी दैत्य-दानव हैं वे तो माया के बच्चे हैं। जब माया ही इनके सामने खड़ी नहीं हो सकती तो माया के बच्चे क्या लड़ेंगे ? इनकी युद्ध चिकीर्षा मेरे बिना और कौन पूरी कर सकता है ? 'लेकिन ये तो हमारे नाथ-स्वामी हैं। इनके साथ कैसे युद्ध करेंगे। असुर बनकर ही युद्ध कर सकेंगे।'

सनकादि योगीश्वर दर्शन करने जा रहे थे, उन्होंने रोक दिया। कहा—'बाबा जी खड़े रहिये।'

बाबाजी ने डाँटते हुए कहा—'भगवान् विष्णु सर्वान्तरात्मा हैं। उनका दर्शन नहीं करन देते। हमें जाने से रोकता है। उन्हें छिपाता है। जा असुर हो जा।'

इस प्रकार जय-विजय ने 'आ बैल मुझे मार' की लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए जान-बूझकर शाप ले लिया। भगवान् की युद्ध चिकीर्षा को पूर्ण करने की भावना से ही उक्त पाप किया था।

कालान्तर में वही हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु बने। हिरण्याक्ष के साथ भगवान् का युद्ध हुआ। भगवान् लड़े, खूब लड़े और मार भी डाला पर समझ गये कि कोई मिला, अच्छा मिला। भगवान् ने अपने आपको विजयी नहीं माना—

यं विनिर्जित्य कृच्छ्रेण विष्णुः क्ष्मोद्धार आगतम्।
नात्मानं जयिनं मेने तद्वीर्यं भूर्यनुस्मरन्॥

(जब विष्णु भगवान् जल से पृथिवी का उद्धार कर रहे थे, तब वह उनके सामने आया। बड़ी कठिनाई से उन्होंने उस पर विजय तो प्राप्त कर ली, परन्तु

उसके बहुत समय बाद भी उन्हें बार-बार हिरण्याक्ष की शक्ति और बल का स्मरण हो आया करता था और उसे जीत लेने पर भी वे अपने को विजयी नहीं समझते थे।)

हिरण्याक्ष तो मारा गया। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा जी से वरदान माँग रखा था—'न भीतर मरूँ, न बाहर मरूँ, न आकाश में मरूँ, न पाताल में मरूँ, न दिन में मरूँ, न रात में मरूँ, न अस्त्र से मरूँ न शस्त्र से मरूँ···।'

बड़ा भयङ्कर था वह। भगवान् का उसने पीछा किया। जहाँ-जहाँ भगवान् जाँय, वहीं-वहीं वह पहुँच जाय। बैकुण्ठ में, साकेत में, गोलोक में जहाँ भी जाँय, वहीं वह ताल ठोककर युद्ध करने के लिए तैयार हो जाय।

भगवान् ने सोचा—'इसके भीतर घुस जाना ठीक है, वैसे इससे पार पाना कठिन है। यह बाहर ही देखता है, पराङ्मुख है।'

भगवान् उसके भीतर प्रवेश कर गये। हिरण्यकशिपु ने चारों ओर ढूँढ़ा। जब कहीं न पाया तो बोला—'विष्णु तो मर गया।'

निशम्य तद्वधं भ्राता हिरण्यकशिपुः पुरा।
हन्तुं भ्रातृहणं क्रुद्धो जगाम निलयं हरेः॥
तमायान्तं समालोक्य शूलपाणिं कृतान्तवत्।
चिन्तयामास कालज्ञो विष्णुर्मायाविनां वरः॥
यतो यतोऽहं तत्रासौ मृत्युः प्राणभृतामिव।
अतोऽहमस्य हृदयं प्रवेक्ष्यामि पराग्दृशः॥

(भागवत ८।१९।७-९)

(जब हिरण्याक्ष के भाई हिरण्यकशिपु को उसके वध का वृत्तान्त विदित हुआ, तब वह अपने भाई का वध करने वाले को मार डालने के लिये क्रोध करके भगवान् के निवासस्थान वैकुण्ठ धाम में पहुँचा। भगवान् विष्णु तो मायावियों में सर्वश्रेष्ठ ठहरे। काल की गति के भी मर्मज्ञ ठहरे। जब उन्होंने देखा कि हिरण्यकशिपु तो हाथ में शूल लेकर काल की भाँति मेरे ही ऊपर धावा कर रहा है, तब उन्होंने विचार किया। जैसे संसार के प्राणियों के पीछे मृत्यु लगी रहती है, वैसे ही मैं जहाँ-जहाँ जाऊँगा, वहीं-वहीं यह मेरा पीछा करेगा। इसलिये मैं इसके हृदय में प्रवेश कर जाऊँ। जिससे यह मुझे देख न सके; क्योंकि यह तो बहिर्मुख है, बाहर की वस्तुएँ ही देखता है।')

एवं स निश्चित्य रिपोः शरीरमाधावतो निर्विविशेऽसुरेन्द्र।
श्वासानिलान्तर्हितसूक्ष्मदेहस्तत्प्राणरन्ध्रेण विविग्नचेताः॥

(भागवत ८।१९।१०)

(असुर शिरोमणे ! जिस समय हिरण्यकशिपु उन पर झपट रहा था, उसी समय ऐसा निश्चय करके डर से काँपते हुए विष्णु भगवान् ने अपने शरीर को सूक्ष्म बना लिया और उसके प्राणों के द्वारा नासिका में से होकर हृदय में जा बैठे ।)

अपश्यन्निति होवाच मयान्विष्टमिदं जगत् ।
भ्रातृहा मे गतो नूनं यतो नावर्तते पुमान् ॥
(भागवत ८।१९।१२)

(उनको कहीं न देखकर वह कहने लगा—'मैंने सारा जगत् छान डाला, परन्तु वह मिला नहीं । अवश्य ही वह भ्रातृघाती उस लोक में चला गया, जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता ।)

इस तरह जिसके खौफ से भगवान् को छिपना पड़ा, वह कोई कम पराक्रमी था क्या ? बहुत बड़ा पराक्रमी था । भगवान् ने भक्तराज प्रह्लाद की रक्षा की और हिरण्यकशिपु का वध किया । जय-विजय ने स्वयं असुर बनकर भी भगवान् की युद्धचिकीर्षा पूर्ण की ।

इस तरह जो स्वयं सुकृती होते हुए भी, भगवान् के लीला-परिकर होते हुए भी केवल भगवान् की लीला को साङ्गोपाङ्ग बनाने के लिए ही दुष्कृत करते हैं, उन दुष्कृतियों के उद्धार के लिए भगवान् का अवतार होता है ।

इस प्रकार (१) साधु परित्राण (२) धर्मसंस्थापन और (३) दुष्कृतियों का विनाश रूप तीनों हेतु अनन्यथा सिद्ध बन जाते हैं ।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए भगवान् भाष्यकारादि ने अवतार का प्रयोजन[४८] सर्वसाधारण के कल्याणोपयुक्त धर्म की स्थापना ही बतलाया है । इस प्रकार यद्यपि उनके प्रादुर्भाव का प्रयोजन अमलात्माओं के भक्तियोग का विधान करना ही है । तथापि अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओं की रक्षा और वैदिक-

---

४८. तव जन्म कदा किमर्थं चेत्युच्यते-यदेति । यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्हानिर्वर्णाश्रमादिलक्षणस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य भवति भारत, अभ्युत्थानमुद्भवोऽधर्मस्य तदा-तदा आत्मानं सृजाम्यहं मायया । किमर्थम्-परित्राणायेति । परित्राणाय परिरक्षणाय साधूनां सन्मार्गस्थानां विनाशाय च दुष्कृतां पापकारिणाम् । किं च धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मस्य सम्यक्स्थापनं तदर्थं संभवामि युगे-युगे प्रति युगम् । (शङ्करभाष्य गीता ४।७, ८)

स्मार्तादि कर्मों की स्थापना भी हो सकता है। भगवान् में लोक शिक्षादि भी देखे ही जाते हैं। भगवान् तो सर्व नियन्ता हैं, इसलिए उसका प्रादुर्भाव आरुरुक्षुओं के लिए भी था और योगारूढ़ों के लिए भी। आरुरुक्षुओं को वैदिक-स्मार्त कर्मों में प्रवृत्त करना था और योगारूढ़ों को सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक केवल भगवन्निष्ठा में नियुक्त करना था!

इस तरह माता कुन्ती ने भगवान् से जहाँ विपत्ति का वरदान माँगा, वहाँ भगवदवतार के अनन्यथा सिद्ध प्रयोजन का भी रहस्योद्घाटन[४२] किया।

---

४१. विशेष जानकारी के लिए राधाकृष्णधानुकाप्रकाशनसंस्थान से प्रकाशित (सन १९८०) पूज्यपाद श्रीस्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा लिखित 'भक्ति सुधा पृष्ठ ६५९ से ६८९ तक अवलोकन करिये।

पञ्चम-पुष्प

श्रीमद्भागवत के अनुसार राजा परीक्षित् पाण्डवों के निर्याण (स्वर्गारोहण) के अनन्तर सम्राट् हुए। वे धर्म पूर्वक राष्ट्र (विश्व) का रक्षण कर रहे थे। उनको प्रसङ्गानुसार एक ऋषि (ऋषि-बालक) का शाप हो गया—'**तक्षकः सप्तमेऽहनि। दङ्क्ष्यति स्म**……' (भागवत १।१८।३७)। 'आज के सातवें दिन तक्षक नाग काटेगा।' अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख कुलिक—ये सब अष्ट महानाग हैं। स्वभाव से ही राजा अन्तर्मुख-विरक्त और भगवत्परायण थे। उन्हें सर्वस्व त्याग पूर्वक भगवत्पदप्राप्ति का निमित्त मिल गया। जहाँ और लोग विपत्ति के आने में रोने-गाने (चिल्लाने) में समय का अपव्यय करते हैं, वहाँ राजा परीक्षित् ने यह सब नहीं किया[५०], तत्काल जनमेजय को उत्तराधिकारी घोषित करके स्वयं सर्वस्व त्याग करके गंगा तट पर शुकताल[५१] में जहाँ गंगा जी की पवित्र रेती थी वहीं जाकर बैठ गये। वे लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा से विनिर्मुक्त थे। सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर सर्वाधिष्ठान परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण में अनन्य भक्ति उनकी थी। धर्मात्मा तो प्रसिद्ध ही थे। सुनते ही बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र-अमलात्मा-परमहंस सब पहुँचे वहाँ पर। इसी बीच में भगवान् शुकदेव जी भी आ गये।

> **"तत्राभवद् भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।**
> **अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतः स्त्रिबालैरवधूतवेशः॥'**
>
> (भागवत १.१९.२५)

उसी समय पृथिवी पर स्वेच्छा से विचरण करते हुए, किसी से और किसी की कोई अपेक्षा न रखने वाले व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेव जी महाराज वहाँ प्रकट हो गये। वे वेष अथवा आश्रम के बाह्य चिह्नों से रहित एवं आत्मानुभूति में सन्तुष्ट थे। बच्चों और स्त्रियों ने उन्हें घेर रक्खा था। उनका वेष अवधूत का था।

'तत्राभवत्' कहा है। मालूम होता है, थे तो वहाँ पहले से ही, परन्तु अभिव्यक्त हो गये। नहीं तो **'तत्रागच्छत'** ऐसा कुछ बोलना चाहिये था। जैसा कि हमने पहले ही कहा था कि वे सर्वात्मा परात्पर परमात्मा को प्राप्त हो गये थे।

---

५०. यह प्रसङ्ग भागवत स्कन्ध १ अध्याय १५ से १९ तक के अनुसार है।

५१. यह स्थान मुजफ्फर नगर (उ० प्र०) जिला में आजकल है। मुजफ्फर नगर-मोरना से आगे अवस्थित है। शुकताल के दक्षिण (मेरठ जनपद में) हस्तिनापुर है।

श्रीशुकदेव जी बिम्ब रूप परमेश्वर की आराधना से स्वयं को सुशोभित बनाकर पुनः ब्रह्मात्मभावसम्पन्न-बिम्बभावापन्न हो गये थे। सर्वभूत हृदय होने के कारण सर्वात्मा श्रीकृष्ण में अनुरक्त परीक्षित् का समुद्धार करने के लिये स्वयं ही अवतीर्ण हो गये।

ब्रह्मात्म तत्त्व के विज्ञान से जीव को अद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर की प्राप्ति होती है मुक्ति में—यह एक सिद्धान्त है। ईश्वर या ब्रह्म क्या है? जैसे वही गगनस्थ सूर्य कभी बिम्ब कहलाता है और कभी केवल गगनस्थ सूर्य।

सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुःख दारुन दाहू॥
यह बड़ि बात रांम के नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं॥

(रामचरितमानस २.२४.३३,४)

जैसे कोटि-कोटि घटोदकों में एक रवि की छाया पड़ती है, वैसे ही अनन्तानन्त अन्तःकरणों में अनन्त-अखण्ड-परात्पर-परब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव भाव है। उस प्रतिबिम्ब की अपेक्षा से ही परब्रह्म परमात्मा को बिम्ब कहा जाता है।

कैसे? जैसे वही गगनस्थ सूर्य कभी बिम्ब कहलाता है और कभी केवल गगनस्थ सूर्य। वह बिम्ब कहलावे तो, गगनस्थ सूर्य कहलावे तो उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल प्रतिबिम्बापेक्षया वह बिम्ब कहलाता है।

भक्तराज प्रह्लाद ने अपनी स्तुति में कहा है—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥

(भागवत ७.९.११)

(सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने स्वरूप के लाभ साक्षात्कार से ही परिपूर्ण हैं। उन्हें अपने लिये यज्ञ, संसारी पुरुषों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वे करुणा-वश ही भोले भक्तों के हित के लिये उनके द्वारा की हुई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुख का सौन्दर्य दर्पण में दीखने वाले प्रतिबिम्ब को भी सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान् के प्रति जो-जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है।)

प्राणी जो कुछ भी भगवान् का सम्मान करता है, भगवान् के लिये छप्पन भोग अर्पण करता है, दिव्यातिदिव्य भूषण-वसन-अलंकार अर्पण करता है, सब अपने लिये। भगवान् तो स्वरूपभूत परमानन्द-सुधासिन्धु से ही परिपूर्ण हैं। आप्तकाम-

पूर्णकाम-आत्माराम-परमनिष्काम भगवान् को किसी से कोई मान-सम्मान नहीं चाहिये। वे न तो किसी का पाप ही ग्रहण करते हैं और न पुण्य ही—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

(भगवद्गीता ५.१५)

(विभु-व्यापक परमात्मा किसी के पाप को ग्रहण नहीं करता और किसी का पुण्य भी नहीं लेता। तो भक्तलोग यज्ञ, दान और होमादि सुकृत कर्म क्यों-अर्पण करते हैं? उत्तर—अज्ञान से विवेक ज्ञान आवृत-ढका हुआ है, इसलिये अविवेकी-संसारी जीव ही करता हूँ, कराता हूँ, खाता हूँ, खिलाता हूँ, इस प्रकार मोह को प्राप्त हो रहे हैं।)

फिर भी पत्र, पुष्प, फल जो कुछ भी सामग्री भगवान् को अर्पण करते हैं—उसे भोगते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(भगवद्गीता ९.२६)

(प्रयतात्मा—शुद्ध बुद्धि से युक्त पुरुष पत्र, पुष्प, फल और जल जो कुछ भक्तिपूर्वक मुझको अर्पण करता है, उसके भक्ति से दिये हुए पदार्थों को मैं प्रसन्न हो ग्रहण कर लेता हूँ।

पत्र-पुष्प-फल तो उपलक्षण हैं मधुरमनोहर पक्वान्नादि के। भक्तलोग भगवान् को आनन्द-समुद्र अर्पण कर देते हैं, दधि-समुद्र अर्पण कर देते हैं, दिव्यातिदिव्य मधुर-मनोहर पक्वान्न भगवान् को अर्पण कर देते हैं और भी विविध प्रकार के पदार्थ श्री हरि को समर्पित करते हैं।

'चित्पात्रे सद्धविः' सोने के पात्र में भगवान् को भोग लगाना चाहिये। सोना भी जड़ नहीं। अनन्त चित्-स्वप्रकाश बोध ही यहाँ सुवर्ण पात्र है। साथ ही जितना भर भी भोग राग है क्या है? अनन्त सत्ता, अनन्त[५२] आनन्द। आनन्द के भीतर सब आ गया। चिद्रूपी अखण्ड पात्र में आनन्द के ही विलास, विकास नाना प्रकार के मधुर-मनोहर पक्वान्नादि भगवान् को निवेदन करना चाहिये। भगवान् उन्हें

---

५२. चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्।
सच्चित्सुखपरिपूर्णतास्मरणं गन्धः।
समस्तयातायातवर्ज्यं नैवेद्यम्।

(भावनोपनिषद्)

अवश्य ही ग्रहण करते हैं। केवल भावना ही-भावना नहीं है, भगवान् स्वयं कहते हैं **'अश्नामि'**, अतः भक्तिरस परिप्लुत अन्न-पानादि भगवान् अवश्य ही ग्रहण करते हैं।

अगर कहीं मुरब्बा में नीम का पत्ता भी डाल दिया जाय, खट्टा आम भी डाल दिया जाय तो मीठा हो जायगा, इसी तरह पत्र, पुष्प, फल, जल सब भक्तिरस में परिप्लुत होने के कारण मधुर मनोहर बन जाते हैं, रसना से रसस्वरूप श्रीहरि उनका रस लेते हैं। तो कहाँ ? **'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः'** और कहाँ **'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। अश्नामि प्रयतात्मनः'** ? यह भक्ति-रस का लोकोत्तर चमत्कार है।

भगवान् किसी से कुछ अपेक्षा नहीं करते। सूर्य नारायण कब अपेक्षा करते हैं कि उन्हे कोई जलाञ्जलि दे, कोई दीपक दिखाये ? अन्धकार में बैठे रहते हैं सूर्यनारायण कि किसी के दीपक की प्रतीक्षा करते, प्यासे रहते हैं सूर्यनारायण कि किसी के जल की प्रतीक्षा करते हैं ? फिर भी लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार उनकी आरती करते हैं—उन्हें दीपक दिखाते हैं, जल समर्पण करते हैं। सारा प्रकाश, सारा जल सबको उन्हीं से तो प्राप्त होना है। यही बात परात्पर परब्रह्म परमात्मा के सम्बन्ध में भी समझ लेनी चाहिये। सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च उन्हीं से उत्पन्न हुआ है। भक्त अर्पण करते समय कहते हैं—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्।
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद परमेश्वर॥

'आपकी वस्तु है प्रभो ! यह आपको समर्पित है। हम कहाँ से लाये हैं ? उत्तमोत्तम फल, फूल आपका है, आपके अनुग्रह से ही उत्पन्न है। भगवन् ! कृपाकर इन्हें ग्रहण करिये।'

इस तरह अचिन्त्य, अनन्त सुधा-सिन्धु भगवान् परिपूर्ण हैं। कुछ अपेक्षा नहीं रखते। अकारणकरुण भगवान् हैं। करुणावशात् पूर्णकाम होते हुए भी भक्त का सम्मान ग्रहण करते हैं।

करुणावरुणालय प्रभु दही चुराने चले जाते हैं, मक्खन की चोरी करते हैं। गोपियाँ तो दिन-रात बुलाती रहती हैं—'हे मदन मोहन श्याम सुन्दर ! हे व्रजेन्द्र नन्दन ! आज हमारे घर अवश्य पधारो प्रभो !'

गोपियाँ इनके लिए गाय को पहले से ही मीठा-मीठा मधुर-मनोहर पक्वान्न खिलाती हैं। प्रार्थना करती हैं—'ऐसा मीठा दूध देना जिससे मीठा दधि बने जो कि श्यामसुन्दर मदन मोहन को बहुत अच्छा लगे, प्रिय लगे।'

इस तरह गोपियाँ आकांक्षा करती हैं। ऊपर से तो डंडा लिये रहती हैं, उलाहना देने जाती हैं, पर भीतर से तो श्यामसुन्दर के शुभागमन की खूब कामना करती हैं।

हाँ तो भगवान् देने पर तो क्या बिना देने पर भी जिसकी भावना होती है, लेते हैं। अन्ततोगत्वा चुराकर भी लेते हैं, छल करके भी लेते हैं—

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह।।
(रामचरितमानस १.१२३)

वृन्दा को प्राप्त करना ही था जैसे-तैसे, तो छल करके ही उसे प्राप्त कर लिया। जिनकी प्राप्ति के लिये युग-युगान्तर तक, कल्प-कल्पान्तर तक, घोर तपस्या करते हैं लोग तो भी प्राप्ति दुर्लभ (मुश्किल); वही भगवान् वृन्दा को प्राप्त करने के लिये स्वयं समुत्सुक हुए, छल किया, किसी तरह से प्राप्त करने का भी प्रयास किया?

आखिर यह सब क्यों करते हैं? करुणापरवश होकर ही भक्त की पूजा-सपर्या को भगवान् ग्रहण करते हैं।

प्रश्न है—साहब (महाराज)! 'करुणा करके ले लिया' यह कोई बात हुई? साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, अनन्त धन-धान्य वैकुण्ठादि पद प्रदान कर देने में तो करुणा हो सकती है, लेने में क्या (कौन-सी) करुणा?

उत्तर है—देने से भी ज्यादा करुणा लेने में है। पूर्ण काम लेने को तैयार हो जाएँ, यह कम बात है क्या? जो पूर्णकाम है, आप्तकाम है, वह लेने को तैयार हो जाय, यह अद्भुत बात है। अन्यों को (सबों को) अपेक्षा होती है तो लेते हैं, परन्तु परम निरपेक्ष होने पर भी भक्त की सपर्या स्वीकार करना करुणा नहीं तो और क्या है?

प्रश्न है—माना कि भगवान् भक्त की सपर्या स्वीकार करते हैं, इसमें उनकी करुणा ही है, परन्तु महाराज! यह तो बतलाइये इसमें जीव का कल्याण कैसे होता है?

उत्तर है—कल्याण होता है, तभी तो हम कहते हैं—

यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं।
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः।।
(भाग० ७.९.११)

प्राणी जो कुछ भी भगवान् का सम्मान करता है, वह सब अपने लिये, क्योंकि वही उसको मिलता है। दर्पणान्तर्गत अपना मुख कहलाता है प्रतिबिम्ब। ग्रीवास्थ

मुख कहलाता है बिम्ब। अब अगर कोई चाहे कि अपने प्रतिबिम्ब को मुकुट पहना दें, कुण्डल पहना दें, दिव्य माला समर्पण कर दें, क्या उपाय है? दुनियाँ भर के साइन्टिस्टों (वैज्ञानिकों) से पूछ लो— प्रतिबिम्ब को दिव्य (बहुत सुन्दर) माला पहनानी है, प्रतिबिम्ब को चन्दन लगाना है, प्रतिबिम्ब को मुकुट और कुण्डल धारण कराना है, बोलिये कैसे करायें?' सब यही कहेंगे—'ये सब बिम्ब को अर्पण करो, प्रतिबिम्ब को पहुँच जायेंगे। जो वस्तु बिम्ब को समर्पित करोगे, वही प्रतिबिम्ब को पहुँच जाएगी। बिम्ब को माला पहना दो प्रतिबिम्ब को माला मिल गयी, बिम्ब को मुकुट पहना दो प्रतिबिम्ब को मुकुट मिल गया, बिम्ब को कुण्डल पहना दो प्रतिबिम्ब को कुण्डल पहनाया गया। इसीप्रकार बिम्ब को भूषण अर्पित कर दो प्रतिबिम्ब को भी भूषण अर्पित हो जायगा। भगवान् हैं बिम्ब, जीवात्मा है प्रतिबिम्ब। प्रतिबिम्ब जीवात्मा अपने लिये कुछ चाहे तो बिम्ब परमात्मा के लिए पहले उसे वही समर्पित करना चाहिये ही।

व्यावहारिक दृष्टि से देखो। कोई अरबों हीरों का मालिक है। अब वह यदि चाहे कि एक हीरा अगले जन्म के लिए हम रिजर्व करा दें तो क्या करे? क्या किसी सरकार के बैंक में जमा कर दें? ठीक है, पर उस सरकार को या बैंक को क्या पता चलेगा कि जिसने जमा किया था, वही है वह या और कोई? साथ ही 'अमुक बैंक में मैंने अपने लिए एक हीरा जमा किया था।' इस बात का स्वयं भी उसे क्या पता? अगर पं० नेहरू का पता लग जाय तो इन्दिरा बड़ी सुबिधाएँ पहुँचाए। अगर महात्मा गाँधी जी का पता लग जाय तो हमारी सरकार उनको बहुत सुबिधा पहुँचाए। पता ही नहीं कहाँ हैं पं० नेहरू और कहाँ हैं महात्मा गाँधी? इस तरह आज अरबों हीरों में एक हीरा अगले जन्म के लिए कहीं जमा करने का क्या रास्ता है? बस यही रास्ता है कि जो वस्तु भगवान् को अर्पण करोगे वही तुम्हें मिलेगी। इस दृष्टि से भगवान् बिम्ब हैं और जीव प्रतिबिम्ब।

अनन्त-अनन्त जीवात्मा रूप प्रतिबिम्बों में एक भी प्रतिबिम्ब जब तक बना रहेगा तब तक परमात्मा में बिम्बत्व का उपचार होता रहेगा, जैसे गगनस्थ सूर्य में बिम्बत्व का उपचार प्रतिबिम्बापेक्षया हुआ करता है।

प्रश्न—महाराज! आपने जीव को प्रतिबिम्ब बताया है। प्रतिबिम्ब अनादि नहीं होता, सनातन नहीं होता। वह उपाधिजन्य है। जब तक उपाधि है, तब तक प्रतिबिम्ब है। उपाधि के न रहने पर प्रतिबिम्ब भी नहीं रहता, परन्तु जीव तो सनातन है। **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'** (भगवद्गीता १५.७) भगवान् ने जीव को सनातन बताया। जो सनातन होता है वह कभी

प्रतिबिम्बित नहीं होता। सावयव पदार्थ में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है निरवयव पदार्थ में प्रतिबिम्ब न देखा न सुना है। अविद्या रूप उपाधि निरवयव है, उसमें प्रतिबिम्ब की कल्पना कैसी ? इस बात को आप समझावें।

उत्तर—सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु अपनी मंगलमयी लीला से अनेक रूपों में प्रकट होते हैं। 'एकोऽहं बहु स्याम्' (तैत्तिरीयो० २.६) एक का बहुभवन श्रुत है। एक ही अनेक रूपों में प्रकट होता है। इसलिए 'अजायमानो बहुधा विजायते (यजुर्वेद) ३१.१९) = 'अजायमान होकर के ही बहुधा विजायमान होता है' यहाँ यह तात्पर्य है कि विभिन्न अभिप्राय होते हैं। सबका मत एक-सा नहीं होता। यही कारण है कि किसी वर्णन में किसी सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता है और किसी वर्णन में किसी का। 'जीव औपाधिक होने से नित्य नहीं है' यह तब कहा जा सकता है जब उपाधि अनित्य हो। अगर कहीं उपाधि नित्य हो तो प्रतिबिम्ब भी नित्य होगा। अविद्या नित्य अनादि है तो अविद्या में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब भी नित्य ही माना जायगा।

'सावयव में ही प्रतिबिम्ब होता है और सावयव का ही प्रतिबिम्ब होता है।' यह भी अनिवार्य नहीं। असल में प्रतिबिम्बग्रहण क्षमता ही प्रतिबिम्ब में हेतु है। सावयव घटादि में कहाँ प्रतिबिम्ब होता है ? इसलिये सावयवत्व प्रतिबिम्ब ग्राहकत्व का प्रयोजक नहीं। जो सावयव होता है वह सब प्रतिबिम्ब ग्राहक होता है या उसका प्रतिबिम्ब होता ही है, ऐसा नहीं। इसलिये स्वच्छता प्रतिबिम्ब ग्रहण का मूलाधार है। स्वच्छता अन्तःकरण में भी है और अविद्या में भी है। रजस्तमोलेशानुविद्ध सत्त्व को अविद्या कहते हैं। इसलिये वह प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकती है। इस तरह स्वच्छत्वमात्र ही प्रतिफलन का प्रयोजक होता है, मूर्तत्वादि नहीं। अन्तःकरण और अविद्या स्वच्छ हैं ही, फिर इनमें संविद्प्रतिफलन में क्या बाधा है ? निरतिशय निरवयव तो आत्मा ही है। शास्त्रैकगम्य विषय में तर्क का कोई महत्त्व भी नहीं। 'चित् का प्रतिफलन होता है' ऐसा अध्यात्म रामायण का कथन है—

आकाशस्य यथा भेदस्त्रिविधो दृश्यते महान्।
जलाशये महाकाशस्तदवच्छिन्न एव हि।
प्रतिबिम्बाख्यमपरं दृश्यते त्रिविधं नभः॥
बुद्ध्यवच्छिन्नचैतन्यमेकं पूर्णमथापरम्।
आभासस्त्वपरं बिम्बभूतमेवं त्रिधा चितिः॥
साभासबुद्धेः कर्तृत्वमविच्छिन्नेऽविकारिणि।
साक्षिण्यारोप्यते भ्रान्त्या जीवत्वं च तथा बुधैः॥
आभासस्तु मृषाबुद्धिरविद्याकार्यमुच्यते।
अविच्छिन्नं तु तद् ब्रह्म विच्छेदस्तु विकल्पतः॥

अविच्छिन्नस्य पूर्णेन एकत्वं प्रतिपद्यते ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च साभासस्याहमस्तथा ॥
ऐक्यज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनोः ।
तदाविद्या स्वकार्यैश्च नश्यत्येव न संशयः ॥
(अध्यात्मरामायण १.१.४५-५०)

(जलाशय में आकाश के तीन भेद स्पष्ट दिखायी देते हैं—एक महाकाश, दूसरा जलावच्छिन्न आकाश और तीसरा प्रतिबिम्बाकाश । जैसे—आकाश के ये तीन बड़े-बड़े भेद दिखायी देते हैं, उसी प्रकार चेतन भी तीन प्रकार का है—एक तो बुद्ध्यवच्छिन्न चेतन, दूसरा जो सर्वत्र परिपूर्ण है और तीसरा जो बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है—जिसको आभास चेतन कहते हैं । इनमें से केवल आभास-चेतन के सहित बुद्धि में ही कर्तृत्व हैं अर्थात् चिदाभास के सहित बुद्धि ही सब कार्य करती है । (किन्तु) अज्ञजन भ्रान्तिवश निरवच्छिन्न, निर्विकार साक्षी आत्मा में कर्तृत्व और जीवत्व का आरोप करते हैं अर्थात् उसे ही कर्ता-भोक्ता मान लेते हैं । (जीवरूप) आभास-चेतन तो मिथ्या है, बुद्धि अविद्या का कार्य है और परब्रह्म परमात्मा वास्तव में विच्छेद रहित है, अतः उसका विच्छेद भी विकल्प से ही माना हुआ है । (उपाधि रहित) साभास अहं रूप अवच्छिन्न चेतन (जीव) का 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा पूर्ण चेतन (ब्रह्म) के साथ एकता बतलायी जाती है । जब महावाक्य द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब कार्यों सहित अविद्या नष्ट हो जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।)

माया स्वाव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति=माया आभासेन जीवेशौ करोति ।

(नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ९)

असल में प्रतिबिम्ब के सम्बन्ध में उपपत्ति करनी है, वचन के आधार पर । श्रीमद्भागवत का ही वचन है—

....यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं ।
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥
(भागवत ७.९.११)

इस दृष्टानुरोध से उसकी कल्पना होती है । हाँ प्रतिबिम्ब सिद्धान्त में भी ऐसा कोई आवश्यक नहीं कि प्रतिबिम्ब होता ही हो । ब्रह्मसूत्रों में इन सब पर पूरा विचार चला है कि प्रतिबिम्ब होता है कि नहीं ?

अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः ।
दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥
(योग कुण्डल्युपनिषत् ३०)

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा[53] चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥
(ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ११)

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
(ऋग्वेद ६.४७.१८)

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्
(ब्रह्मसूत्र ३.२.१८)

आभास एव च
(ब्रह्मसूत्र २.३.५०)

सूर्य—चन्द्रादि का प्रतिबिम्ब मान्य है। परब्रह्म का प्रतिबिम्ब होता हो या न होता हो! उक्त वचनों के अनुरोध से केवल उपाधिधर्म प्रतिबिम्ब में भासित होता है, जैसे—जल की हलचल प्रतिबिम्ब में प्रतीत होती है। इस दृष्टि से उपाधि धर्म उपहित में प्रतिभासित होता है। इसी दृष्टि से प्रतिबिम्ब की व्यवस्था कही गयी है।

सर्वव्यापी के कारण चित् की अन्तःकरण में स्थिति निर्विवाद रूप से मान्य है। इसी तरह आत्मधर्मी का भी अहङ्कार में अध्यास होता है। अहंकार एवं उसके धर्मों का आत्मा में भी अध्यास होता है। आत्मधर्मों का अहङ्कार में अध्यास ही अहङ्कार में (अन्तःकरण में) आत्मा का प्रतिफलन है। वह अहङ्कार अपने में आत्मा की अभिव्यक्ति करता है। यही अन्तःकरण के द्वारा संवित् (अखण्ड बोध स्वरूप आत्मा) की व्यञ्जना है। अथवा जैसे सर्वव्यापी गगन घटादि से अवच्छिन्न होता है, उसी तरह सर्वव्यापिनी संविद् अन्तःकरण से अवच्छिन्न होती है। स्वच्छ होने से अन्तःकरण में संविद् भासती है। यही अन्तःकरण में संविद् की उपलभ्यमानता है। उसी चित् के अनुग्रह से प्राप्त चैतन्य अहङ्कार ज्ञाता होता है।[54]

---

५३. एकधा=ईश्वर रूपेण, बहुधा=जीव रूपेण ।

५४. अन्तःकरण (बुद्धि) सादि होने पर भी सुप्ति एवं प्रलय में अविद्या एवं मूल प्रकृति में एकीभूत होकर अवस्थित रहता है, इसी दृष्टि से वह भी कल्पित अनादि कोटि में है। मोक्ष (विदेह कैवल्य) पर्यन्त उसका तत्त्व ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥
(ब्रह्मसूत्र २.३.१३.३०)

मूल प्रकृति को भी ग्रन्थकारों ने चिदानन्दमय ब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता माना ही है—

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥
(पञ्चदशी १.१५)

इस तरह शास्त्रज्ञों ने बिम्ब-प्रतिबिम्ववाद की व्यवस्था की है। इस विषय पर अच्छे शास्त्रार्थ हैं। उत्तम-उत्तम विचार हैं। आवश्यकता होगी तो वह भी हो सकता है। पर अभी तो कथा हो रही है, इसकी आवश्यकता नहीं है।

हाँ तो बिम्बस्वरूप परमेश्वर की आराधना से स्वयं समुत्तीर्ण ब्रह्मात्म विज्ञान सम्पन्न सर्वभूतहृदय श्रीशुक, सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण के विशेष अनुग्रह पात्र राजा परीक्षित् के सम्मुख स्वयं ही अभिव्यक्त हुए।

मुक्तात्मा का भी प्राकट्य श्रुति और आचार्य से समर्थित है—

अथ कस्मादुच्यते नमामीति।
यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति
मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च ॥
(नृसिंह पूर्वतापनीयोपनिषद् २.४)

भाष्य—मुमुक्षुवो ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रहं परिगृह्य नमन्ति।

उक्त श्रुति के अनुसार मुक्त भी विग्रह धारण करके श्रीभगवान् का भजन करते हैं। महाभारत में भीष्म जी ने इस कथा के पहले ही श्रीशुकदेव जी के भगवद्-भावापन्न होने का वर्णन कर दिया है। गंगा तट पर समुपस्थित ऋषि-महर्षियों के सामने लीला से विग्रह धारण करके श्रीशुकदेव जी प्रकट हो गये। सबने सम्मान किया। सम्मान करने वालों में उनके पिता व्यास और पितामह (बाबा) पराशर आदि भी थे। इसलिये कहते हैं, **'तं व्याससूनुपयामि गुरुं मुनीनाम्'** (भागवत १.२.३) शुकदेव जी बड़े-बड़े महामुनीन्द्रों के भी गुरु हैं।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥
(भागवत १२.१२.६८)

(श्रीशुकदेव जी महाराज आत्मानन्द में ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थिति से उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मदन मोहन श्याम-सुन्दर की मंगलमयी मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी वृत्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और जगत् के प्राणियों पर कृपा करके भगवत्तत्त्व को प्रकाशित करने वाले इस महापुराण का विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेव जी के चरणों में नमस्कार करता हूँ।)

स्वरूपभूत अनन्त सुख से ही श्रीशुकदेव जी का चित्त परिपूर्ण था। अन्य पदार्थविषयिणी भावना ही उनकी निरस्त हो गई थी। 'आत्मातिरिक्त और भी

कोई पदार्थ है' यह बुद्धि ही नहीं रह गई थी। 'एकमात्र भगवान्-ही-भगवान् है सर्वत्र और कुछ भी नहीं' यह भावना अत्यन्त सुदृढ़ थी **'वासुदेवः सर्वमिति'** (भगवद्गीता ७.१९)। वे निर्विकल्प समाधि में परिनिष्ठित थे। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परात्पर परब्रह्म में पूर्ण रूपेण परिनिष्ठित थे। तो भी अजित (भगवान्) की मंगलमयी लीला जो कि हठात् रुचि उत्पन्न करने वाली है **'रुचिं राति ददाति'** उसके द्वारा इनका धैर्य आकृष्ट हो गया—छिन्न-भिन्न हो गया—**'आकृष्टः सारः धैर्यं यस्य'**। इसलिये जो पाषाण प्रतिमा के तुल्य भगवद्भाव में सन्निविष्ट निर्विकल्प समाधिस्थ रहते थे उस निर्विकल्प समाधि को भी छोड़ करके अष्टादश सहस्र (१८ हजार) श्लोकों वाले श्रीमद्भागवत को भगवान् व्यास से पढ़ा-कण्ठकर लिया। जैसे कोई हनुमान्-चालीसा पढ़ता चलता है हर समय, वैसे ही श्रीमद्भागवत के अठारह हजार श्लोकों को महर्षि शुकदेव जी पढ़ते हुए विचरण करते थे—

तत्रा‌ययौ षोडशवार्षिकस्तदा व्यासात्मजो ज्ञानमहाब्धिचन्द्रमाः।
कथावसाने निजलाभपूर्णः प्रेम्णा पठन् भागवतं शनैः शनैः॥

(श्री पद्मपुराण उत्तर खण्ड श्रीमद्भागवतमाहात्म्य ६.७८)

ज्ञानी के धैर्य को भी छिन्न-भिन्न कर देने वाली भगवान् की लीला होती है, यही तो श्रीहरि की रुचिर लीला का अनुपम माहात्म्य है। चन्द्रमा गर्म हो जाय, सूरज ठंडा पड़ जाय, सुमेरु विशीर्ण हो जाय, नभो मण्डल छिन्न-भिन्न हो जाय, तो भी ज्ञानी का अखण्ड धैर्य विचलित नहीं हो पाता। फिर महर्षि शुकदेव जी तो ज्ञानियों के भी गुरु हैं उनका भी धैर्य भगवान् की रुचिर लीला से छिन्न-भिन्न हो गया। भागवत का उन्होंने अनुशीलन किया और उसके श्लोकों का धीरे-धीरे पाठ करते हुए कथामृत से योगीन्द्र-मुनीन्द्रों को भी आप्लावित करने लगे। क्यों न हो ?

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

(भागवत २.१.७)

(परीक्षित् ! जो निर्गुण स्वरूप में स्थित हैं और विधि-निषेध की मर्यादा को पार कर चुके हैं, वे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी प्रायः भगवान् के अनन्त कल्याणमय गुणगणों के वर्णन में रमे रहते हैं।)

हम पहले ही कह चुके हैं, नैर्गुण्य (परात्पर परब्रह्म) में प्रनिष्ठित होते हुए भी मुनिगण भगवान् के गुण-गणों के अवगाहन में रमण करते हैं; उसी में उन्हें स्वाद आता है। इस तरह से भगवान् शुकदेव जी राजा परीक्षित् के कल्याण के लिये वहीं (गंगातट पर) आ गये।

बहुत-सी औरतें, बहुत-से बालक उनको घेरे हुए उनके पीछे-पीछे चल रहे थे। श्रीशुकदेव जी श्रीकृष्ण भगवान् के समान ही बड़े सुन्दर थे, खूबसूरत स्त्रियाँ और बालक उनके ऊपर धूल फेंकते जा रहे थे। जैसे नीलमणि धूलिधूसरित होकर भी चमकती है, वैसे ही श्रीशुक धूलिधूसरित होकर भी सुशोभित हो रहे थे। औरतें उनके अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य को निहारने में तन्मय होकर उन्हीं का अनुसरण कर रहीं थीं। श्रीशुकदेव जी की पागलों की-सी चाल थी। जब बालक और स्त्रियों ने देखा 'इनका तो बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी स्वागत-सत्कार कर रहें हैं' तब उनके प्रभाव को समझकर, उन्हें कोई महात्मा जानकर वे हट गये।

तं द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपादकरोरुबाहूंसकपोलगात्रम्।
चार्वायताक्षोन्नसतुल्यकर्णसुभ्र्वाननं कम्बुसुजातकण्ठम्॥
निगूढजत्रुं पृथुतुङ्गवक्षसमावर्तनाभिं वलिवल्गूदरं च।
दिगम्बरं वक्त्रविकीर्णकेशं प्रलम्बबाहुं स्वमरोत्तमाभम्॥
श्यामं सदापीच्यवयोऽङ्गलक्ष्म्या स्त्रीणां मनोज्ञं रुचिरस्मितेन।
प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यस्तल्लक्षणज्ञा अपि गूढवर्चसम्॥
स विष्णुरातोऽतिथय आगताय तस्मै सपर्यां शिरसाऽऽजहार।
ततो निवृत्ता ह्यबुधाः स्त्रियोऽर्भका महासने सोपविवेश पूजितः॥

(भागवत १.१९.२६-२९)

(सोलह वर्ष की अवस्था थी। चरण, हाथ, जङ्घा, भुजाएँ, कन्धे, कपोल और अन्य सब अङ्ग अत्यन्त सुकुमार थे। नेत्र बड़े-बड़े और मनोहर थे। नासिका कुछ ऊँची थी। कान बराबर थे। भौंहें सुन्दर थीं, इनसे मुख बड़ा ही शोभायमान हो रहा था। गला तो सुन्दर शङ्ख ही था। हसली ढ़की हुई, छाती चौड़ी और उभरी हुई, नाभि भँवर के समान गहरी तथा उदर बड़ा ही सुन्दर त्रिवली से युक्त था। लम्बी-लम्बी भुजाएँ थीं, मुख पर घुँघराले बाल बिखरे हुए थे। इस दिगम्बर वेष में वे श्रेष्ठ देवता के समान तेजस्वी जान पड़ते थे। श्याम रंग था। चित्त को चुराने वाली भरी जवानी थी। वे शरीर की छँटा और मधुर मुसकान से स्त्रियों को सदा ही मनोहर जान पड़ते थे। यद्यपि उन्होंने अपने तेज को छिपा रक्खा था, फिर भी उनके लक्षण जानने वाले मुनियों ने उन्हें पहचान लिया और वे सबके-सब अपने-अपने आसन छोड़कर उनके सम्मान के लिये उठ खड़े हुए। राजा पराक्षित् ने अतिथि रूप से पधारे हुए श्रीशुकदेव जी को सिर झुकाकर प्रणाम किया और उनकी पूजा की। उनके स्वरूप को न जाननेवाले बच्चे और स्त्रियाँ उनकी महिमा देखकर वहाँ से लौट गये, सबके द्वारा सम्मानित होकर श्रीशुकदेव जी श्रेष्ठ आसन पर विराजमान हुए।)

विष्णुरात (राजा परीक्षित्) ने आगत अतिथि भगवान् महामुनीन्द्र शुकदेवजी का सम्मान किया, नमस्कार किया, सपर्या समर्पण किया। सबके द्वारा पूजित-सम्मानित हुए। पराशर, वसिष्ठादि महीयान थे, पर श्रीशुकदेव जी महीयानों में भी महान् जो ठहरे। ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि उन्हें सभी घेरे हुए थे। जैसे चन्द्रमा ग्रह-नक्षत्र तारा मण्डलों में जगमगाता है, राजा इन्द्र देवमण्डल में सुशोभित होते हैं, वैसे ही ऋषि-महर्षियों के मध्य भगवान् शुकदेव जी सुशोभित हुए। उनकी मेधा-आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक किसी भी तत्त्व में कभी भी कुण्ठित नहीं होने वाली थी, वे प्रशान्त विराजमान थे। राजा परीक्षित् ने उनके चरणों में कृताञ्जलि होकर शिर से प्रणाम किया। बड़ी सुन्दर वाणी से उन्होंने पूछा—

स संवृतस्तत्र महान् महीयसां ब्रह्मर्षिराजर्षिदेवर्षिसङ्घैः।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दुर्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः॥
प्रशान्तमासीनमकुण्ठमेधसं मुनिं नृपो भागवतोऽभ्युपेत्य।
प्रणम्य मूर्ध्नावहितः कृताञ्जलिर्नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत्॥

(भागवत १.१९.३०,३१)

(ग्रह, नक्षत्र और तारों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षियों के समूह से आवृत श्रीशुकदेव जी अत्यन्त शोभायमान हुए। वास्तव में वे महात्माओं में भी आदरणीय थे। जब अकुण्ठबुद्धि श्रीशुकदेव जी शान्तभाव से बैठ गये, तब भगवान् के परम भक्त परीक्षत् ने उनके समीप आकर और चरणों पर सिर रखकर प्रणाम किया। फिर खड़े होकर हाथ जोड़कर नमस्कार किया। इसके पश्चात् बड़ी मधुर वाणी से उनसे यह पूछा।)

परीक्षित् ने अपने आपको क्षत्रबन्धु बताया। पूर्ण क्षत्रिय अलग होते हैं। क्षत्रबन्धु एक प्रकार का व्रात्य होता है जैसे ब्रह्मबन्धु। क्षत्रबन्धु एक प्रकार से निन्दा का शब्द है। ब्रह्मबन्धु का अर्थ है—ब्राह्मण जिसके बन्धु हैं, वह स्वयं ब्राह्मण नहीं, ब्राह्मण खानदान (कुल) में पैदा हुआ, परन्तु ब्रह्मतेज नहीं है, तप नहीं है। ऐसे ही क्षत्रबन्धु वह है, जिसका जन्म क्षत्रों में (क्षत्रियकुल में) हुआ है, परन्तु स्वयं क्षत्र नहीं हैं। वैसे तो उन्हें महान् धर्मात्मा, मुख्य सम्राट्, क्षत्रियर्षभ (क्षत्रियों में श्रेष्ठ) ही कहना चाहिए। तो भी परीक्षित् ने नम्रता की दृष्टि से स्वयं को 'क्षत्रबन्धु' कहा।

राजा ने कहा—प्रभो ! हम क्षत्रबन्धु धन्य-धन्य हो गये हैं। आपने हम पर अनुग्रह किया है। अतिथि रूप में आपने हमको तीर्थ बना दिया। जिनके स्मरणमात्र से गृहमेधियों के घर पवित्र हो जाते हैं, फिर क्या कहना उनका दर्शन मिल जाय,

उनका स्पर्श मिल जाय, उनके पादप्रक्षालन का सौभाग्य मिल जाय ! हे महायोगिन् ! आपके सन्निधान मात्र से प्राणियों के महान्-से-महान् पातक सद्यः नष्ट हो जाते हैं ।

वेदान्तशास्त्र कहते हैं—

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूता एव न संशयः ॥

अनुभवपर्यन्त जिसकी बुद्धि तत्त्वार्थगोचरा सम्पन्न हो जाती है, उनके दृष्टिगोचर जितने प्राणिमात्र होते हैं, वे पवित्र हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है ।)

परीक्षित् ने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण हम पर बड़े प्रसन्न हैं। देवी कुन्ती उनकी बुआ थीं, उनके पुत्र पाण्डव इनके परम प्रिय थे । हमारे पितामह अर्जुन के भी भगवान् परम प्रेमी थे । जो असंग हैं, अनन्त हैं ऐसे परात्पर परब्रह्म परमात्मा ही पाण्डवों के नातेदार हो गये । जहाँ इस प्रकार का सम्बन्ध भगवान् से नहीं होता, वहाँ भी सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है । फिर जहाँ स्वतः सम्बन्ध है, वहाँ फिर कहना ही क्या ? अन्यथा हमें इस समय आपका दर्शन कहाँ प्राप्त होता ? श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण चन्द्र की अनुकम्पा से ही आप पधारे हैं । मेरे जीवनधन सर्वेश्वर सर्वान्तरात्मा भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही आपके रूप में विराजमान हो रहे हैं ।

अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः ।
पैतृष्वसेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यातबान्धवः ॥
अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥
(भागवत १.१९.३५, ३६)

अवश्य ही पाण्डवों के सुहृद् भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर अत्यन्त प्रसन्न हैं; उन्होंने अपने फुफेरे भाइयों की प्रसन्नता के लिये उन्हीं के कुल में उत्पन्न हुए मेरे साथ भी अपने पन का व्यवहार किया है । भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा न होती तो आप-सरीखे एकान्त वनवासी अव्यक्तगति परमसिद्ध पुरुष स्वयं पधार कर इस मृत्यु के समय हम जैसे प्राकृत मनुष्यों को क्यों दर्शन देते ।)

भगवन् ! अब तो सात ही दिन जीवन के शेष हैं । ऐसी म्रियमाणावस्था में हम क्या जप करें, क्या तप करें, क्या अनुसन्धान करें, क्या ध्यान करें, किसका स्मरण करें, किसका भजन करें, आप कृपाकर बतलाइये ? आप तो गृहमेधियों के घर कभी चले जाते हैं भिक्षा के लिए तो गोदोहनकाल (सामान्य गाय जितने समय में दुही जाती है उतने क्षण) तक नारायण कहकर प्रतीक्षा करते हैं । गोदोहनमात्र समय में भिक्षा मिल गयी तब तो ठीक नहीं तो आगे चले ।

अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुम् ।
पुरुषस्येह यत्कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा ॥
यच्छ्रोतव्यमथो जप्यं यत्कर्तव्यं नृभिः प्रभो ।
स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम् ॥
नूनं भगवतो ब्रह्मन् गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
न लक्ष्यते ह्यवस्थानमपि गोदोहनं क्वचित् ॥
(भागवत १.१९.३७-३९)

'भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च' :—

'भिक्ष' धातु का भिक्षा अर्थ है। भिक्षा वही है जिसके लाभ में अधिक सन्तोष नहीं और न अलाभ में कष्ट। इसलिये भिक्षाचर्या एक विधान है। आज तो कोई कह रहा था 'कानून बन गया है कि भिक्षा माँगना गैर कानूनी है। भिक्षा माँगने वाले कई जेल में (भिक्षु सुधार केन्द्र) में साल-साल भर के लिए बन्द कर दिये गये।' ये अधिकारी शास्त्रानभिज्ञ लोग हैं। हमारी सभ्यता में तो ब्रह्मचारी और संन्यासी, ये दोनों भिक्षा के ही अधिकारी हैं। लिखा है—

भिक्षाहारो निराहारो भिक्षा नैव प्रतिग्रहः ।
सदन्नं वा कदन्नं वा सोमपानं दिने दिने ॥

भिक्षाहार करना निराहार रहना है। निराहार रहने में जो पुण्य होता है वह भिक्षाहार से होता है। सदन्न हो चाहे कदन्न सोमपान के तुल्य है। अलग से खरीदकर खायें तो विचार करना पड़ेगा कौन सदन्न है, कौन कदन्न है? भिक्षा में जो मिल गया उसे माँगने पर, याज्ञिक को ज्योतिष्टोम में सोमपान करने का जो महान् पुण्य होता है, वही भिक्षाहारी को भिक्षाहार का महान् पुण्य होता है।

सूत जी कहते हैं—इस प्रकार से महाराज परीक्षित् राजा ने शुकदेव जी महाराज से कहा।

श्रीशुकदेव जी महाराज बोले—

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितो नृप ।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥
श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः ।
अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम् ॥
निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः ।
दिवा चार्थेहया राजन् कुटुम्बभरणेन वा ॥

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥
(भागवत २.१.१-४)

(राजन ! तुम्हारा लोकहितार्थ किया हुआ यह प्रश्न बहुत ही उत्तम है। मनुष्यों के लिये जितनी भी सुनने, स्मरण करने या कीर्तन करने की है, उन सबमें यह श्रेष्ठ है। आत्मज्ञानी महापुरुष, ऐसे प्रश्न का बड़ा आदर करते हैं। राजेन्द्र ! जो गृहस्थ गृहकार्यों में ही रमे हुए हैं, अपने स्वरूप को नहीं जानते, उनके लिए हजारों बातें कहने, सुनने और सोचने करने की रहती हैं। उनकी सारी आयु यों ही बीत जाती है। उनकी रात नींद या स्त्री प्रसंग से कटती है और दिन धन की हाय-हाय या कुटुम्बियों के भरण-पोषण में समाप्त हो जाता है। संसार में जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं; परन्तु जीव उनके मोह में ऐसा पागल-सा हो जाता है कि रात-दिन उनको मृत्यु का ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं।)

जैसे भगवान् के मंगलमय पादारविन्द का प्रक्षालन गंगाजल मर्त्यलोक, स्वर्गलोक, पाताल—तीनों लोकों को पवित्र करता है, उसी प्रकार वासुदेवकथाप्रश्न श्रोता, वक्ता और प्रश्न कर्ता को पवित्र करता है। यह आपका प्रश्न आत्मवेत्ताओं को सम्मत है वे भी ऐसे प्रश्नों को महत्त्व देते हैं। आपका प्रश्न श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्यों में परम श्रेष्ठ है। केवल आपके कल्याण के लिये ही नहीं, अपितु लोक कल्याण के लिये है।

राजन् ! संसार में अनन्त (अपरिगणित) वस्तुएँ श्रोतव्य हैं, अपरिगणित वस्तुएँ प्रष्टव्य हैं और अपरिगणित वस्तुएँ मन्तव्य हैं। पर सब किसके लिये ? बस उन्हीं के लिये जो ब्रह्मात्मतत्त्व को नहीं समझते। विषयी प्राणियों का जीवन निरर्थक व्यतीत होता है। रात्रिभर नींद में उनका जीवन बीत जाता है, दिनभर धन कमाने के झंझट में और कुल-कुटुम्ब के भरण-पोषण में बीत जाता है। प्रमत्त प्राणी देखता हुआ भी नहीं देखता। पिता, पितामह, प्रपितामह गये, हजार पीढ़ी, लाख पीढ़ी के पुरखा (पूर्वज) गये, देखते-देखते सभी जा रहे हैं, पर शेष कहते हैं—'हम तो यहीं रहेंगे। फलाने (अमुक) गये तो गये, हम तो यहीं रहेंगे।'

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥
(भागवत २.१.५)

(इसलिये भारत ! जो अभय पद को प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण की ही लीलाओं का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये।)

हे भारत! भगवद्विषयिणी प्रज्ञा में तुम्हारा रमण होता है, तुम भारत हो। सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का ही स्मरण करना चाहिये, उन्हीं का कीर्तन करना चाहिये। किसको? जो अभयपद चाहता हो उसको, जो इस प्रपञ्च से छुटकारा पाना चाहता हो उसको, दीनता-दरिद्रता परतन्त्रता से छुटकारा पाना चाहता हो उसको, आधि-व्याधि, शोक-सन्ताप से छुटकारा पाना हो उसको। 'बाँधे कनियाँ कहीं बजार लगती है'।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥
(म० भा० ३।३१३।१६)

(संसार से दिन-प्रतिदिन प्राणी यमलोक में जा रहे हैं; किन्तु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहने की इच्छा करते हैं; इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा?)

जिनको हजार बार गर्ज हो, जननमरणाविच्छेदलक्षणा संसृति से छुटकारा पाना हो तो एकमात्र उपाय है, दूसरा कुछ नहीं, भगवान् श्यामसुन्दर परात्पर परब्रह्म सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्णचन्द्र का श्रवण करो, उन्हीं का स्मरण करो। स्वधर्मानुष्ठान का यही फल है। यज्ञ किया, दान किया, तप किया, व्रत किया, उन्हें भगवत्पाद पङ्कज में समर्पण किया — सबका परम फल यही है कि भगवान् के चरण-कमलों में मन लग जाय, भगवत्स्मरण और कीर्तन में मन लग जाय।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामतो नारायणस्मृतिः॥
(भागवत २.१.६)

(मनुष्य जन्म का यही इतना ही लाभ है कि चाहे जैसे हो—ज्ञान से, भक्ति से अथवा अपने धर्म की निष्ठा से जीवन को ऐसा बना लिया जाय कि मृत्यु के समय भगवान् की स्मृति अवश्य बनी रहे।)

सांख्यशास्त्र द्वारा तत्त्व का विश्लेषण होता है। प्रकृति और पुरुष तत्त्व का विश्लेषण होता है। देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि अहंकार क्या हैं, अहंतत्त्व-महत्तत्त्व अव्यक्त क्या हैं? पञ्च तन्मात्राएँ क्या हैं? इनसे अलग अजर-अमर अखण्ड आत्मा (पुरुष) कौन है? इसी तरह प्रकृति-विकृति से विश्लिष्ट परमतत्त्व पुरुष में मन की एकाग्रता योग है। सांख्य-योग का भी इतना ही लक्ष्य है कि उस तत्त्व के श्रवण, मनन में बुद्धि रम जाय। मानव जीवन प्राप्त करने का परम लाभ यही है कि अन्त में नारायण की स्मृति हो।

श्रीशुकदेव जी महाराज कह रहे हैं, वैसे यह भी कहा गया है कि गुण ग्रहण करने वाले विद्वान् वक्तृविशेषनिःस्पृह होते हैं। कौन कह रहा है, इस पर ध्यान नहीं देते। वह क्या कह रहा है, इस पर ध्यान देते हैं।

"ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्यावचने विपश्चितः।"

(किरातार्जुनीयम् २।५)

लौकिक विषयों में यद्यपि प्रायः 'वक्तृविशेष निस्पृहता' होती है, **'बालादपि** सुभाषितं ग्राह्यम्', सुभाषित यदि बालक भी बोल रहा हो, गँवार भी बोल रहा हो तो ग्रहण करना चाहिए' यही नीति काम करती है, परन्तु वेदान्त में वक्तृविशेषस्पृहा होनी चाहिये। कौन बोलता है ? कोई श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ बोल रहा है ? इसलिये—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मुण्डकोपनिषद् १.१२)

(कर्म द्वारा प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण निर्वेद-वैराग्य को प्राप्त हो जाय, क्योंकि संसार अकृत-नित्य पदार्थ नहीं है और कृत से हमें क्या प्रयोजन है ? अतः उस नित्य-वस्तु का साक्षात्-ज्ञान प्राप्त करने के लिये तो हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ही जाना चाहिये।)

'आचार्यवान् पुरुषो वेद'

(छान्दोग्योपनिषद् ६.१४.२)

स्वयमाचरते यस्मादाचारे स्थापयत्यपि।
आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन चोच्यते॥

(लिङ्गपुराण अ० १० श्लोक० १६)

अर्थात् जो शास्त्रों का संकलन करके वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन करके उसका शास्त्रार्थसार संगृहीत करे और अन्यों में भी व्यवस्थापन कर, स्वयं भी वैसा ही आचरण करे, उसे आचार्य कहते हैं।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥

(कठोपनिषद् १.२.७-८)

(जो बहुतों को सुनने के लिये भी प्राप्त होने योग्य नहीं है, जिसे बहुत से सुनकर भी नहीं समझते, उस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला भी आश्चर्य रूप है, उसको प्राप्त करने वाला भी कोई कुशल होता है तथा कुशल आचार्य द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्य रूप है। अवर वक्ता के द्वारा उपदेश किये जाने पर भी यह आत्मा अच्छी तरह नहीं जाना जा सकता। ब्रह्मात्म-तत्त्व के विज्ञान से सम्पन्न ब्रह्मात्मस्वरूप आचार्य द्वारा उपदेश किये हुए इस आत्मा के सम्बन्ध में फिर अनवबोध नहीं रह जाता। इसका वक्ता आश्चर्यमय और शिष्ट-अनुशिष्ट शिष्य भी आश्चर्यमय है।

परम योगीन्द्र ब्रह्मविद्वरिष्ठ ज्ञानी भगवद्भावापन्न साक्षात् महात्मा शुकदेव जी महाराज कह रहे हैं—**'अन्ते नारायण स्मृतिः'** (भागवत २.१.६) अन्त में नारायण की स्मृति हो!

अरे! चाहिये तो जीवन भर ही, परन्तु नहीं तो कम-से-कम अन्त में भगवान् की स्मृति तो हो!

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥
(भागवत २.१.७)

अर्थात् निर्गुण-निराकार परब्रह्म में परिनिष्ठित बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र जो कि विधि-निषेधपारंगत (ऊपर उठे हुए) हैं, वे भी भगवान् के गुणानुकथन में रमण करते हैं। राजन्! तुम स्वयं मुझे देखो।

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥
तदहं तेऽभिधास्यामि महापौरुषिको भवान्।
यस्य श्रद्दधतामाशु स्यान्मुकुन्दे मतिः सती॥
एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥
(भागवत २.१.८-११)

अर्थात् यह भागवत नामक पुराण है जो हम तुम्हें कहेंगे। यह ब्रह्म संहिता है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ वेद है। **'ब्रह्माक्षर समुद्भवम्'** (भगवद्गीता ३.१५) ऐसे स्थलों में ब्रह्म का अर्थ वेद होता है। श्रीमद्भागवत वेदों का भी सार है। **'निगम-कल्पतरोर्गलितं फलम्'** (भागवत १.१.३) कह ही चुके हैं। द्वापर के अन्त में हमने

अपने पिता श्री द्वैपायन से इसे पढ़ा। निराकार-निर्विकार अद्वैत अनन्त अखण्ड परात्पर परब्रह्म में हमारी पूर्ण निष्ठा प्रतिष्ठा थी। उत्तम है श्लोक - यश (कीर्ति) जिनकी ऐसे जो परात्पर परब्रह्म श्रीकृष्ण उनकी जो दिव्य लीलाएँ हैं, उन लीलाओं के द्वारा हमारा मन आकृष्ट हो गया। तब हमने इस आख्यान का अध्ययन किया। अब वही श्रीमद्भागवत हम आपको सुनायेंगे। इसके द्वारा मुकुन्द भगवान् श्रीकृष्ण में अवश्य ही दृढ़ निष्ठा होती है। यदि अकुतोभय (कहीं भय न हो संसार में) चाहिये तो योगवेत्ताओं का यही निर्णय है कि अन्त में भगवन्नाम-संकीर्तन, भगवच्चरित-संकीर्तन, भगवद्‌गुणगण-संकीर्तन हो सके।

(६) अप्रमत्त के लिये अति सुगम भगवत्प्राप्ति :—

शुकदेश जी कहते हैं—राजन् ! यह मत समझो कि तुम्हारे केवल सात दिन ही हैं, सात दिनों में क्या होगा ? प्रमत्त प्राणी के लिये हजारों दिन शेष रहें तो भी कोई फायदा नहीं—

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह ।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः ॥
(भागवत २,१,१२)

(अपने कल्याणसाधन की ओर से असावधान रहने वाले पुरुषों को लम्बी आयु भी अनजान में व्यर्थ बीत जाती है। उससे क्या लाभ ? सावधानी से ज्ञानपूर्वक बितायी हुई घड़ी-दो-घड़ी भी श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके द्वारा अपने कल्याण की चेष्टा तो की जा सकती है।)

जो सावधान प्राणी होता है वह श्रेय के लिये प्रयत्नशील होता है। एक मुहूर्त का जीवन भी उसके कल्याण के लिये पर्याप्त होता है। राजर्षि खट्‌वाङ्ग ने तो एक मुहूर्त की शेष आयु में ही भगवत्पद प्राप्त कर लिया। फूल के तोड़ने में देरी हो सकती है, भगवत्पद-प्राप्ति में देरी नहीं हो सकती। रकाब पर पाँव रखकर घोड़े पर चढ़ जाने में जितना विलम्ब हो सकता है, उससे भी और जल्दी (कम समय में) भगवत्पद प्राप्ति हो सकती है। भक्तराज प्रह्लाद ने कहा है—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥
(भागवत ७.७.३८)

(असुरकुमारों ! अपने हृदय में ही आकाश के समान नित्य विराजमान भगवान् का भजन करने में कौन-सा विशेष परिश्रम है ? वे समान रूप से समस्त प्राणियों के अत्यन्त प्रेमी मित्र हैं, अपने आत्मा ही हैं। उनको छोड़कर विषयों के अर्जन में रमे रहना कितनी मूर्खता है ?)

चकोर चद्रमा को पाने के लिये बहुत प्रयास करता है, पर चन्द्रमा बहुत दूर है, कहाँ पहुँच पाता है ? चन्द्रमा की गति विधि चकोर को पूरी मालूम नहीं होती है, चन्द्रमा को भी चकोर की गतिविधि का पता नहीं होता। चन्द्रमा चकोर को नहीं पहचानता और चकोर चन्द्रमा को नहीं पहचानता। चकोर तो रोज चन्द्रमा को देखता है, पर चन्द्रमा को कहाँ मालूम कि क्या चकोर होता है ?

दो भावनाएँ हैं—(१) प्रेमी चाहता है कि हम जिससे प्रेम करें वह सुलभ हो। बहुत ऊँची चीज हो, पर दुर्लभ हो तो क्या काम ? ज्वर दूर करने के लिये किसी ने कहा—'भाई ! तक्षक नाग की मणि लाओ तब तुम्हारा ज्वर दूर होगा।' तो कहाँ तक्षक नाग की मणि मिलेगी ? अत्यन्त दुर्लभ में प्रीति सध नहीं पाती। चन्द्रमा चकोर से बहुत दूर है, उसके लिये दुर्लभ है।

(२) प्रेमी चाहता है कि हमारे प्रेम को प्रेमास्पद (किसमें हम प्रीति करते हैं वह) जान सकता हो। चन्द्रमा चकोर के प्रेम को कहाँ जानता है ?

इस तरह प्रेमी के लिये प्रियतम दुर्लभ न हो और प्रियतम से उसका प्रेम ओझल न हो। अर्थात् प्रेमास्पद में दुर्लभता और अनभिज्ञता न हो। प्रेम करने में यही दो समस्याएँ आती हैं कि जिससे हम प्रेम करना चाहते हैं वह यदि दुर्लभ हुआ और हमारे प्रेम को जानने में सर्वथा असमर्थ हुआ तो हमारा प्रेम सर्वतोभावेन एकाङ्गी हो जाता है। भगवान् की प्राप्ति में ये दोनों ही समस्याएँ नहीं हैं। चन्द्रमा तो लाखों मील दूर है, पर भगवान् तो आकाश से भी अन्तरङ्ग हैं, अन्तःकरण में अवस्थित हैं और सर्वज्ञ शिरोमणि-सर्वान्तर्यामी हैं। चन्द्रमा को तो मालूम नहीं कि चकोर का क्या हाल है, कौन-कौन उसे चाहता है; पर जीव के मन में भगवत्प्राप्ति की इच्छा हो और वह उसे जाने उससे पहले ही भगवान् उसकी इच्छा को जानते[५५] हैं। इसलिये सर्वज्ञ शिरोमणि सर्वत्र विराजमान उन परमात्मा-परमेश्वर को पाने के लिये कहाँ कठिनाई ?

शुकदेव जी कहते हैं—राजन् ! इसप्रकार भगवान् सर्वेश्वर, सर्वान्तरात्मा, सर्वद्रष्टा और सर्वसाक्षी हैं। राजा खट्वाङ्ग सर्वस्व त्याग करके अभय पद उन प्रभु को प्राप्त हो गये। तुम्हारे तो अभी सात दिन बाकी हैं, तैयारी करो।

(७) नाम-धाम-प्राणायाम और ध्यान से भगवत्प्राप्ति :—

जब प्राणी का अन्तकाल आए, भयभीत न हो। 'हाय मरे ! माता-पिता कोई मेरी रक्षा तो करो ! हाय तुमसे भी मेरी रक्षा करते नहीं बनती। भाई-बन्धु

---

५५. भगवान् उर प्रेरक और संस्कारों के भी प्रकाशक जो ठहरे।

कोई भी तो मेरी रक्षा नहीं कर पाते' इसप्रकार घबड़ाये नहीं। जननी, जनक, बन्धु, सुत, दारा, तन, धन, भवन, सुहृत् परिवार—इन दसों से ममता हटाले, श्री प्रभु के श्रीचरण-कमलों में ही रमा दे। संसार से बिलकुल असङ्ग हो जाय। ममता-रूपी ग्रन्थि सचमुच में बहुत जबरदस्त है, परन्तु जो इसे छोड़ने का और भगवान् के चरणों में मन रमाने का प्रयास करता है, भगवान् का वह बहुत प्यारा हो जाता है। भगवान् उसके हृदय में तो बसते ही हैं, उसे स्वयं भी अपने हृदय में बसा लेते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु धाम सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध परि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष शोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउ देह नहिं आन निहोरें॥

(रामचरित मानस ५.४७.५-९)

इन्दुमती के वियोग में राजा अज बड़ा सन्तप्त हो रहा था। तब वसिष्ठ जी ने उसे यह संदेश-उपदेश दिया—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम्॥
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद् वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्॥

(रघुवंश महाकाव्य ८.८७-८९)

(मरण प्राणियों का स्वभाव ही है। जीवन तो यादृच्छिक है। व्यक्ति का जीवित रहना ही एक तरह का आश्चर्य है। क्षणभर भी स्वाँस लेना जीवित रहना लाभ है। ऐसी स्थिति में किसी के मर जाने पर शोक तो व्यर्थ ही है। प्रिय के नष्ट हो जाने पर दुःखी होना मूढ़ता है। प्रियनाश को विवेकी कुशल का द्वार ही समझते हैं। वे उसे मोक्ष का साधन ही बना लेते हैं। अपना शरीर, अपना शरीरी इनका भी वियोग होता है। शरीर और शरीरी का अन्तरंग सम्बन्ध है। शरीर के पीछे सभी स्त्री, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, धन-धान्य ये सब हैं। इनका भी संयोग और विपर्यय (वियोग) होता है। परन्तु क्या विपश्चित् पुरुषों को इनका वियोग व्यथित-विचलित कर सकता है? कदापि नहीं।)

राजन्! मुमुक्षु को क्षणभर में सारे संसार से स्पृहा को हटा लेनी चाहिये। असंग शस्त्र से स्पृहा को छिन्न-भिन्न करके गृहान्धकूप से चल देना चाहिये। घर में

रहकर घरवालों से कुछ तो ममता होती ही है। अतः प्रव्राजी होकर के (विरक्त होकर के) गंगा-यमुना के तट पर जाकर के (पुण्यतीर्थ में जाकर) दिव्य जल में स्नान करके, एकान्त में पवित्र स्थान में कुशा के ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र रखकर ऐसे आसन पर शान्त होकर बैठ जाना चाहिये। फिर ब्रह्माक्षर का अभ्यास-चिन्तन करना चाहिये। ब्रह्माक्षर प्रणव को कहते हैं। उसमें अ, उ और म ये तीन आवर्तन हैं।

'प्रणव' यहाँ श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि नाम (मन्त्र) का उपलक्षण है। आम तौर पर प्रणव का अधिकार सबको नहीं होता। जिसे प्रणव की दीक्षा प्राप्त हो, वही इसको जप सकता है। किसी आचार्य परम्परा से इसकी दीक्षा होनी चाहिये। प्रणव की दीक्षा संन्यासी को होती है, सबको नहीं होती। यह भी ध्यान रहे कि अन्यों को पञ्चाक्षर, षडक्षर, द्वादशाक्षर, अष्टाक्षर, अष्टादशाक्षर मंत्र के साथ प्रणव की दीक्षा हो तो ठीक है, वह भी उपनीत की। उपनयन भी उसी का जो अनादि अविच्छिन्न परम्परा से उपनयनाधिकारसम्पन्न हो। इतर लोगों के लिये राम, कृष्ण आदि नाम का जप विहित है। जो चमत्कार प्रणव का है, वही-का-वही चमत्कार राम नाम का भी है। वही-का-वही चमत्कार कृष्ण का नाम है।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

श्रीकृष्ण तत्त्व में श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों आ जाते हैं। 'कृष्' भू वाचक-सत्ता, महासत्ता रूप है। जिसके बिना सब असत् है। उसी स्वप्रकाश सत् से सबकी सत्ता है। वही कृष्ण हैं। इसमें 'ण' कार निर्वृति या आनन्द और आनन्द की अन्तरात्मा आह्लाद दोनों एक तत्त्व हैं, भिन्न नहीं।

जो राम नाम है, कृष्ण नाम है; वह साक्षात् प्रणव ही है। बल्कि प्रणव से भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसमें तो अधिकारानधिकार का कोई प्रश्न ही नहीं। **'सुरसरि सम सबकर हित होई'** (रामचरितमानस १.१३.९) आओ परमहंस परिव्राजकाचार्य नहा लो, आओ महामहोपाध्याय नहा लो, आओ हमारे मुस्लिम-बन्धु आकर स्नान कर लो, ईसाई बन्धु भी आकर नहा लो। सबको गङ्गा पवित्र करती है।

यह भारत का गुण है कि यह सबकी मुक्ति मानता है। वाराणसी में माना जाता है कि मुसलमान मर जाय, ईसाई मर जाय—उसे भी मुक्ति[५६] मिलती है। इसी प्रकार से भिन्न-भिन्न पुरियाँ हैं, उन सबकी (सप्त पुरियों की) यही महिमा है—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती ज्ञेयाः सप्तैता मोक्षदायिकाः॥
(गरुड महापुराण उत्तर २८.३)

मथुरा की महिमा इस प्रकार है—

काश्यादयो यद्यपि सन्ति पुर्यस्तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या।
यज्जन्ममौञ्जीव्रतमृत्युदाहैर्नृणां चतुर्द्धा विदधाति मुक्तिम्॥
(श्रीपाद्मे पंचमे पाताल खण्डे मथुरामाहात्म्ये २८.३)

काशी आदि पुरियाँ यदि हैं तो उन सबमें मथुरा ही धन्य है। मथुरा में जन्म होने से भी मुक्ति हो जाय, संस्कार-मौञ्जी बन्धन हो जाय तो भी मुक्ति हो जाय, मृत्यु हो जाय तो भी मुक्ति हो जाय, दाह हो जाय हो भी मुक्ति हो जाय। सब धामों की बड़ी महिमा है।

इस तरह नाम और धाम की महिमा से सबकी मुक्ति मान्य है। अपने अधिकारानुसार भगवान् के किसी नाम का जप करना चाहिये, लेकिन निर्बीज-प्राणायाम नहीं, सबीज-प्राणायाम। मन्त्र का अनुसंन्धान करते हुए जो प्राणायाम किया जाता है, उसे सबीज-प्राणायाम कहते हैं। पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायामों की लगाम के द्वारा मन को वैसे ही अवरुद्ध किया जाता है, जैसे भागते हुए घोड़े को लगाम पकड़ कर खींच लिया जाता है। कई ढंग का प्राणायाम है। कई लोग केवली कुम्भक[५७] करते हैं। उसमें रेचक, पूरक की गौणता होती है। इसके द्वारा प्राणों को

---

५६. काशी मरत जन्तु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥
(रामचरितमानस १.११८.१)
जो गति अगम महामुनि दुर्लभ, कहत संत श्रुति सकल पुरान।
सो गति मरन-काल अपने पुर, देत सदासिव सबहि समान॥
(विनय पत्रिका ३)

५७. यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्॥
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल कुंभकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरविवर्जिते॥

जहाँ-का-तहाँ रोका जा सकता है। छोटे-छोटे प्राणायाम आधा-आधा मिनट के पौन-पौन मिनट के, एक-एक मिनट के होते हैं। चञ्चल मन को रोकने के लिये प्राणायाम लगाम है।

तुलसीदास जी महाराज ने लिखा है—नारद जी ने भगवान् श्रीहरि का स्मरण करते हुए श्वांस की गति बाँध दी। उनका मन विमल हुआ और सहज समाधि लग गयी।

हिमगिरि गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥
निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा॥
सुमिरत हरिहि श्वास गति बाँधी। सहज विमल चित लागि समाधी॥

(रामचरितमानस २.१२४.१-४)

श्वाँस की जो उच्छृङ्खल चाल (चलन) है, उसे छोटे-छोटे प्राणायामों के द्वारा नियन्त्रित करके ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

प्रणव या प्रणवात्मक भगवन्नाम के सहित प्राणायाम करके, नाम के एक-एक अवयव (अक्षर) का साथ ही उसके अर्थ भूत भगवान् सर्वेश्वर परमात्मा श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्द के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। वं=उ+अ+म्; रं=र+अ+म् सबमें प्रणव ही है। भगवान् के पादारविन्द का चिन्तन, उनके हस्तारविन्द का, उनके वक्षःस्थल का और मुखारविन्द का चिन्तन करना चाहिये। ये सब अखण्ड, अनन्त, परात्पर परब्रह्म रूप ही हैं। चिन्तन के द्वारा मन को एकाग्र करना चाहिये, फिर किसी का स्मरण न करे। मन जहाँ जाकर प्रसन्न हो जाय, निर्विकल्प होने की स्थिति में होकर निर्विकल्प हो जाय, वही परम फल है। रजोगुण से आक्षिप्त मन विमूढ़ रहता है। उसे एक देश में स्थिर करने का अभ्यास 'धारण' है। इस तरह संसार से मन को हटाकर भगवान् के स्वरूप में उसे लगा लेना चाहिये।

न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शक्तः केवल कुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात॥
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः।
कुंभकात्कुडलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत्॥
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते।
हठं विना राजयोगः राजयोगं विना हठः॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्।
कुंभकं प्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम्॥
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत्॥

(हठयोग प्रदीपिका २.७२-७७)

इस तरह बाह्य विषयों से इन्द्रियों को बुद्धि पूर्वक हटाकर और श्रीहरि के मंगलमय एक-एक श्री अङ्ग का ध्यान करना चाहिये। ऐसा करते-करते मन जब निर्विषय होने लगे तब कुछ भी चिन्तन न करे—

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्।
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति॥

(भागवत २.१.१९)

(स्थिर चित्त से भगवान् के श्रीविग्रह के किसी एक अङ्ग का धान करे। इस प्रकार एक-एक अङ्ग का ध्यान करते-करते विषयवासना से रहित मन को पूर्ण रूप से भगवान् में ऐसा तल्लीन कर दे कि फिर और चिन्तन ही न करे। वही भगवान् विष्ण का परमपद है, जिसे प्राप्त करके मन भगवत्प्रेम रूप आनन्द से भर जाता है।)

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये अष्टाङ्ग योग हैं। प्राणायाम के बाद प्रत्याहार, फिर धारणा, फिर ध्यान और समाधि यही क्रम है—

यम नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥

(योग दर्शन २.२९)

१. अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ (योग दर्शद २.३०)

२. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग दर्शन २.३२)

३. स्थिरसुखमासनम्॥ (२.४६)

४. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ (२.४९)

५. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (२.५४)

६. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ (३.१)

७. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (३.२)

८. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (३.३)

१. (**'देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः॥'** त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् २८ के अनुसार देह और इन्द्रियों से वैराग्य 'यम' है। योग दर्शन के अनुसार यम पाँच हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।)

२. (**'अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः'** त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् २९ के अनुसार परमात्मतत्त्व में अनुरक्ति 'नियम' है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और

ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। नियम की उक्त परिभाषा ईश्वर-प्रणिधान परक है।)

३. निश्चल सुख पूर्वक बैठने का नाम 'आसन' है।

४. उस आसन की सिद्धि के बाद श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद 'प्राणायाम' है।

५. अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर, इन्द्रियों का जो चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना है, वह 'प्रत्याहार' है।

६. किसी एक देश में चित्त को ठहराना, 'धारणा' है।

७. उसी में वृत्ति का एकतार चलना 'ध्यान' है।

८. जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब वही 'समाधि' हो जाती है।

थोड़ी बात कह दें इस पर। देवहूति के लिये महाराज कपिलदेव जी ने परम-तत्त्व का उपदेश किया। परम-तत्त्व क्या है, वही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरोयोप० २.१.१) अत्यन्ताबाध्य-अखण्ड-अनन्त-स्वप्रकाश बोध ही परम तत्त्व है।

सत्—

दृश्य प्रपञ्चातीत है, देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकारादि से अतीत, पञ्चतन्मात्रा, अहं तत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्त से भी अतीत अर्थात् प्रकृति-विकृति और सम्पूर्ण प्रपञ्च से सर्वतोभावेन रहित अजर-अमर-अनन्त-अखण्ड बोधात्मा ही सत् है। यह सब कह देने में सरल है, परन्तु बुद्धि में बैठ जाय—बुद्धि में आये, पर नहीं आता।

चित्—

'चित्' माने अवेद्य होकर अपरोक्ष। जो अदृश्य हो, वेदन का गोचर न हो और अपरोक्ष व्यवहार योग्य हो, वह अखण्ड बोध है।

आनन्द—

वही सच्चित् अवेद्य और अपरोक्ष होते हुए सुखस्वरूप भी हो।

सच्चिदानन्द—

जो अनन्त आनन्द है, वही अनन्त बोध और वही अनन्त सत्ता[५८] है।

---

५८. सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मानन्तं ब्रह्मेति। (तैत्तिरीयोप० शाङ्करभाष्य २।१)
सत्—अबाध्य होते हुए अपरोक्ष।
चित्—अवेद्य होते हुए अपरोक्ष।
आनन्द—अभोग्य होते हुए अपरोक्ष।
अनन्त—सर्वाधिष्ठान होते हुए अपरोक्ष।

पर अनन्त सच्चिदानन्द के जानने में गड़बड़ी यह होती है कि इनके साथ विशेषण जुड़े हुए होते हैं।

यद्यपि निर्विशेष सत् ब्रह्म है, लेकिन हर-एक सत्ता के साथ विशेषण जुड़ा होता है, इसी कारण विशेषता मालूम होती है। 'घट की सत्ता, पट की सत्ता, प्रपञ्च की सत्ता'। केवल सत्ता का उपलम्भ कहाँ? **'सन् पटः, सन् घटः, सन्त्यापः'** ऐसा तो सभी समझ लेते हैं। जैसे **'मृद् घटः, मृत्-शरावः, मृदुदञ्चनः'** में मिट्टी है; कटक, मुकुट, कुण्डल में सुवर्ण है, ऐसे ही सारे विश्व-प्रपञ्च में सत्ता है—घट की सत्ता, प्रपञ्च की सत्ता। वस्तुतः जो केवल सद्रूप है, वही पर ब्रह्म है।

इसी प्रकार निर्विशेष ज्ञान का भी उपलम्भ (उपलब्धि) कहाँ होता है? **'घट ज्ञानं, पट ज्ञानं, रूप ज्ञानं, रस ज्ञानं'** इन सबमें विशेषण जुड़ा हुआ है। इन विशेषणों में छिपा हुआ अखण्ड[५९] बोध—जो केवल अखण्ड-बोध है वही परब्रह्म है।

यद्यपि विचारों से ही क्षणिक मन की एकाग्रता होती है, उससे निर्विशेष सत्, निर्विशेष बोध समझ में आ जाता है, परन्तु भगवान् कपिलदेव जी ने माता देवहूति को सगुण-साकार सच्चिदानन्दघन का ध्यान बताया[६०]।

---

५९. इसी प्रकार वैषयिक आनन्द भी विविध विशेषणों से जुड़ा होता है। पञ्च विषयों को लेकर—नव रस, षट् रस को लेकर आनन्द भी सविशेष ही उपलब्ध होता है। शब्द-सुख, स्पर्श-सुख, रूप-सुख, रस-सुख, गन्ध सुख—यह सविशेष सुख ही तो है।

इसी प्रकार देश-काल और वस्तु से समावृत होने के कारण अनन्त भी परिच्छिन्न ही प्रतीत होता है। अनन्त देश, अनन्त काल और अनन्त वस्तुओं के कारण 'अनन्त' छिपा हुआ है।

वस्तुतः नित्य होने के कारण काल की दृष्टि से आत्मा अनन्त है। व्यापक होने के कारण देश की दृष्टि से आत्मा अनन्त है। सर्व होने के कारण वस्तु की दृष्टि से आत्मा अनन्त है।

पञ्चभूतों और पञ्चविषयों में अनुगत सत्ता, चित्ता और प्रियता पर विचार करें तो आत्मा निर्विशेष सच्चिदानन्द स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है।

६०. अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम्।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः॥
(पञ्चदशी ९।१३३)

(अव्याकुल बुद्धिवाले उनलोगों के लिये, जिनका आत्मा केवल मोह के आवरण में छिप रहा है, सांख्य नाम का तत्त्व विचार ही मुख्य उपाय है, उनको वही झटपट ज्ञान रूप सिद्धि देता है।)

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल—
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥
(भागवत ३.२८.२१)

(श्रीभगवान् के चरण-कमलों का ध्यान करना चाहिये। वे वज्र, अङ्कुश, ध्वज और कमल के मंगलमय चिह्नों से युक्त हैं तथा अपने उभरे हुए लाल-लाल शोभामय नख चन्द्रमण्डल की चन्द्रिका से ध्यान करने वाले के हृदय के अज्ञान रूप घोर अन्धकार को दूर कर देते हैं।)

भगवान् कपिलदेव जी ने श्रीहरि के पादारविन्द का ध्यान, मुखारविन्द का ध्यान, हस्तारविन्द का ध्यान बताया। दिव्य वसन-भूषण-अलङ्कारों का वर्णन किया। चक्र, शङ्ख, गदा का वर्णन किया। साङ्गोपाङ्ग भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया।

यास्क का निरुक्त कहता है—

माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ॥
(निरुक्त दैवतकाण्ड अ० ७, खं २,८)

देवता महाभाग्यवान् होता है। उसका आत्मा ही रथ है। आत्मा ही उसका अस्त्र-शस्त्र और अलङ्कार होता है। आपने ध्यान दिया होगा, कहीं पढ़ा होगा, अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मा श्रीमन्नारायण परब्रह्म विष्णु भगवान् का प्रादुर्भाव होता है तो वहाँ मूर्तिमान् होकर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्ममहापार्षद के रूप में विराजते हैं। जैसे जय-विजय आदि पार्षद हैं, वैसे ही शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म महापार्षद के रूप में विराजमान होते हैं। ऐसे ही जहाँ भगवान् शङ्कर के आविर्भाव का वर्णन है, वहाँ सूर्य को उनका मूर्तिमान् पार्षद कहा गया है। क्योंकि आत्मा ही महाभाग्य देवता का भूषण, वसन, अलङ्कार और अस्त्र-शस्त्रादि होता है, इसलिये ये सब जड़ नहीं आत्मरूप ही होते हैं। 'अस्त्र-शस्त्रादि, भूषण-वसन-अलङ्कारादि जड़ हैं' ऐसा नहीं। भगवान् के भूषणादि सब स्वयं भगवान्

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥
(पञ्चदशी ९।१३२)

अत्यन्त व्याकुल चित्तवालों को विचार से तत्त्व-ज्ञान नहीं होता, उनके लिये योग-उपासना मुख्य उपाय बताया है। उपासना से धीदर्प नष्ट हो जाता है।)

ही हैं। परात्पर परब्रह्म भगवान् का भगवान् ही मुकुट है, कुण्डल है, पीताम्बर है सब कुछ भगवान् ही है।

कई जगह माना जाता है कि लक्ष्मण जी शेष जी के अवतार हैं, भरत और शत्रुघ्न शङ्ख और चक्र के अवतार हैं। सपरिकर भगवान् राम परात्पर परब्रह्म ही हैं—

शेषस्तु लक्ष्मणो राजन् राममेवान्वपद्यत ॥
जातौ भरतशत्रुघ्नौ शङ्खचक्रे गदाभृतः।
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी ॥
(अध्यात्म रामायण बालकाण्ड १.१७,१८)

(राजन्! शेष जी लक्ष्मण के रूप में प्रकट होकर श्रीरामभद्र के अनुयायी हुए हैं। भगवान् गदाधर शङ्ख और चक्र ने भारत और शत्रुघ्न के रूप में अवतार लिया है तथा योगमाया-जनक दुलारी सीता जी होकर प्रकट हुई हैं।)

यह बहुत सावधानी से समझने की बात है। हमें देह से वैराग्य क्यों होता है? क्योंकि हमारा आपका शरीर हाड़-मांस-चाम का पुतला है। आँख, नाक, कान आदि से मलिन मल निकलता रहता है। शौच से उस मल का प्रक्षालन होता रहता है, साथ ही देह के मलिन होने की भावना सुदृढ़ होते-होते देहमात्र से वैराग्य हो जाता है—पुनर्जन्म से ही वैराग्य हो जाता है।

मिट्टी-पानी से हाथ-पाँव आदि अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रक्षालित करते रहो तो शौच से (शुद्धि से) वैराग्य रूप दिव्य फल होगा—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।
(योग दर्शन २.४०)

(शौच के अनुष्ठान से अपने अङ्गों से ग्लानि होती है और अन्य शरीरों से संसर्ग की भावना जाती रहती है।)

स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान्।
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥
(मुक्तिकोपनिषत् २.६६)

देह की अपवित्र दुर्गन्ध से जिसको वैराग्य नहीं होता, उसको वैराग्य का कारण क्या बतलावें? अर्थात् वैराग्य का तो मूलमन्त्र है कि जो अङ्ग-प्रत्यङ्गों से मलिन दुर्गन्ध पूर्ण मल निकलता है, उसमें राग न हो। लेकिन यह तभी होता है जब शौचाभ्यास करें, मिट्टी और जल से इनका प्रक्षालन करें और मिथ्या आहार से

बचें, असत् अनुसन्धान से बचें। आचार्य ने आहार शब्द का अर्थ सम्पूर्ण विषय ही माना है। सारे विषय ही आहार हैं। आँख से क्या देखें, कान से क्या सुनें, घ्राण से क्या सूँघें इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिये। आहार की शुद्धि से सत्त्व शुद्धि अन्तःकरण की शुद्धि होगी—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

(छान्दोग्योप० ७.२६.२)

(आहार-शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल-स्मृति होती है, तथा स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है।)

आह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगायाह्रियते तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धी रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषयविज्ञानमित्यर्थः।

(शाङ्करभाष्य छान्दोग्य ७.२६.२)

(जिनका आहार (उपभोग) किया जाय उन्हें 'आहार' कहते हैं; भोक्ता के भोग के लिये शब्दादि विषय-विज्ञान का आहरण किया जाता है; उस विषयोपलब्धि रूप विज्ञान की शुद्धि ही 'आहारशुद्धि है, अर्थात् राग-द्वेष, मोहादि दोषों से असंसृष्ट विषय-विज्ञान।)

हमारे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये सब ग्राह्य हों। ब्रह्माजी महाराज उपदेश करते हैं नारद जी को—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥

(भागवत २.६.३३)

(हे अङ्ग! मैं प्रेमपूर्वक और उत्कण्ठित हृदय से भगवान् के स्मरण में मग्न रहता हूँ; इसलिये मेरी वाणी कभी असत्य नहीं दीखती, मेरा मन कभी असत्य सङ्कल्प नहीं करता और इन्द्रियाँ भी कभी मर्यादा का उल्लङ्घन करके कुमार्ग में नहीं जातीं।)

हे अङ्ग! हमारी भारती (वाणी) कभी झूठ नहीं बोलती। मेरे मन की निरर्थक गति नहीं होती। जिसका चिन्तन आवश्यक नहीं है, उसके चिन्तन में हमारा मन नहीं लगता। मेरी इन्द्रियाँ कभी कुमार्ग में नहीं प्रवृत्त होतीं।

यही हममें, आपमें हो जाय तो हम सिद्धों के सिद्ध, पीरों-के-पीर हो जाँय ! हमारी आपकी वाणी झूठ न हो। हमारा आपका मन असत् वस्तुओं का अनुसन्धान न करे। हमारी इन्द्रियाँ दुर्मार्ग में न जाँय। बस यही परम कल्याण का रास्ता है।

जिज्ञासा हुई, 'इसका उपाय क्या है ?'

ब्रह्मा जी ने कहा--मैंने उत्कट उत्कण्ठा युक्त मन से श्रीहरि के चरण-कमलों को पकड़ा है। अर्थात् औत्कठ्यवान् जो चित्त है, उसके द्वारा हरि पकड़ लिये गये हैं। 'हृदा' माने 'मनसा'—

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तः हृन्मानसं मनः।

(अमरकोष १.७.२७७)

ब्रह्मा जी के कहने का यह अभिप्राय है कि 'उत्कट उत्कण्ठा युक्त मन से मैंने श्रीहरि को पकड़ा है, इसलिये मेरी वाणी झूठ नहीं बोलती। मेरी इन्द्रियाँ दुर्मार्ग में नहीं जातीं। मेरा मन अनावश्यक वस्तुओं का चिन्तन नहीं करता।' इन सब बातों के लिये भगवान् का चिन्तन करें।

प्रश्न—कौन हैं भगवान् ?

उत्तर—सगुण-साकार सच्चिदानन्द और निर्गुण-निराकार परात्पर-परब्रह्म।

प्रश्न—इनमें किनका चिन्तन सुगम है ?

उत्तर—सगुण-साकार का।

प्रश्न—क्या सगुण-साकार की उपासना से निर्गुण-निराकार की उपलब्धि संभव है ?

उत्तर—हाँ अवश्य ही।

(१०) 'तेषां के योगवित्तमाः' का समाधान।

गीता में शास्त्रार्थ है—

जो आपके सगुण-साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म स्वरूप में सतत-सदा-सर्वदा मन लगाकर आपकी निरन्तर उपासना करते हैं और जो अव्यक्त, निराकार, निर्विकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं—ध्यान करते हैं—वे दोनों ही योगवित् हैं; परन्तु उनमें अतिशयेन योगवित् कौन हैं ?

अर्जुन उवाच

एवं सतत युक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योग वित्तमाः॥

(भगवद्गीता १२.१)

(अर्जुन बोला—जो भक्त निरन्तर भगवदर्थ कर्म में लगे हुए अनन्य भाव से आपके शरण होकर सगुण स्वरूप की उपासना करते हैं तथा जो सर्वैषणाओं एवं सर्व कर्मों का भी त्याग करके अक्षर-अव्यक्त सर्वोपाधिरहित ब्रह्म का चिन्तन करते हैं—इन दोनों में कौन श्रेष्ठ हैं ?)

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
(भगवद्गीता १२.२)

(श्रीभगवान् बोले—जो नित्य निरन्तर उत्तम श्रद्धा से युक्त भक्त सर्वज्ञ परमेश्वर मुझमें मन को समाधिस्थ करके उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं—यह मेरा मत है ।)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
(भगवद्गीता १२.३,४)

जो इन्द्रियों के समुदाय को विषयों से निरुद्ध करके एवं सब काल इष्टानिष्ट-प्राप्ति में समभाव रहकर सब भूतों के हित में तत्पर हो, अनिर्देश्य, अव्यक्त आकाश के समान सर्व व्यापक, अचिन्त्य तथा कूटस्थ, अचल और ध्रुव-नित्य अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे मुझको ही प्राप्त करते हैं । वे प्राप्त हो नहीं करते, किन्तु वे तो **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** के अनुसार मेरे आत्मा ही हैं । यह मेरा मत है ।

भगवान् का उत्तर है—

मुझ सगुण-साकार सच्चिदानन्द घन परब्रह्म में मन लगाकर नित्य युक्त होकर उपासना करते हैं, वे अतिशयेन मुक्त हैं ।

जिज्ञासा है—महाराज ! निर्गुण-निराकार परब्रह्म की उपासना करने वाले का क्या हाल है ?

उत्तर—अक्षर, अखण्ड, अव्यय, परात्पर-परब्रह्म का ध्यान करते हैं, वे तो मुझको प्राप्त ही हैं ।

शङ्का जितनी करनी हो भरपेट कर सकते हो, सबका समाधान है । इस सम्बन्ध में जितनी शङ्काए हैं, उन सबका समाधान किये देते हैं ।

गङ्गोत्तरी से गङ्गा बहती हुई हरिद्वार, प्रयाग होती हुई पटना तक बह चली। सावन-भादों की गङ्गा है। अब उसे लौटाओ। प्रयाग लाओ, प्रयाग से लौटाओ हरिद्वार तक पहुँचाओ, हरिद्वार से लौटाओ गङ्गोत्तरी पहुँचाओ और गङ्गोत्री में छू-मन्त्र करके लुप्त कर दो। गङ्गा-प्रवाह के समान ही अहर्निश अन्तःकरण की वृत्तियां चल रही है। प्रमाणवृत्ति की अखण्ड धारा, विपर्यय वृत्ति की अखण्ड धारा, निद्रावृत्ति की अखण्डधारा और स्मृतिवृत्ति[६०] की अखण्डधारा चल रही है। इनका इतना प्रबल प्रवाह है कि बहते-बहते अपार संसार-समुद्र हो गया है। प्रमाण की भी अनेक धाराएँ हैं—प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान (अनुमिति) प्रमाण, आगम-प्रमाण, उपमान (उपमिति)—प्रमाण, अर्थापत्ति-प्रमाण, अनुपलब्धि-प्रमाण, संभव और ऐतिह्य प्रमाण और चेष्टा प्रमाण।

इस तरह प्रमाणवृत्ति ढेर की ढेर है, स्मृत्ति वृत्ति ढेर की ढेर है, विकल्प की परम्परा का कोई अन्त नहीं, निद्रा का कितना बड़ा जगड्वाल है? इन सारी वृत्तियों को लौटाओ, खतम करो—ले जाकर ब्रह्म में छू-मन्त्र कर दो। यह कितना कठिन है? इसलिये—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(भगवद्गीता १२.५)

(यद्यपि मेरे लिये ही कर्म करने वाले साधकों को भी बहुत क्लेश होता है, तथापि अव्यक्त में आसक्त, अक्षर ब्रह्म का चिन्तन करने वाले साधकों को तो अधिकतर क्लेश होता है, क्योंकि देहाभिमानियों को अक्षरात्मिका अव्यक्त गति बड़े दुःख से प्राप्त होती है।)

'देहाभिमानियों के लिये अव्यक्त की गति बहुत कठिन है' यह उपपत्ति (युक्ति) है। इसलिये सगुण-साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की उपासना सुगम है, करनी चाहिये।

---

६०. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।
प्रमाणविपर्य्यविकल्पनिद्रास्मृतयः॥
प्रत्यक्षानुमानाऽऽगमाः प्रमाणानि।
विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥
शब्दज्ञानाऽनुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।
अभावप्रत्ययाऽऽलम्बनवृत्तिर्निद्रा॥
अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः॥
(योग दर्शन १.५-११)

शङ्का होती है—साहब ! ऊँची वस्तु की प्राप्ति के लिये ऊँचा परिश्रम दूषण नहीं। प्राप्ति समान हो और उसमें परिश्रम ज्यादा हो तब तो दुर्गुण है लेकिन फल उत्कृष्ट है तो कोई दूषण नहीं भूषण ही है। कोई आदमी केवल अपना पेट भरता है और कोई आदमी पन्द्रह लाख ब्राह्मणों को भोजन कराके भोजन करता है तो उसे कुछ कष्ट होता है, लेकिन वह कष्ट कोई दूषण नहीं। इस तरह से अगर निर्गुणोपासना का फल कोई ऊँचा हो तो उसमें अधिक कष्ट होना हानि नहीं है। निर्गुणोपासना का फल ऊँचा है—सकलानर्थनिवृत्ति और परमानन्दावाप्ति, अर्थात् सर्व दृश्यप्रपञ्च का बाध और अनन्त, अखण्ड, निर्विकार, सच्चिदानन्द भगवत्पद की प्राप्ति। ऐसी स्थिति में उसके लिये क्लेश अधिक हो यह दूषण नहीं, भूषण है।

समाधान है—भाई ! फल दोनों का समान है। सगुणसाकार सच्चिदानन्द परमात्मा की उपासना का फल जो है, वही निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा की उपासना का फल[61] है।

इन सब झगड़ों का निपटारा, सम्पूर्ण बारहवें अध्याय का लब्बोलवाब भागवत के दो श्लोकों में इस प्रकार है—

पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥
(भागवत ३.५.४५-४६)

(हे देव ! भक्त आपकी कथा रूपी अमृत के पान से बढ़ी हुई भक्ति से शुद्धान्तःकरण में वैराग्य के सार बोध-ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके कालादि से अप्रतिहत आपके धाम-स्वरूप को अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। इनसे भिन्न जितेन्द्रिय धीर पुरुष समाधि रूप योग के बल से बलिष्ठा प्रकृति-माया को जीतकर भी आपको ही प्राप्त करते हैं, किन्तु उनको बड़ा श्रम-क्लेश होता है और जो सेवा आदि भक्ति मार्ग से आपको प्राप्त करते हैं, उनको श्रम नहीं होता।)

सगुण-साकार परमात्मा की उपासना प्रारम्भ होती है भगवत्कथा श्रवण से। भगवान् परात्पर परब्रह्म श्री राम-कृष्ण का मधुर मनोहर मंगलमय परम चरित्र श्रीरामायण और श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में विस्तार से है। जो इनका श्रवण करते रहते हैं उन्हें आरम्भ से ही अमृत पीने को मिलता है, इसलिए किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। उसी के प्रभाव से श्रीभगवान् की भक्ति बढ़ती है। भागवत

---

६१. सगुणोपासकों को श्रीहरि स्वयं ही स्वयं के तात्त्विक स्वरूप का बोध प्रदान कर मुक्त करते हैं—(भगवद्गीता १०.१०-११; १२.६, ७)

की कथा सुनने लग जाओ तो भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र में भक्ति अवश्य बढ़ेगी—निश्चय बढ़ेगी, निर्विवाद बढ़ेगी। रामायण का आस्वादन करने लग जाओ तो रामचन्द्र राघवेन्द्र परात्पर परमात्मा के स्वरूप में प्रीति अवश्य ही होगी। कथामृत के पान से बुद्धि विशुद्ध हो जायगी अर्थात् अन्तःकरण निर्मल-निष्कलंक-स्वच्छ-पवित्र हो जायगा।

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यन्तर मल कबहुँ न जाई।।
(रामचरितमानस ७.४८.६)

आभ्यन्तर मल की निवृत्ति प्रेम-भक्ति जल के बिना कभी हो ही नहीं सकती।

इस तरह भगवान् के मंगलमय परम पवित्र चरितामृत का आस्वादन करते-करते भगवान् के चरणारविन्द में भक्ति बढ़ती है। भक्ति से बुद्धि पवित्र हो जाती है। तब संसार से वैराग्य अपने आप हो जाता है। साथ-ही-साथ भगवत्स्वरूप में भक्ति भी होती है और भगवत्स्वरूप का बोध भी होता है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।।
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजँस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्।।
(भागवत ११.२.४२, ४३)

अर्थात् जैसे कोई भूखा आदमी मधुर मनोहर पक्वान्न खाने लग जाय, खीर खाने लग जाय, लड्डू खाने लग जाय तो प्रत्येक ग्रास में तुष्टि भी होगी, पुष्टि भी होगी और क्षुधा की निवृत्ति भी होगी; वैसे ही भगवच्चरित्रामृत का पान करते-करते भक्ति भी होगी, विरक्ति भी होगी और भगवत्प्रबोध भी होगा। भगवान् में राग, संसार से वैराग्य और परमात्मा का ज्ञान होगा।

फिर क्या है? वैराग्य है सार जिसमें ऐसा जो भगवत्प्रबोध उसे प्राप्त होते ही भक्त अकुण्ठ्यधिष्ण्य भगवान् को प्राप्त हो जाते हैं। एक रास्ता यही है।

दूसरा रास्ता है—निर्गुणोपासक आत्मा में मन को एकाग्र करते हैं। इसका क्या रास्ता है? किसी ने कहा घड़े में आकाश भर दो। तो क्या आकाश को लाकर घड़े में भरते हैं? अरे, घड़ा पैदा होने से पूर्व आकाश से भरा हुआ है। घड़ा जब पैदा हुआ तब आकाश से भरपूर ही पैदा हुआ। तब फिर इसका क्या अर्थ है कि घड़े को आकाश से भर दो? इसका अर्थ है—घड़े को खाली कर दो। घड़े में मिट्टी का तेल भर दिया है, धूलि भर दी है, अनाज भर दिया है तो आकाश छिप गया। इन सबको निकाल दो, निकाल देने पर आकाश भरा हुआ अवशिष्ट रह गया। ऐसे ही जिस दिन अन्तःकरण पैदा हुआ, अनन्त अखण्ड परात्पर परब्रह्म से भरपूर ही

पैदा हुआ। हमने उसमें प्रपञ्च भर लिया। शब्द भर लिया, स्पर्श भर लिया, रूप भर लिया, रस भर लिया, गन्ध भर लिंया। हमने अन्तःकरण को (बुद्धि-वृत्ति या चित्तवृत्ति को) शब्दाकार, स्पर्शाकार, रूपाकार, रसाकार और गन्धाकार कर लिया है। तब क्या करें? इन सबको निकाल दें।[६२] शब्द भी न रहे, स्पर्श भी न रहे, रूप भी न रहे, रस भी न रहे और गन्ध भी न रहे। इन सबको निकाल दो। देखो जरा क्या हो जाता है? आँख के सामने अँधेरा……, अँधेरा……, अँधेरा हो जाता है। आँख खोलते ही सृष्टि दीखने लगती है। यह तो स्थिति है। मन में कोई विचार न रहे, मन में कोई प्रकाश न रहे, मन में कुछ भी न रहे ऐसा कहाँ होता है? इसके लिये भगवान् कपिलदेव जी महाराज ने देवहूति को सगुण-साकार की उपासना बतायी।

भगवान् के पादारविन्द का, हस्तारविन्द का, मुखारविन्द-वदनारविन्द का ध्यान करो और उनकी महिमा का अनुसन्धान करो। भगवान् की सुन्दरता का चिन्तन करो। पादारविन्द की, मुखारविन्द की स्वाभाविक सुन्दरता कैसी है, इसका चिन्तन करो। ऐसे ही भगवान् के पादारविन्द में त्रिवेणी है। पादारविन्द की नखमणिचन्द्रिका गङ्गा है, पादारविन्द के तल की अरुणिमा सरस्वती है और ऊपर की नीलिमा यमुना। वहीं गङ्गा है, वहीं यमुना है, सरस्वती है। त्रिवेणी में गोता लगाओ, त्रिवेणी का ध्यान करो। मन पवित्र हो जायगा। लोकोत्तर मुखचन्द्र के अनन्त सौन्दर्य, अनन्त माधुर्य का चिन्तन करो। ऐसा करते-करते मन की सब वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं।

भाई! मक्खी को देखो, क्या वह फूल पर बैठती है? बहुत सुगन्धित चमचमाते हुए केसर के चन्दन पर बैठती है? नहीं, मक्खी बैठती है मल-मूत्र पर।

शास्त्र कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
(भागवत ११.१४.२७)

(जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परम गति कहते हैं।)

(जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझमें प्रविलीन हो जाता है।)

---

६२. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
(कठोपनिषद् २.३.१०)

विषयों का ध्यान करते-करते प्राणी का मन विषयों में आसक्त हो जाता है। विषयों को छोड़कर मन भगवान् का चिन्तन करे तो भगवान् में ही प्रविलीन हो जाता है। दीपक पर मक्खी बैठेगी तो पंख जल जायेंगे। भगवान् के तेजोमय-प्रकाशमय दिव्यरूप का ध्यान करते-करते मन की चञ्चलता दूर हो जाती है। मन में शुद्धि आ जाती है। जितनी शुद्धि आती है उतना ही मन में भगवान् का दिव्य स्वरूप मन में आता है, उतना ही मन एकाग्र होता है। इस तरह एकाग्रता, शुद्धि और भगवत्स्वरूप के प्राकट्य का उत्तरोत्तर प्रशस्त क्रम चलता रहता है।

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥
(पञ्चदशी ११.११५)

प्राणी का चित्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति की भूमि विषय में जैसे भलीभांति स्वभाव से आसक्त रहता है, वह ब्रह्म में यदि उसी प्रकार रम जाय तो भला कौन इस संसार से मुक्त न होगा ?)

धर्ममेघ समाधि का वर्णन पञ्चदशी में है—

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥
(पञ्चदशी १.६०)

(योग वेत्ताओं में श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ इस निर्विकल्प समाधि को धर्ममेघ कहते हैं, क्योंकि यह धर्मरूप अमृत की हजारों धाराओं को बरसाने लगती है।)

धर्ममेघ वह है जो धर्मामृत की बर्षा करता है। आपने हमने ध्यान किया तो उस ध्यान का फल पुत्र-कलत्र-अन्न-द्रव्य आदि बाह्य समृद्धि नहीं, सम्मान-प्रतिष्ठा भी नहीं। उस ध्यान का फल क्या है ? ध्यान और बढ़ जाय और कुछ नहीं चाहिये। केवल ध्यान का फल ध्यानवृद्धि है। ध्यान जितना बढ़ेगा मन उतना ही एकाग्र होगा, जितना मन एकाग्र होगा उतना ही मन निर्मल होगा, निष्कलंक होगा; उतना ही भगवान् का दिव्य स्वरूप प्रकट होगा। इस तरह होते-होते भगवत्स्वरूप में प्रेम हो जाता है।

प्रेम होने पर क्या होता है ? प्रेम की अवस्था ही विचित्र है। प्रेम की अवस्था में प्राणी का कण्ठ गद्गद् हो जाता है, वाणी भी चल नहीं पाती—अवरुद्ध हो जाती है; आँखे देखने में असमर्थ हो जाती हैं ऐसे ही प्रेमोद्रेक में मन भी शिथिल हो जाता है मन शिथिल होने का मतलब क्या है ? मन जिसे ग्रहण कर रहा हो उसे ग्रहण करने में असमर्थ हो जाय। मन जब ध्येय रूप को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाय। मन जब ध्येय नहीं रहा (ध्येय का ग्रहण नहीं रहा) तब ध्येयाकाराकारित वृत्ति

रूपी ध्यान भी नहीं रहा। ध्यान नहीं तो ध्यान का आश्रय ध्याता भी नहीं रहा। अर्थात् ध्येय की प्रतीति नहीं तो ध्येयाकाराकारितवृत्तिरूप ध्यान भी नहीं, जब ध्यान नहीं तो ध्याता भी नहीं। जब ध्याता, ध्यान और ध्येय नहीं तब एकमात्र अखण्ड भान निर्गुण ब्रह्म वही अवशिष्ट रहता[63] है। प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य इनमें एक के न रहने पर शेष दो का भान नहीं रहता। द्रष्टा नहीं तो दृश्य और दर्शन नहीं। दर्शन नहीं तो द्रष्टा और दृश्य नहीं। दृश्य नहीं तो दर्शन और द्रष्टा नहीं।

एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥

(भागवत २.१०.९)

(त्रिपुटी में यदि एक का भी अभाव हो जाय तो दूसरे दो की उपलब्धि नहीं हो सकती; अतः जो इन तीनों को जानता है, वह परमात्मा ही सबका अधिष्ठान-आश्रय तत्त्व है। उसका आश्रय वह स्वयं ही है, दूसरा कोई नहीं।)

---

६३. तदेकावयवं देवं चेतसा हि पुनर्बुधः।
कुर्यात्ततोऽवयविनि प्रणिधानपरो भवेत्॥
तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥
तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥
विज्ञानंप्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव।
प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणाशेषभावनः॥
(श्रीविष्णुपुराणे षष्ठेंऽशे ७:९०-९३)

तदनन्तर विज्ञ पुरुष अपने चित्त में अवयव विशिष्ट भगवान् का हृदय चिन्तन करे और फिर सम्पूर्ण अवयवों को छोड़कर केवल अवयवी का ध्यान करे। हे राजन्! जिसमें परमेश्वर के रूप की ही प्रतीति होती है, ऐसी जो विषयान्तर की स्पृहा से रहित एक अनवरत धारा है उसे ही ध्यान कहते हैं जो यमादि छह अङ्गों से निष्पन्न होता है। उस ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन-त्रिपुटी के भेद से रहित स्वरूप ग्रहण किया जाता है, उसे ही 'समाधि' कहते हैं। हे राजन्! समाधि के द्वारा लब्धभगवत्साक्षात्काररूप विज्ञान ही प्राप्तव्य परब्रह्म तक पहुँचाने वाला है तथा सम्पूर्ण भावनाओं से रहित एकमात्र आत्मा ही प्राप्य प्रापणीय है।)

'अहं द्रष्टास्मि' इसका भाव खतम। **'मम दर्शनमिदं'** इसका भाव खतम। **'दृश्यमिदं'** इसका भाव खतम। **'घटमहं जानामि', 'पटमहं जानामि'** जो घट को जानता है, घटाकाराकारित वृत्ति को भी जानता है, वृत्ति के आश्रयभूत प्रमाता को भी जानता[६४] है, जिसके प्रमाता-प्रमाण और प्रमेय साक्ष्य हैं, जो इनका साक्षी है वह आत्मा है। हमको चाहिये प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय मिट जाँय, इनका अखण्ड भान-ही-भान रह जाय। जो तीनों को जानता है, वह तीनों के अभाव का साक्षी है। तीनों के अभाव के साक्षी का साक्षात्कार ही परात्पर परब्रह्म का साक्षात्कार है। जहाँ द्रष्टा नहीं, दर्शन नहीं, दृश्य नहीं, प्रमाता नहीं, प्रमाण नहीं, प्रमेय नहीं, ज्ञाता नहीं, ज्ञान नहीं, ज्ञेय नहीं—जो इन तीनों का साक्षी है, वही इन तीनों के अभाव का साक्षी है। ऐसा जानना ही अनन्त, अखण्ड, निर्विकार परात्पर परब्रह्म का बोध है। ऐसा देवहूति को कपिल जी ने बताया।

(११) 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' का तात्त्विक अभिप्राय :—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत्॥
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥

---

६४. जिससे तीनों प्रकाशित होते हैं वही परमार्थतत्त्व है। जिस प्रकार एक ही तेज—अधिभूत रूप होकर, अध्यात्म नेत्र होकर और अधिदैव सूर्य (आलोक) मायावशात् भासित होता है, उसी प्रकार एक ही अखण्ड बोध प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय होकर भासित होता है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के रूप में एक ही चिदात्मा को दिखाने वाली माया शक्ति स्वतन्त्र सत् नहीं है, इसलिये उसके कारण एक अखण्ड बोध का प्रमातादि तीन रूपों में भासना भी वास्तविक नहीं है। वह आत्मा किसी अन्य से भासित नहीं है, इसलिये उसे स्वप्रकाश कहते हैं। किसी अन्य के आश्रित नहीं है, इसलिए 'स्वाश्रयाश्रय' है।

देवर्षि नारद का प्रश्न है—'स (भूमा) भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति।' = 'भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है?'

भगवान् सनत्कुमार का उत्तर है—'स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति' (छान्दोग्य ७.२४.१)

अपनी महिमा में अथवा अपनी महिमा में भी नहीं है (प्रतिष्ठित वह भूमा)।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या-
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥
(भागवत ३.२८.३३-३६)

(अत्यन्त प्रेमार्द्रभाव से अपने हृदय में विराजमान श्री हरि के खिलखिलाकर हँसने का ध्यान करे, जो वस्तुतः ध्यान के ही योग्य है। जिसमें ऊपर और नीचे के दोनों होठों की अत्यधिक अरुण कान्ति के कारण उनके कुन्द कली के समान शुभ्र छोटे-छोटे दाँतों पर लालिमा-सी प्रतीत होने लगी है। इस प्रकार ध्यान में तन्मय होकर किसी अन्य पदार्थ को देखने की इच्छा न करे। इस प्रकार के ध्यानाभ्यासी साधक का श्री हरि में प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्ति से द्रवित होने लगता है, उत्कण्ठाजनित प्रेमाश्रुओं की धारा में वह बार-बार अपने शरीर को नहलाता है और फिर मछली पकड़ने के काँटे के समान श्रीहरि को अपनी ओर आकर्षित करने के साधन रूप अपने चित्त को भी धीरे-धीरे ध्येय वस्तु से हटा लेता है। जैसे तेल आदि के चुक जाने पर दीपशिखा अपने कारण रूप तैजस तत्त्व में लीन हो जाती है, वैसे ही आश्रय, विषय और राग से रहित होकर मन शान्त—ब्रह्माकार हो जाता है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर जीव गुणप्रवाह रूप देहादि उपाधि के निवृत्त हो जाने के कारण ध्याता, ध्येय आदि विभाग से रहित एक अखण्ड परमात्मा को ही सर्वत्र अनुगत देखता है। योगाभ्यास से प्राप्त हुए चित्त की इस अविद्या रहित निवृत्ति से अपनी सुख-दुःख रहित ब्रह्मरूप महिमा में स्थिर होकर परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर वह योगी जिस सुख-दुःख के भोक्तृत्व को पहले अज्ञानवश अपने स्वरूप में देखता था उसे अब अविद्याकृत अहङ्कार में ही देखता है।)

श्रीवैष्णवाचार्य ने इसका खण्डन किया है—

श्रीजीवगोस्वामि-विश्वनाथचक्रवर्त्यादिरीत्या 'पृथङ् न दिदृक्षेत्' इत्युक्त्या; अतः पुरुषार्थसारादन्यस्य वस्तुनोऽसम्भवात् पृथक् ज्ञातुं द्रष्टुञ्च नेच्छेत्। भगवत्स्वरूप-सौन्दर्यमाधुर्यास्वादाऽऽनन्दसम्मोह एव परमः समाधिः। योगमहागह्वरात् योगि-नोऽप्याकृष्य भक्तिरससुधामहार्णवे निमज्जयितुमेव योगाङ्गत्वेन परमभक्तिरूपभगवत्स्व-रूपसौन्दर्यध्यानवर्णनम्। अत एव योगज्ञानादिनिष्ठा अपि भगवतः स्वरूपे रज्यन्ते।

उनका कहना है, अरे भगवान् को छोड़कर और किसी का चिन्तन न करना तो ठीक है; परन्तु 'भगवान् का भी चिन्तन न करे' यह तो ठीक नहीं है। 'भक्ति रसार्णवः' हमारा ग्रन्थ है उसमें हमने इसका उत्तर दिया है, परन्तु बहुत मधुर उत्तर दिया है। (दृष्टव्य २२७ वस्तुतस्तु .....)।

(वैष्णव श्रोता—'महाराज! यहाँ भी मधुर उत्तर ही देने की कृपा करें'। महाराज श्री—हँ-हँ-हँ-हँ हाँ हाँ ठीक है, ठीक है।)

'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' इसका अर्थ वे करते हैं—'पुरुषार्थसार भगवत्स्वरूप से अन्य और कोई वस्तु नहीं है। अतः श्रीविग्रह से अतिरिक्त किसी अन्य का ज्ञान-दर्शन न चाहे। भगवान् के मधुर मनोहर मुखचन्द्र, पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका, दामिनीद्युतिविनिन्दक पीताम्बर, भगवान् के अनन्त माधुर्यामृत, सौन्दर्यामृत का भी चिन्तन न करें, यह कोई बात है?

इसपर हम कहते हैं—भाई! जरा ठंडे दिल से बात करो। जहाँ लिखा है कि **'एकैकमङ्गं भावयेत्', 'तत्रैकावयवं ध्यायेद्'** (भागवत २.१.१९), वहाँ यह विचार करना चाहिये कि जब तुम मुखारविन्द का ध्यान करोगे तो पादारविन्द का ध्यान छूटेगा कि नहीं?

(वैष्णव श्रोता—जय हो! जय हो!)

तो यह छूटना छूटना नहीं। जब भगवान् के नख से लेकर शिख तक का ध्यान करेंगे, तब एक-एक अङ्ग का ध्यान क्रम से होगा। इसलिये स्वभाव से ही

---

६५. कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
(भागवत १०.१४.५५)

(इन श्रीकृष्ण को ही तुम सब आत्माओं का आत्मा समझो। जगत् के कल्याग के लिये ही योगमाया का आश्रय लेकर वे यहाँ देहधारी के समान जान पड़ते हैं।)

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः। अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छापात्तपृथग्वपुः॥
(भागवत ११.११.२८)

(भगवन! आप प्रकृति से परे पुरुषोत्तम एवं चिदाकाश स्वरूप ब्रह्म हैं। फिर भी आपने लीला के लिये स्वेच्छा से ही यह अलग शरीर धारण करके अवतार लिया है।)

ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वायुपस्पृश्य माधवः। दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम्॥
(भागवत १०.७०-४)

(भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में ही उठ जाते और हाथ-मुँह धोकर अपने मायातीत आत्मस्वरूप का ध्यान करने लगते। उस समय उनका रोम-रोम आनन्द से खिल उठता था।)

मुखचन्द्र का ध्यान करने के लिये चरणारविन्द का ध्यान छूटेगा। लिखा है— **'सुस्मितं भावयेन्मुखम्'** (भागवत ११.१४.४३) भगवान् के सुस्मित-मुख का ही चिन्तन करना चाहिये।

तो भाई! जब सुस्मित मुख का ध्यान करने में पादारविन्द का ध्यान छूट गया तो पादारविन्द का अपमान तो नहीं है? जैसे तुम्हारे शरीर से अलग एक शुद्ध आत्मा है, देह ही तुम नहीं तो क्या कोई भगवान् का शुद्ध आत्मा नहीं है? यह ठीक है कि श्रीभगवान् की जो देह है (श्रीविग्रह है), वह भौतिक नहीं है, मायिक नहीं है, जड़ नहीं है, अखण्ड-अनन्त-निर्विकार-परात्पर-परब्रह्म स्वरूप हो है। फिर भी जैसे तुम्हारी देह से देही पृथक् भी है, तैसे (वैसे) उस दिव्य तेजोमय (प्रकाशमय) अनन्त सौन्दर्यमय-माधुर्यमय श्रीविग्रह का भी देही है जो वस्तुतः अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप ही है।

षष्ठ-पुष्प

भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत्॥
भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः॥
तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्॥
पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥
(भागवत २.२.३४-३७)

(भगवान् ब्रह्मा ने एकाग्र चित्त से सम्पूर्ण वेदों का तीन बार अनुशीलन करके अपनी बुद्धि से यही निश्चय किया कि जिससे निर्विकार आत्मस्वरूप भगवान् के प्रति रति हो, वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। सम्पूर्ण भूतों—चराचर प्राणियों में उनके आत्मरूप से श्रीहरि ही लक्षित होते हैं, क्योंकि ये बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ अनुमान कराने वाले लक्षण हैं; वे इन सबके एकमात्र द्रष्टा-साक्षी हैं। राजन्! इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि सब समय और सभी स्थितियों में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों से भगवान् श्रीहरि का ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करें। संत महापुरुष आत्मस्वरूप भगवान् की कथा का मधुर-मनोहर-मंगलमय अमृत बांटते ही रहते हैं, जो अपने कान के दोनों में भर-भरकर उनका पान करते हैं, उनके हृदय से विषयों का विषैला प्रभाव जाता रहता है, वह निर्मल निष्कलंक हो जाता है। भगवत्कथामृत के रसिक भगवान् श्रीहरि के चरण-कमलों की सन्निधि प्राप्त कर लेते हैं।)

भगवान् ब्रह्मा ने मन्त्र-ब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण ऋक्, साम और यजुर्वेद का तीन बार आलोडन किया। उन्होंने यही निर्णय किया कि जिससे भगवान् में भक्ति हो वही जीवन का सार है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान् में, रति-प्रीति-अनुरक्ति जिस तरह से हो वैसा ही करना चाहिये।

भगवान् ने ब्रह्मा जी को भागवत का उपदेश किया और ब्रह्मा जी ने नारद को। इन सारे प्रसङ्गों में यही कहा कि सर्वात्मा अखिलाधार श्रीहरि में जिस प्रकार प्रेममयी भक्ति हो, वैसा ही वर्णन करना चाहिये—

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति संकल्प्य वर्णय॥
(भागवत २.७.५२)

गोस्वामी जी कहते हैं—

जो गावहिं यह चरित सँवारे। ते एहि ताल चतुर रखवारे ॥

(रामचरितमानस १.३७.१)

इस ताल के चतुर रखवारे वही हैं जो बहुत सम्हाल कर बोलें। किसी के सिद्धान्त को ठेस पहुँचाना लक्ष्य नहीं है। हम स्वयं कह देते हैं कि भाई! भिन्न-भिन्न मत हैं—द्वैत भी है, द्वैताद्वैत भी है, विशिष्टाद्वैत भी है, अचिन्त्य भेदाभेद भी है और अद्वैत भी है। जैसे और सब मत हो सकते हैं, वैसे अद्वैत भी हो सकता है, उसका भी वर्णन किया जा सकता है। श्रीधर स्वामी की टीका श्रीमद्‌भागवत पर बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है। गौडिया सम्प्रदाय वाले तो उसको बहुत ही मानते हैं। श्री सनातन गोस्वामी लिखते हैं—

पीतश्रीगोपिकागीतसुधासारमहात्मनाम्।
श्रीधरस्वामिनां किञ्चिदुच्छिष्टमुपचीयते ॥

(श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृत बृहत्तोषिणी, भागवत १०.३१)

श्री जीव गोस्वामी भी ऐसा ही लिखते हैं—

पीतश्रीगोपिकागीतसुधासाररसश्रियाम्।
श्रीधरस्वामिनां किञ्चिदवशिष्टं विचीयते ॥

(श्रीमज्जीवगोस्वामिकृत वैष्णवतोषिणी, भागवत १०.३१)

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि टीकाकार भी श्रीधर स्वामी की टीका को मानते हैं। एकमात्र वल्लभाचार्य श्रीधर का बिल्कुल स्पर्श नहीं करते, बाकी और सब टीकाकार आगे-पीछे उसका स्पर्श करते हैं। हाँ जीव गोस्वामी आदि ने यह माना है कि श्रीधर स्वामी जी को अद्वैत अभीष्ट नहीं था, अद्वैतियों का मन इधर आकृष्ट करने के लिये क्वचित्-क्वचित् उन्होंने अद्वैत का चित्रण कर दिया है। आज भी श्रीमद्‌भागवत का गूढार्थ समझना हो तो श्रीधरी का अवलम्बन अत्यावश्यक है। वे बार-बार अद्वैत-तत्त्व का निरूपण करते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि श्री भगवान् की कथा बहुत सँवार कर कहने की आवश्यकता है, ताकि किसी के सिद्धान्त को ठेस न पहुँचे और श्रीहरि में प्रेममयी भक्ति बढ़े, माया से मोहित न हों।

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतो श्रद्धया नित्यं माययाऽऽत्मा न मुह्यति ॥

(भागवत १.७.५३)

जो पुरुष ईश्वर की अचिन्त्य माया का वर्णन करते हैं, अनुमोदन करते हैं अथवा श्रद्धा के साथ नित्य श्रवण करते हैं, उनका चित्त माया से कभी मोहित नहीं होता।)

माया को मारने के लिये श्रुतियों ने बहुत प्रार्थना की है, भगवान् से—

जय जय जह्यजामजितदोषगृभीतगुणां
त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः[६६] ॥

(भागवत १०.८७.१४)

श्रुतियाँ कहती हैं—अजित ! आप सर्वश्रेष्ठ हैं, आप पर कोई विजय नहीं प्राप्त कर सकता, आपकी जय हो, जय हो। प्रभो ! आप स्वभाव से ही समस्त ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, इसलिये चराचर प्राणियों को फँसाने वाली माया का नाश कीजिये। इस गुणमयी माया ने दोष के लिये—जीवों के आनन्दादिमय स्वरूप का आच्छादन करके उन्हें बन्धन में डालने के लिये ही सत्त्वादि गुणों को धारण किया है। जगत् में जितनी भी साधना, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ हैं, उन सबको जगाने वाले आप ही हैं। आप ही माया को मिटा सकते हैं। यद्यपि हम आपका स्वरूपतः वर्णन करने में असमर्थ है, परन्तु जब कभी आप माया के द्वारा जगत् की सृष्टि करके सगुण हो जाते हैं या उसको निषेध करके स्वरूपस्थिति की लीला करते हैं अथवा अपना सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीविग्रह प्रकट करके क्रीडा करते हैं, तभी हम यत्किंचित् आपका वर्णन करने में समर्थ होती हैं[६७]।)

---

६६. श्री श्रीधर स्वामी जी ने इस श्लोक का आशय इस प्रकार व्यक्त किया है—
जय जयाजित जह्यगजङ्गमावृतिमजामुपनीतमृषागुणाम्।
न हि भवन्तमृते प्रभवन्त्यमी निगमगीतगुणार्णवता तव ॥१॥

६७. श्रीधर स्वामी के शब्दों में श्लोकार्थ इस प्रकार है—
भो अजित जय जय उत्कर्षमाविष्कुरु। आदरे वीप्सा। केन व्यापारेण—अगजगदोकसां अगानि स्थावराणि जगंति जंगमानि च ओकांसि शरीराणि येषां जीवानां तेषामजामविद्यां जहि नाशय। किमिति गुणवती हन्तव्येत्यत आह—दोषगृभीतगुणां दोषायानन्दाद्यावरणाय गृहीता गुणा यया ताम्। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' इति भकारः। इयं हि स्वैरिणीव परप्रतारणाय गुणान् गृह्णातीत्यतो हन्तव्येति। तर्हि मय्यपि दोषमावहेदिति ममापि तत्र का शक्तिः स्यादत आह—त्वमिति। यद्यस्मात्त्वमात्मना स्वरूपेणैव समवरुद्धसमस्तभगः सम्प्राप्तसमस्तैश्वर्योऽसि, वशीकृतमायत्वादिति भावः। ननु स्वयमेव ते ज्ञान वैराग्यादिना किं न हन्युरित्यत

(अजित ! आपकी जय हो, जय हो। मिथ्या—झूठे गुण धारण करके चराचर जीव को आच्छादित करने वाली इस माया को नष्ट कर दीजिये। आपके बिना बेचारे जीव इसको नहीं मार सकेंगे—नहीं पार कर सकेंगे। वेद इस बात का गान करते रहते हैं कि आप सकल सद्‌गुणों के समुद्र हैं।)

श्रुति ने कहा—**'हे अजित ! अजां जहि'**। 'हे प्रभो ! माया को मारो।' भगवान् ने कहा—**'किमिति गुणवती हन्तव्या ?'** माया गुणवती है, इसलिये गुणवाली वस्तु का हनन क्यों किया जाय।

श्रुति ने कहा—**'दोषगृभीत गुणां'** अर्थात् **'दोषायानन्दाद्यावरणाय गृहीता गुणाः यया ताम्'** = उसने आपके अंशभूत जीवों के आनन्दादि स्वरूप का आवरण करने के लिये गुणों को ग्रहण किया है, इसलिये यह अवश्य मारने योग्य है। **'इयं हि स्वैरिणीव परप्रतारणाय गुणान्गृह्णाव्यतो हन्तव्येति'** = जैसे स्वैरिणी नाना प्रकार का अङ्गराग धारण करती है, भूषण-वसन-अलङ्कारों से विभूषित सुसज्जित होती है, उसका उद्देश्य दूसरों को प्रतारण करना होता है, वैसे ही यह माया भी दूसरों को प्रतारण करने के लिये ही गुणों को ग्रहण किये है, इसलिये यह मारने योग्य है। प्रभो ! आप इसे अवश्य मारो और इसके चंगुल से जीवों को बचाओ।

लेकिन भगवान् ने माया को मारा नहीं। क्यों नहीं मारा ?

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।
विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः॥
(भागवत २.५.१३)

(यह माया तो उनकी आँखों के सामने ठहरती ही नहीं, झेंपकर दूर से ही भाग जाती है। संसार के अज्ञानी जन इसी से मोहित होकर 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार बकते रहते हैं।)

आह—शक्त्यवबोधकतेति। तेषां त्वमेवान्तर्यामी सर्वशक्त्युद्बोधकः। अतो न ते ज्ञानादौ स्वतन्त्रा इति भावः। नन्वहमकुण्ठज्ञानैश्वर्यादिगुणो जीवानां कर्मज्ञानादि शक्त्यवबोधनेनाविद्याहंतेत्यत्र किं प्रमाणमिति चेदहमेव प्रमाणमित्याह। निगमो वेदः। नन्वेवम्भूते मयि कथं श्रुतीनां प्रवृत्तिस्तत्राह—क्वचिदिति। कदाचित् सृष्ट्यादिसमयेऽजया मायया चरतः क्रीडतो नित्यं चालुप्तभगतया सत्यज्ञानानन्ता—नन्दैकरसेनात्मना च चरतो वर्तमानस्य निगमोऽनुचरेत् प्रतिपादयेत्। कर्मषष्ठ्यौ। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते", "यो ब्रह्माणं विदधाति···", "य आत्मनि तिष्ठन्", "सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म", "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्यादि निगम-कदम्बस्त्वामेवं भूतं प्रतिपादयतीत्यर्थः।

माया भगवान् के सामने खड़ी होने में शरमाती-लजाती है। क्यों लजाती है? एक तो वेदान्त वाले बोलते हैं कि प्रचण्ड मार्तण्डमण्डल में कभी तमिस्रा रात्रि रहती नहीं, वैसे ही स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म में माया नाम की कोई चीज वस्तुतः होती ही नहीं फिर भी जैसे प्रचण्ड मार्तण्डमण्डल में उलूक को अन्धकार, घोर अन्धकार प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञ जनों को संसार में अहं-मम भाव होता है। उलूक से पूछो, 'प्रचण्ड मार्तण्ड मण्डल में अन्धकार है, इसमें कोई गवाह दो' तो वह कहता है चमगादड़ साहब हमारे गवाह हैं। इसी तरह मायामोहित व्यक्ति का समर्थन मायामोहित इतर प्राणी करते हैं। यह एक दृष्टि है—

उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते।
स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते॥
(आत्मप्रबोधोपनिषद् ३५)

दूसरी दृष्टि है—माया भगवान् के सामने खड़ी होने में यह सोचकर लजाती है कि हम भगवान् को तो खूब प्रणाम करती हैं, भजन करती हैं, लेकिन भगवान् के अंशों-जीवों को खूब सताती हैं। हाँ तो किसी ने माया से कहा—"माया देवी आप जब स्वयं समझती हो कि भगवान् के अंशभूत जीवों को सताना ठीक नहीं, तब कृपाकर उन्हें बकसो।"

माया ने कहा—"यह हमसे बनेगा नहीं। जब तक जीव विमुख रहेंगे भगवान् से, मैं उन्हें सताती ही रहूँगी। हाँ प्रभु के सम्मुख हो जाँय तो नहीं सताऊँगी।"

एक श्लोक है—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्मायया्ऽतो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा[६८]॥
(भागवत ११.२.३७)

---

६८. श्रीधर स्वामी के शब्दों में श्लोकार्थ इस प्रकार है—

ननु किमेव परमेश्वरभजनेन अज्ञानकल्पितभयस्य ज्ञानैकनिवर्त्यत्वादित्याशंक्याह—भयमिति। यतो भयं तन्मायया भवेदतो बुधो बुद्धिमांस्तमेवाभजेत्। ननु भयं देहाद्यभिनिवेशतो भवति, स च देहाहंकारतः, स च स्वरूपास्मरणात् किमत्र तस्य माया करोत्यत आह—ईशादपेतस्येति। ईशविमुखस्य तन्माययाऽस्मृतिर्भगवतः स्वरूपास्फूर्तिस्ततो विपर्ययो देहोऽस्मीति, ततो द्वितीयाभिनिवेशाद्भयं भवति। एवं हि प्रसिद्धं लौकिकीष्वपि मायासु। उक्तं च भगवता—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" इति। एकयाऽव्यभिचारिण्या भक्त्या भजेत्। किं च गुरुदेवतात्मा गुरुदेव देवता ईश्वर आत्मा प्रेष्ठश्च यस्य तथादृष्टिः सन्नित्यर्थः। (भागवत ११.२.३७)

(ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति से ही 'मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार का भ्रम-विपर्यय हो जाता है। देहादि अन्य वस्तुओं में अभिनिवेश-तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेक भय होते हैं। इसलिये अपने गुरु को ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिये।)

'ईश्वरादपेतस्य परमेश्वराद् विमुखस्य पुरुषस्य तन्मायया अस्मृतिः'—जो परमेश्वर से विमुख प्राणी हैं, उनको भगवान् की माया से स्वरूपविस्मरण हो जाता है। तदन्तर विपर्यय हो जाता है। विपर्यय माने अन्यथा भान या अन्य में अन्य बुद्धि है। अकर्ता में कर्तृत्वभाव, अभोक्ता में भोक्तृत्वभाव, एक में नानात्वभाव विपर्यय है। फिर द्वितीय में अभिनिवेश हो जाता है—आग्रह हो जाता है। फिर भय हो जाता है। भय कैसे होता है? परमेश्वर से विमुख प्राणी को भगवान् की माया से स्वरूपविस्मृति होती है, स्वरूपविस्मृति से विपर्यय होता है, विपर्यय से द्वितीयाभिनिवेश होता है, द्वितीयाभिनिवेश से भय होता है। अतः **'गुरुदेवतात्मा सन्'= 'गुरौ देवतायाञ्च आत्मा मनो यस्य असौ गुरुदेवतात्मा'** अर्थात् गुरु और देवता में मन लगा करके मन से उनकी पूरी भक्ति करते हुए **''तं ईश्वरमेव आभजेत्'** उसी ईश्वर को 'आसमन्तात्-सर्वतोभावेन भजेत्'। इस प्रकार प्रभु के सम्मुख होने से वैमुख्यनिवृत्ति होती है। वैमुख्यनिवृत्ति से अस्मृति की निवृत्ति होती है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६.२३)

अर्थात् जिसकी परात्पर परब्रह्म भगवान् में अखण्ड भक्ति है और गुरुदेव में अनन्य प्रीति है, वेद-वेदान्तार्थ (श्वेताश्वतर में कहे हुए अर्थ) उसी की बुद्धि में अधिरूढ़ होते हैं, सबकी बुद्धि में आते नहीं।

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(रामचरितमानस ३.३५.९)

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

(योगदर्शन १.२९)

अर्थात् जो ईश्वर का नाम जपता है और अखण्ड, अनन्त, परात्पर परब्रह्म ईश्वर परमात्मा का अखण्ड अनुसन्धान करता रहता है, उसे प्रत्यक् चैतन्य का भी अधिगम होता है, सर्व प्रकार के अन्तराय (विघ्न) का भी अभाव हो जाता है।

इस तरह भगवान् के सम्मुख होने से अस्मृति निवृत्त हो जाती है, भगवत्स्वरूप का बोध हो जाता है, अतएव विपर्यय निवृत्त हो जाता है। विपर्यय के निवृत्त होने से

द्वितीयाभिनिवेश खतम हो जाता है। द्वितीयाभिनिवेश खतम होने से भय खतम हो जाता है। एक ही श्लोक में बन्ध कैसे होता है और मोक्ष कैसे होता है, यह बताया—**'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः·····'**।

इस तरह जीवों ने भगवान् से प्रार्थना की 'अजित ! 'अजां जहि', 'हे अजित ! माया को मारो।'

भगवान् ने कहा—हम माया को मार देंगे, इससे तुम्हारा क्या होगा ? तुम माया को मरवा कर करोगे भी क्या ? तुम माया से घबराते हो न ? तुम मेरी शरणागति स्वीकार करलो, मेरे प्रति प्रपन्न हो जाओ—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(भगवद् गीता ७.१४)

(मुझ परमेश्वर की यह त्रिगुणात्मिका माया दुस्तर है। जो मुझ माया पति परमेश्वर के ही सर्वात्मभाव से शरणागत हो जाते हैं, वे माया से पार हो जाते हैं।)

फिर तुम्हारा माया के विना कोई काम भी तो नहीं चलेगा ? इसलिये माया को मारने से क्या लाभ ? ब्रह्मसाक्षात्कार क्या है, माया का परिणाम बुद्धिवृत्ति ही तो है ? माया न होगी तो कहाँ से आयेगी वुद्धिवृत्ति ? इसलिये कहा—**'मायां वर्णयतोऽमुष्य माययात्मा न मुह्यति'** (भागवत २.७.५३) = जो ईश्वर की माया का वर्णन करता है, अनुमोदन करता है, श्रद्धा पूर्वक श्रवण करता है, उसकी अन्तरात्मा माया से मोहित नहीं होती। माया उसकी सहायता करती है और क्या चाहिये ? इसलिये माया का वर्णन करो, श्रवण करो, माया की भक्ति करो। पर एक बात है, माया स्वतन्त्र नहीं है जो कि केवल उसी का चिन्तन-मनन करो। भगवदीयत्वेन माया का चिन्तन-मनन-श्रवण करो[६९]। माया भगवान् की है—**'मम माया'** (भगवद्गीता ७.१४), **'या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता'** (दुर्गासप्तशती ५.१४)

काम वर्णन-काम क्रीडा का वर्णन कोई अच्छी चीज नहीं है लेकिन श्रीकृष्ण की काम-क्रीडा का वर्णन व्रजवधूजनों के साथ जो परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का विक्रीडन है, इसको जो धीर श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है, वर्णन करता है,

---

६९. 'मायातरणार्थं जिज्ञासुभिश्चिन्त्यते यत्तितीर्षितं भगवति तत्प्रथमं जिज्ञास्यते एव'।
(वंशीधरी, भागवत ११.३.११)

माया तरने की जिन्हें इच्छा है, ऐसे जिज्ञासुओं के लिये माया चिन्तन करने योग्य है, क्योंकि जिसे तरने की इच्छा जिज्ञासा उसका चिन्तन अत्यावश्यक है।

वह भगवान् में पराभक्ति लाभ कर अतिशीघ्र ही हृद्रोग का उन्मूलन कर भगवद्भाव को प्राप्त हो जाता है—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥
(भागवत १०.३३.४०)

इसी तरह विचार करना चाहिये—

शरीर में चेतना कहाँ से आती है, माया से ही आती है न !

'या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते'
(दुर्गासप्तशती ५.१७)

आत्मचैतन्योपेत—आत्मचैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त जो देहव्यापिनी अन्तःकरण की वृत्ति वही चेतना है। उस चेतना के कारण ही हमको शीत-उष्ण का ज्ञान होता है। चेतना न हो तो कोई व्यवहार ही न चले। इसलिये जो कुछ व्यवहार चल रहा है, वह सब चेतना के आधार पर। वह चेतना क्या है ? माया का ही एक अंश है।

धर्म के लिये अर्थ के लिये बुद्धि चाहिये। कथासरितसागर में लिखा है—किसी के पास पूँजी नाम की चीज एक मरी हुई चुहिया थी। किसी की बिल्ली बीमार थी, उसने उसकी मरी चुहिया खरीद ली। उसी पैसे से वह करोड़पति बन गया। अच्छी बुद्धि होती है तो एक फील्डमार्शल एक छोटी-सी सेना की टुकड़ी के द्वारा बड़े से बड़े सेनापतियों को परास्त कर देता है। कर्म का ज्ञान बुद्धि से होता है, बुद्धि न होगी तो कर्म का ज्ञान कैसे होगा ? **श्रुत्वा धर्मान्विजानाति ज्ञात्वा-तदनुतिष्ठति'** धर्म का ज्ञान होता है तो धर्मानुष्ठान में सौविध्य होता है। ज्ञान और भक्ति के लिये बुद्धि चाहिये। जहाँ आत्मसाक्षात्कार बुद्धिवृत्ति का परिणाम है, वहाँ आह्लादिनी-शक्ति-समन्वित जो स्निग्ध अन्तःकरण की भगवदाकाराकारित बुद्धिवृत्ति है (मनोवृत्ति) वही भगवद्भक्ति है। वह बुद्धि भी क्या है, माया—

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता
(दुर्गासप्तशती ५.२०)

कई व्यक्तियों को नींद नहीं आती। एक दिन इन्द्र को नींद नहीं आयी। अश्विनीकुमार वैद्य को बुलाया और कहा—'नींद नहीं आ रही है।'

अश्विनीकुमारों ने कहा—'तुम नींद लेकर क्या करोगे ? नन्दनवन का आनन्द लो, कल्पवृक्ष का आनन्द लो, कामधेनु का आनन्द लो, चिन्तामणि का आनन्द-स्वाद लो, शची, रंभा, उर्वशी आदि देवियों का रस लो। नींद लेकर क्या करोगे ?'

इन्द्र ने कहा—'ये सब चूल्हे में जाँय। बिना नींद के कुछ नहीं सुहाता।' तो भाई बड़े लोगों को नींद नहीं आती। वह नींद क्या है—

या देवी सर्वभूतेषु निद्रा रूपेण संस्थिता नमस्तस्यै ॥ (५.२३)

कई लोगों को भूख नहीं लगती। क्षुधा कैसे आवेगी? अन्नवान् और अन्नाद होना बड़ा कठिन है। कई लोग अन्नाद खूब हैं तो अन्नवान् नहीं, कई लोग अन्नवान् हैं पर अन्नाद नहीं। थाली में रक्खे हुए लड्डू को एटम बम समझते हैं। भगवान् की कृपा से माया भगवती क्षुधा के रूप में प्राप्त होती है—

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता नमस्तस्मै ॥ (५.२६)

अच्छा शान्ति चाहिये कि नहीं? स्वाराज्य मिल गया, साम्राज्य मिल गया, वैराज्य मिल गया, अनन्त धनधान्य मिल गया, पर शान्ति ही नहीं? शान्ति कहाँ से मिलेगी?

या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता (५.४७)

इसी तरह लज्जा चाहिये। निर्लज्ज आदमी कोई आदमी है?

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता (५.४४)

कहां तक कहें, जीवन में जितनी अपेक्षित चीजें हैं, सब माया भगवती की कृपा से ही उपलब्ध हो सकती हैं। शक्ति, क्षान्ति, जाति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि और मातृ आदि सभी रूपों में माया भगवती ही अवस्थित हैं। इसलिये 'मायां वर्णयतः'।

(२) प्रह्लाद-चरित :—

भगवान् की अनेक मंगलमयी लीलायें हैं। अनेक ढंग के भगवान् के भक्त हुए और भगवान् का अनेक रूपों में आविर्भाव हुआ। भक्तराज प्रह्लाद ने भगवान् की आराधना की। भगवान् की आराधना में उसकी बड़ी लगन थी। कई लोग कूटनीतिज्ञ होते हैं। वे कहते हैं, 'क्या हर्ज था प्रह्लाद मन-ही-मन भगवान् का नाम ले लेता।' उनका ऐसा कहना कूट नीति है। ऐसा होता तो नृसिंह रूप से भगवान् का आविर्भाव न होता। गोस्वामी जी लिखते हैं—

काढ़ि कृपान, कृपा, न कहूँ पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
'राम कहाँ?', 'सब ठाउँ हैं', 'खंभ में?', 'हाँ' सुनि हाँक नृकेहरि जागे।
बैरी बिदारि भए बिकराल, कहे प्रह्लादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी 'तुलसी' तब तें सब पाहन पूजन लागे ॥

(कवितावली १२८)

सेवक एक ते एक अनेक भए तुलसी तिहु ताप न डाढ़े।
प्रेम बंदौ प्रह्लादहिं को जिन पाहन ते परमेश्वर काढ़े ॥
(कवितावली १२७)

प्रह्लाद की प्रीति को देखकर पाषाण से भगवान् का प्रादुर्भाव हो गया। घन पाषाण में द्वणुकादि के भी सन्निविष्ट होने की संभावना नहीं होती। उसी से भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ नृसिंह रूप में।

हिरण्यकशिपु ने कहा—"प्रह्लाद ! तू किसके सहारे से, किसके बल के घमंड पर मेरी आज्ञा ठुकराता है ? मैं कहता हूँ कि हरि-विष्णु आदि कुछ नहीं है, उधर मन मत लगा। मुझे मान।"

प्रह्लाद ने बड़ा उत्तम उत्तर दिया—'वह मेरा ही बल नहीं है, संसार में जितने बलवान् हैं सबका एकमात्र बल वही है।'

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजः सहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥
जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात् तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम् ॥
(भागवत ७.८.८-१०)

(दैत्यराज ! ब्रह्मा से लेकर तिनके पर्यन्त सब छोटे-बड़े, चर-अचर जीवों को भगवान् ने ही अपने वश में कर रक्खा है। न केवल मेरे और आपके, बल्कि संसार के समस्त बलवानों के बल भी केवल वही हैं। वे ही महापराक्रमी सर्वशक्तिमान् प्रभु काल हैं तथा समस्त प्राणियों के इन्द्रियबल, मनोबल, देहबल, धैर्य एवं इन्द्रिय भी वही हैं। वही परमेश्वर अपनी शक्तियों के द्वारा इस विश्व की रचना, रक्षा और संहार करते हैं। वे ही तीनों गुणों के स्वामी हैं। आप अपना यह आसुर भाव त्याग दीजिये। अपने मन को सबके प्रति समान बनाइये। इस संसार में अपने वश में न रहने वाले **कुमार्गगामी मन के अतिरिक्त और कोई शत्रु है ही नहीं। मन में सबके प्रति समता का भाव लाना ही भगवान् की सबसे बड़ा पूजा है**)।

प्रह्लाद की दृष्टि में केनोपनिषद् की कथा थी। केनोपनिषद् में आख्यान है—देवासुर संग्राम होने लगा। देवताओं ने सर्वान्तरात्मा, सर्वेश्वर, अशरणशरण भगवान् को स्मरण किया। विपद्ग्रस्त प्राणी को भगवान् याद आते हैं। भगवान् के तेज से उपबृंहित होकर उन्होंने असुरों को जीत लिया। तब उन्हें घमण्ड हो गया—'अपने अस्त्रबल, शस्त्रबल, सैन्यबल, संघटन बल, बाहुबल, बौद्धबल के प्रभाव से

हमने असुरों को जीता है।' आपस में वे एक दूसरे से कहने लगे—'वाह ! अस्त्र-शस्त्रों की महिमा देखा कि नहीं ?'

'असुरिति प्राणनाम' असु माने प्राण। प्राणोपलक्षित अनात्मा में जो रमण करते हैं वे असुर हैं—**'असु अनात्म-जातम्, तत्र ये रमन्ते ते असुराः'।**

'परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः' (शाङ्करभाष्य ई० ३) **'अद्वय** परमात्मभाव की अपेक्षा से देवतादि भी असुर ही हैं।' सु = सुष्ठु शोभनं परब्रह्म, र = तत्र ये रमन्ते ते सुराः' जो भगवान् में रमण करते हैं वे सुर हैं।

भगवान् सोचने लगे—"ये भी असुर हो गये। इनको हमारे बल का ध्यान नहीं है। अपने अस्त्रबल, शस्त्रबल, सैनिकबल, संघटनबल, बाहुबल और बौद्धबल का ध्यान है॥"

परन्तु भगवान् जिस पर कृपा करते हैं, उसका घमण्ड जल्दी दूर कर देते हैं। जिस पर कृपा नहीं करते उसका घमण्ड बढ़ने देते हैं। नारद जी को अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का घमण्ड हो गया। भगवान् ने, 'नारद जी के अहंकार के तरु को उखाड़ फेंकना चाहिये' ऐसा सोचा और उसके उपयुक्त रूपक किया—

करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अङ्कुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥
(रामचरितमानस १.१२८.४.६)

भगवान् देवताओं के सामने अनन्त तेजःपुञ्ज एक यक्ष के रूप में प्रकट हुए। देवताओं ने देखा तो घबड़ा गये। मन में हुआ—'कहीं यह हमारे पक्ष का हुआ तब तो विजय बद्धमूल, अगर कहीं विपक्ष का यह हुआ तो हमारी विजय खतरे में पड़ जायगी।" अग्नि को कहा—'अग्नि देखो जाकर यह कौन है ?' अग्नि गये। भगवान् का दर्शन किया। कुछ पूछने की हिम्मत ही न पड़ी।

भगवान् ने ही पूछा—'कोऽसि' = 'कौन है ?" अग्नि कई उपाधियों का पुछल्ला-लगाकर बोले—'हम अग्नि हैं, वैश्वानर-जातवेदा हैं।'

भगवान् ने कहा—"अच्छा, अच्छा; जातवेदा जी ! आप क्या कर सकते हैं, कौन सा चमत्कार आप में है ?"

अग्नि बोले—"सारे संसार को क्षणभर में भस्म कर दूँ।"

भगवान् बोले—"अभी सारे संसार को तो भस्म कर देने का मौका है नहीं। यह तिनका है, इसी को जलाओ।"

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति

(केनोपनिषद् ३.६)

अग्नि ने बड़ा वेग भरा, बड़ा वेग भरा; किन्तु तिनका झुलसा ही नहीं। शरमिन्दा होकर लौट आया और बोला—'यह यक्ष कौन है, इस बात को नहीं जान सका'—

तदुपप्रेयाय सर्वजनेव तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति।

(केनोपनिषद् ३.६)

देवताओं ने वायु को भेजा। वायु भी गये। उनसे भी भगवान् ने वैसे ही पूछा—"आप कौन हैं ?"

वायु ने कहा—"हम मातरिश्वा हैं महाराज ! यजुर्वेद का प्रादुर्भाव हम से ही हुआ है।"

वायु से यजुर्वेद का प्रादुर्भाव, अग्नि से ऋग्वेद का प्रादुर्भाव और सूर्य से सामवेद का प्रादुर्भाव हुआ है।

भगवान् ने कहा—"अच्छा-अच्छा, आप क्या कर सकते हो ?"

वायु ने कहा—"कहो तो संसार को क्षणभर में उड़ाकर जहन्नुम में भेद दूँ।"

भगवान् ने कहा—"जाने दो (रहने दो), संसार को उड़ाने का प्रसंग अभी नहीं है। जिस तृण को तुम्हारा अग्नि जला नहीं सका, तुम जरा उसको उड़ा दो।"

वायु ने बड़ा वेग भरा, वह तृण भी टस-से-मस नहीं हुआ। वायु भी बहुत शरमिन्दा हुआ। तब इन्द्र आया। इन्द्र से तो भगवान् बोले ही नहीं, अन्तर्धान हो गये।

इन्द्र ने सोचा—'अग्नि और वायु से यक्ष बोला तो सही, हमको तो किसी खेत की मूली नहीं समझा, हमसे बोला ही नहीं।'

महान् मानी इन्द्र वहीं तप करने लगा। बहुत तप किया। अन्त में अनन्त ब्रह्माण्डजननी राजराजेश्वरी हिमवान् की दुहिता (बेटी) हैमवती वहाँ आईं। इन्द्र ने उनसे पूछा—'माँ यह कौन था ?'

उन्होंने कहा—'ब्रह्म था, जिसने तुम्हें महिमान्वित किया है।'

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति। (केनोपनिषद् ३.१२)

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति। (४.१)

यह ब्रह्म पावर हाउस है। जैसे--बिजली के लट्टुओं में प्रकाश कब तक ? जब तक पावर हाउस से कनेक्सन है तब तक ? विद्युत् केन्द्र का सम्बन्ध कटते ही लट्टुओं का प्रकाश खतम, कल-कारखाने खतम। वैसे ही हममें, तुममें, सबमें जितनी क्रिया-शक्ति, ज्ञान-शक्ति है, सबका आधार वही है, सबका मूल वही है। महान् पावर हाउस वही है, उसी में सब कुछ है। जिससे अनन्त ब्रह्माण्ड का भरण-पोषण होता है, वही ब्रह्म है।

प्रह्लाद की दृष्टि में वही केनोपनिषद् का ब्रह्म था। वही पहलवानों का पहलवान है। जैसे ऊष्मा और प्राण के बिना पहलवान भी मुर्दा। रावण कुम्भकर्ण, हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, शुम्भ-निशुम्भ ये जितने भी बलवान-पहलवान् शूरवीर हुए हैं—ये तभी तक रहे जब तक अग्नि और वायु (ऊष्मा और प्राण) इनमें बने रहे। फिर साक्षात् अग्नि और वायु की भगवान् के सम्मुख यह दशा हुई तो दूसरे की क्या दशा ?

प्रह्लाद ने कहा—'राजन्! आपका भी बल वही है। अन्य जो महान् बलवान् हैं, उन सब का भी एकमात्र आधार वही।'

इस तरह भक्तराज प्रह्लाद ने बहुत कुछ कोशिश की हिरण्यकशिपु रास्ते पर आ जाय; परन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

प्रह्लाद ने कहा—"हमारे भगवान् सर्वत्र हैं और सर्वस्वरूप हैं।"

हिरण्यकशिपु ने कहा—"कौन है वह मेरे अतिरिक्त जगदीश्वर यदि वह सर्वत्र है तो इस खंभे में क्यों नहीं दीखता"—

यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥

(भागवत ७.८.१३)

हिरण्यकशिपु के ऐसा कहने पर अपने भृत्य-भक्तराज प्रह्लाद के भाषित को सत्य करने के लिये नृसिंह भगवान् प्रकट हुए—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

(भागवत ७.८.१८)

(इसी समय अपने सेवक प्रह्लाद की वाणी सत्य करने लिये और समस्त पदार्थों में अपनी व्यापकता दिखाने के लिये सभा के भीतर उसी खंभे में बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए। वह रूप न तो पूरा-पूरा सिंह का था और न मनुष्य का ही॥)

वस्तु को सिद्ध करने के लिये पञ्चावयव वाक्य चाहिये। 'पर्वतो वह्निमान्' प्रतिज्ञा वाक्य, 'धूमात्' हेतु वाक्य, 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्', उदाहरण, 'तथा चायं' उपनय, 'तस्मात् तथा' निगमन।

यह तो भक्तराज ने प्रतिज्ञा करली—'भगवान् सर्वत्रास्ति, सर्वस्वरूपोप्यस्ति'= 'हमारा भगवान् सर्वत्र है, सर्वस्वरूप भी है' इसके साथ ही हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन[७०] का भी उन्हें उपन्यास करना चाहिये था।

प्रह्लाद भक्तराज थे। पञ्चावयव का उपन्यास कर सकते थे। भगवान् ने सोचा—'इतना ही बहुत है। भक्त ने प्रतिज्ञा की; उसे प्रमाणित कर दूँ।' भक्तराज की प्रतिज्ञा को प्रमाणित करने के लिये भगवान् स्वयं प्रत्यक्ष प्रकट हो गये। भगवान् ने स्वयं प्रत्यक्ष होकर भक्तराज की प्रतिज्ञाको पूर्ण किया।

हिरण्यकशिपु ने कहा था—यदि तुम्हारा हरि इस स्तम्भोदर में भी है तो दीखता क्यों नहीं!

भक्तराज प्रह्लाद ने प्रभु का स्मरण किया—

भक्तिश्चेत् पुरुषोत्तमे यदि दृढ़ा वेदाः प्रमाणं यदि।
स्तम्भाभ्यन्तरवृत्तिनो भगवतस्स्यात्तूर्णमालोकनम्॥

अर्थात् अगर पुरुषोत्तम भगवान् सर्वेश्वर में हमारी भक्ति है और वेद-शास्त्रों का अखण्ड-अव्याहत प्रामाण्य है तो इस स्तम्भ के भीतर के भगवान् शीघ्र प्रकट हों।

फिर क्या था? भक्त-वत्सल भगवान् से रहा न गया। भयङ्कर गड़गड़ाहट हुई और उसी पाषाण के भीतर से सिंहाद्रिचूडामणि प्रकट हुए।

---

७०. भगवान् सर्वत्र हैं, सब जगह से प्रकट हो सकने के कारण, जो-जो सब जगह प्रकट होता है वह-वह सर्वत्र होता है जैसे अग्नि, आकाश (जो सब जगह नहीं होता वह सर्वत्र प्रकट भी नहीं हो सकता जैसे घट), भगवान् सर्वत्र प्रकट होने वाले हैं, इसलिये सर्वत्र हैं।

भगवान् सर्व हैं, सर्व रूप में प्रकट हो सकने के कारण, जिसका-जिसका सर्वरूपों में प्राकट्य संभव है, उसका-उसका सर्वरूप होना भी संभव है जैसे त्रिगुणमयी माया (जो सर्व नहीं वह सर्व रूपों में प्रकट भी नहीं हो सकता जैसे घटादि), भगवान् सर्व रूपों में प्रकट हो सकते हैं, इसलिये सर्व हैं।

खंभे से प्रकट होकर भगवान् ने प्रह्लाद की इस प्रतिज्ञा को चरितार्थ किया कि 'भगवान् सर्वत्र हैं'।

नृसिंह रूप में प्रकट होकर भगवान् ने प्रह्लाद की इस प्रतिज्ञा को चरितार्थ किया कि 'भगवान सर्व रूप है'।

चित्सुखाचार्य ने मङ्गलाचरण किया है—

स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवी,
यः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्ट विश्वात्मतः।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्‌दृष्टप्रमाणं हरिः,
सोऽव्याद् वः शरदिन्दुसुन्दरतनुः सिंहाद्रिचूडामणिः॥

(तत्त्वप्रदीपिकायाम् १.१)

(जिसने खम्भे के मध्य निवासकर अपनी व्यापकता, नरसिंह शरीर धारणकर अपनी विश्वरूपता सुव्यक्त कर दी, वह प्रह्लाद-वचन की सार्थकता में प्रत्यक्ष प्रमाण-भूत, शारदचन्द्र जैसे निर्मल कलेवर वाला, सिंह-गिरिभूषण भगवान हरि आप सबकी रक्षा करे।)

'पचि विस्तारे' विस्तृतं आननं यस्य=जिसका आनन विस्तृत हो, उसे पञ्चानन कहते हैं। अथवा पाँच जिसके आनन हों उसे पञ्चानन कहते हैं। एक मुख और चार पंजे—इन पाँचों से हमला करता है इसलिये सिंह को पञ्चानन कहते हैं। पञ्चजन मनुष्य को कहते हैं। पञ्चानन-पञ्चजन अर्थात् नरसिंह भगवान्[७१]। नर और सिंह दोनों रूपों में प्रकट हो गये भगवान्। सकलविरुद्ध धर्माश्रय हैं भगवान्। 'अणोरणीयान्' भी हैं और 'महतो महीयान्' भी हैं:—**'अणोरणीयान्महतोमहीयान्'** (कठोपनिषद् १.२.२०) वे सिंह भी हैं और नर भी हैं। इस तरह भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ।

हिरण्यकशिपु ने मृत्यु से बचने का बहुत इन्तजाम कर रक्खा था—भीतर न मरूँ; बाहर न मरूँ, आकाश में न मरूँ, धरती पर न मरूँ, अस्त्र से न मरूँ, शस्त्र से न मरूँ, दिन में न मरूँ, रात में न मरूँ……। भगवान् ने उसे मारने का भी सब इन्तजाम कर रक्खा—न भीतर न बाहर, देहली पर, न आकाश में न पृथिवी पर, जंघा पर, न दिन में न रात में, सन्ध्या में, न अस्त्र से न शस्त्र से, नाखूनों से विदीर्ण कर डाला। फिर भी भगवान् का कोप इतना उग्र था कि वह शान्त ही नहीं हो रहा था। उनके सामने जाने की हिम्मत किसी की नहीं पड़ती थी। ब्रह्मा जी भी

---

७१. यः पचानन-पाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्ट विश्वात्मतः=पञ्चाननसम्बन्धि पाञ्चाननम्, पञ्चाननः सिंहः पञ्चसु दिक्ष्वाननमस्य निपरिवर्तत इति व्युत्पत्त्या विस्तृतास्यत्वाद्वा 'पचि विस्तारे' इतिधातुपाठाच्च। पञ्चजना मनुष्याः, 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इति अमरसिंहेनैवोक्तत्वात्, 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासाभिधानाच्च। तत्संबन्धि-पाञ्चजन्यम्। पाञ्चाननं च तत्पाञ्चजन्यं चेति पाञ्चाननपाञ्चजन्यं तादृशं वपुः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुः नरसिंहात्मकमित्यर्थः। तेन वपुपा व्यादिष्टा विशेषेणोक्ता विश्वात्मता विश्वस्वरूपता येन, यस्येति वा स तथोक्तः।

(नयनप्रसादिनी व्याख्या)

जाने का साहस नहीं कहते थे। लक्ष्मी जी से कहा—'माता (मातः!) आप जाओ। आप तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री भगवती हो।'

लक्ष्मी जी ने कहा—"हमने भी ऐसा उग्र रूप कभी देखा नहीं, डर लगता है।"

फिर ब्रह्मा जी ने प्रह्लाद से कहा—'बेटा, तुम्हीं जाओ।'

सिंह से दुनियाँ डरे पर उसका बच्चा कहाँ डरता है? सिंह का शावक नहीं डरता, निर्भय होता है। बड़ी निर्भयता के साथ भक्तराज प्रह्लाद गये। भगवान् के चरणों में मस्तक रख दिया। भगवान् ने बड़ा प्यार किया और कहा—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत्
क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोचितो हि विषयोऽयमभूतपूर्वः
क्षन्तव्यमङ्ग! यदि मे समये विलम्बः॥

अर्थात् कहाँ यह तुम्हारा कोमल-कान्त-कमनीय सुन्दर पञ्चवयस्क मंगलमय स्वरूप और कहाँ प्रमत्त-दैत्य-कृत दारुण (भीषण) यातनाएँ। यह अभूतपूर्व विषमता देखने में आई। **'द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः'** दो क्व शब्द अभूतपूर्व विषमता के सूचक हैं। वत्स! तुम्हारे बुलाने पर मैंने जल्दी-से-जल्दी आने का प्रयत्न किया पर कुछ बिलम्ब हुआ हो तो क्षमा करना।

सब देवताओं ने भगवान् की स्तुति की, प्रह्लाद ने भी भगवान् की स्तुति की। भगवान् चाहते थे भक्तराज प्रह्लाद कुछ वरदान माँग लें।

प्रह्लाद ने कहा—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव॥
(भागवत ७.१०.६)

अर्थात् 'आप हमारे आत्माराम-पूर्णकाम स्वामी हैं, हम आपके निष्काम भक्त हैं। हमारी आपकी प्रीति सौदागरों की प्रीति नहीं है। कुछ आप हमसे चाहें, कुछ हम आपसे चाहें ऐसा नहीं।'

भगवान् ने कहा—"प्रह्लाद! अमोघ-दर्शन है मेरा, कुछ माँगना चाहिये।"

प्रह्लाद ने कहा—'अच्छा, अगर देना है तो यही वरदान दें कि मेरे हृदय में कभी कामना के अंकुर ही न पैदा हो?"

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरवर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः ।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना ॥
(भागवत ७.१०.७-८)

(मेरे वरदानिशिरोमणि स्वामी ! यदि आप मुझे मुँह माँगा वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में कभी किसी कामना का बीज अंकुरित ही न हो। हृदय में किसी भी कामना के उदय होते ही इन्द्रियाँ, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सब-के-सब नष्ट हो जाते हैं ।)

लेकिन फिर प्रह्लाद ने भगवान् के मन का भाव समझ लिया कि भगवान् चाहते हैं, 'यह कुछ माँगे', प्रह्लाद ने जो वर माँगा उसे भी उन्होंने स्नान करके, संध्या करके, सूर्यार्घ्य-सूर्योपस्थान करके पूजार्चा भगवान् की करके प्रतिदिन मांग लेने का नियम बना लिया—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥
(भागवत ५.१८.९)

(नाथ ! विश्व का कल्याण हो, दुष्टों की बुद्धि शुद्ध हो, सब प्राणियों में परस्पर सद्भावना हो, सभी एक दूसरे का हित चिन्तन करें । हमारा मन शुभ मार्ग में प्रवृत्त हो और हम सबकी बुद्धि निष्काम भाव से श्रीहरि में प्रवेश करे ।)

भक्तराज प्रह्लाद ने कहा—'सारे विश्व का कल्याण हो' अकारण-करुण-करुणावरुणालय सर्वेश्वर । 'यह वरदान दो ।'

भगवान् ने कहा—"संसार में जहरीले बिच्छू हैं, जहरीले सर्प हैं, उन सबका अभ्युदय हो जायगा तो दुनियां खतरे में पड़ जायगी । **'मोदेत साधुरपि वृश्चिक-सर्पहत्या'** – साधु पुरुष भी वृश्चिक और सर्प की हत्या से प्रसन्न होते हैं, आप सबका अभ्युदय सबका कल्याण चाहते हो ।"

भक्तराज प्रह्लाद ने कहा—"हम ठीक कहते हैं ।"

भगवान्—"फिर खलों का क्या होगा ?"

प्रह्लाद—"खल भी प्रसन्न हों ।"

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यः मुक्तस्त्वन्यान् विमोचयेत् ॥

अर्थात् दुर्जन प्राणी सज्जन बन जाँय, सज्जन प्राणी शान्ति लाभ करें, शान्त-प्राणी बन्धनों से विमुक्त हों, मुक्त प्राणी दूसरों की मुक्ति के काम में लग जाँय।

यह भारतीय-सभ्यता है। नाक पर फुंसी हो गई तो नाक कटा देना बुद्धिमानी नहीं। सिर में दर्द हुआ तो डॉ० साहब ने कहा—'सिर कटा दो तो आपका दर्द खतम।' तो क्या सिर कटा के सिर का दर्द दूर करें! सिर बना रहे, सिर का दर्द दूर हो भाई। **सिर कटा के सिर का दर्द दूर करना बुद्धिमानी नहीं। नाक कटा के नाक की फुंसी दूर करना बुद्धिमानी नहीं।**

वेद कहता है—'प्राणिमात्र अमृत परमेश्वर के पुत्र हैं'—**अमृतस्य पुत्राः'** (ऋग्वेद संहिता १०, १३, १) इसलिये सहज समानता, सहज स्वतन्त्रता, सहज भ्रातृता है। पर देह की दृष्टि से नहीं, शक्ति की दृष्टि से नहीं। बुद्धि कहाँ सबकी समान? एक तीन विषय का एम० ए० एक मिडिल फेल। भोजन भी सबका समान नहीं—एक तीन सेर लड्डू खाकर हजम कर डाले, एक एक लड्डू भी नहीं खा सके। एक बाँगडू दो सेर घी पी जाता है 'घट-घट' (गट-गट) और सब हजम कर डालता है और एक थोड़ा-सा घी भी नहीं हजम कर पाता है। शक्ति भी समान नहीं। एक तीन-तीन मोटर रोककर खड़ा हो जाता है और एक घर की बकरिया को भी रोक नहीं पाता। इस तरह बुद्धि, भोजन, शक्ति की दृष्टि से समानता नहीं है। इसी तरह आजादी-स्वतन्त्रता कहाँ है जीव में, हाँ भूखे मरने की स्वतन्त्रता अवश्य है, भले ही भूखों मरलो। बाकी दरिद्रता, दीनता, परतन्त्रतादि के बन्धन से विमुक्त हो जाओ, मौत के मुख में न जाओ, बुढ़ापे के पेट में न फँसो - यह स्वतन्त्रता कहाँ है, किसमें है? देह की दृष्टि से नहीं, इन्द्रियों की दृष्टि से नहीं, मन-बुद्धि-अहंकार की दृष्टि से नहीं; लेकिन एक अजर, अमर, अखण्ड विशुद्धात्मा है, वह परमात्मा का पुत्र है, चेतन अमल सहज सुखराशि है, उसी दृष्टि से समानता और स्वतन्त्रता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(रामचरित मानस ७.११६.२)

आत्म-दृष्टि से ही समानता संभव है। यद्यपि यहाँ देखते हैं कि चूहा को खाने बिल्ला दौड़ता है, बिल्ला को खाने कुत्ता दौड़ता है, कुत्ता को खाने बघर्रा दौड़ता है, बघर्रा का पीछा सिंह करता है और सिंह को शार्दूल उठाकर चम्पत हो जाता है। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, उन्हें भी उनसे बड़ी मछलियाँ खा जाती हैं। इसी को 'मात्स्यन्याय' कहते हैं। इसी तरह परस्पर उत्पीड़न-शोषण की व्यवस्था चलती है। इन सबके बावजूद 'अमृतस्य पुत्राः' न भूलो। साथ ही—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ वासी॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
(रामचरित मानस १.७.१,२)

प्रश्न है—जब सभी ईश्वर के अंश हैं, फिर क्यों गड़बड़ी हुई ?

उत्तर है—आकाश से गिरा हुआ पानी निर्मल, निष्कलंक परम पवित्र था, परन्तु गंदी भूमि के सम्पर्क से गन्दा हो गया—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी।
(रामचरितमानस ४.१३.६)

श्रावण-भादो में गङ्गा का जल भी गन्दा हो जाता है। लोग घर में लाकर निर्मली बूटी डालते हैं, फिटकरी डालते हैं जल फिर से निर्मल निष्कलंक हो जाता है। ऐसे ही समाज में आज का शोषक कल पोषक बन जाता है। कल का पोषक आज शोषक बन जाता है। कल का डाकू बाल्मीकि आज महर्षि बाल्मीकि हो सकता है—

जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ शुद्ध करि उलटा जापू॥
(रामचरित मानस १.१८.५)

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥
(रामचरित मानस २.१९३.८)

इन सब दृष्टियों से ईश्वर का अंश यह आत्मा निर्मल-निष्कलंक पर पवित्र है। गड़बड़ी अविद्या, काम, कर्म के सम्पर्क से हुई है। अविद्या काम और कर्म का सम्पर्क हटाया जा सकता है भगवन्नामामृत पान के द्वारा, भगवच्चरितामृत पान के द्वारा और भी विविध उपायों के द्वारा सारे अनर्थों की निवृत्ति हो सकती है। इसलिये प्रह्लाद ने कहा—**'स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदताम्'** अर्थात् दुर्जनता मिटकर सज्जनता आ जाय ? आप अन्तर्यामी हो, सर्वेश्वर हो, छू मन्त्र कर दो, सबकी बुद्धि बदल जाय, आपके लिये क्या कठिनाई है ? सब प्राणी आपस में एक-दूसरे का शिव चिन्तन करें, शिवानुसन्धान करें। कोई किसी का अनिष्ट चिन्तन न करें। सब एक-दूसरे का शुभ चिन्तन करें। हम सबका मन भद्रदर्शी हो, अभद्र चिन्तन न करें। दूसरे का अभद्र तो उसके भाग्यानुसार होगा, न होगा, लेकिन हमारा तो अकल्याण उसी दिन हो जाता है, जिस दिन हम दूसरे का अनिष्ट चिन्तन करते हैं। मन माया का अंश है, माया में जो चमत्कार है वही चमत्कार मन में हैं। क्योंकि माया क्षण में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का निर्माण कर देती है, क्षण में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का पालन, संहरण सब कुछ करती है। ऐसे मन भी समर्थ है। बड़े-बड़े योगीन्द्र-

मुनीन्द्र-अमलात्मा-परमहंस विश्वामित्र, वशिष्ठादि संकल्प मात्र से कितनी-कितनी वस्तुओं का निर्माण कर सके। ऋषि-महर्षियों के लिये कुछ भी असंभव नहीं। उनके शब्दों में यह बल है कि घट को पट कहें तो झटपट घट पट बन जाय। रम्भा को पहाड़ी कह दिया तो पहाड़ी बन गयी। मेनका को शैली कह दिया तो मेनका शैली बन गयी। इस तरह मन में बहुत चमत्कार है, परन्तु दुराचार, दुर्विचार, पापाचार से मन की शक्ति क्षीण हो जाती है। सदाचार, सद्विचार, सद्धर्म सत्कर्म के प्रभाव से मन की संकल्प शक्ति सुदृढ़ होती है। अगर दूसरे का अनिष्ट चिन्तन करते हैं तो मन की संकल्प-शक्ति क्षींण हो जाती है। इसलिये हमारा मन भद्रवस्तु का अनुसन्धान करे, भगवत्स्वरूप में प्रविष्ट हो।

श्रीभगवान् ने प्रह्लाद को बहुत-बहुत वरदान दिया। हर समय भगवान् उनकी रक्षा में ही रहते हैं। भक्तराज ने स्पष्ट बताया—

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह ! नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्टस्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥

(भागवत ७.९.१९)

हे नृसिंह ! इस लोक में दुःखी जनों का दुःख मिटाने के लिये जो उपाय माना जाता है, वह आपके द्वारा उपेक्षा करने पर एक क्षण के लिये ही होता है। यहाँ तक कि माता-पिता भी बालक की रक्षा नहीं कर सकते, ओषधि रोग नहीं मिटा सकती और समुद्र में डूबते हुए को नौका नहीं बचा सकती।)

लोग कहते हैं—'बालक की शरण माता-पिता हैं। माता-पिता न हों तो बालक मर जाय'। लोग कहते ही हैं—'मर गया लड़का, क्योंकि अनाथ था—कोई माता-पिता नहीं थे।' परन्तु कई बार ऐसा होता है कि माता-पिता पुत्र की रक्षा का हर संभव उपाय करते हैं, परन्तु पुत्र मर जाता है। **हे नृसिंह ! बालस्य पितरौ शरणं इति न।'** आपका अनुग्रह हो तभी माता-पिता बालक की रक्षा कर सकते हैं। 'आर्त की शरण ओषधि है', ऐसा भी नहीं। बड़े-बड़े सम्राट्, स्वराट्, विराट् हजारों ओषधि चन्द्रोदय वसन्तमालती, मृगाङ्क—उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट महौषधि का सेवन करते हुए भी मर जाते हैं। इसलिये अगद आर्त की शरण है, ऐसा भी नहीं। 'समुद्र में डूबते हुए प्राणी का सहारा—शरण-नाव है' ऐसा भी नहीं। नौकारूढ़ भी डूबते हुए देखे जाते हैं।

प्रभो ! आप देवाधिदेव हैं। सबके प्रेरक और प्रकाशक हैं। माया मोहित जीव आपके महत्त्व को नहीं समझ पाते, तभी तो वे बलवान् मन को जीत नहीं पाते और संसार-चक्र में ही फँसे रहते हैं। वे मायामय विषय सुख को ही सर्वस्व समझ कर उसकी प्राप्ति के लिए ही सारे संसार का भार ढोते रहते हैं।

भगवन् ! मैं न तो उनके समान इन्द्रियों की दासता स्वीकार कर विषय सुख में ही फँसना चाहता हूँ और न केवल अपनी मुक्ति के लिये संलग्न रहकर आर्तों की उपेक्षा ही कर सकता हूँ, क्योंकि आप जगद्गुरु हैं, मुक्तिप्रदायक प्रभु हैं, मैं इन्हें छोड़कर अकेले ही मुक्त नहीं होना चाहता ।

को न्वत्र तेऽखिलगुरो भगवन्प्रयास—
उत्तारणेऽस्य भवसम्भवलोपहेतोः ।
मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो
किं तेन ते प्रियजनाननु सेवतां नः ॥

(भागवत ७.९.४२)

(जगद्गुरो ! आप इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा पालन करने वाले हैं। ऐसी अवस्था में इन जीवों को इस भव नदी के पार उतार देने में आपको क्या प्रयास है ? दीनजनों के परम हितैषी प्रभो ! मूढ़ ही महान् पुरुषों के विशेष अनुग्रह पात्र होते हैं। हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम आपके प्रियजनों की सेवा में लगे हैं ।)

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

(भागवत ७.९.४४)

(बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तो प्रायः अपनी मुक्ति के लिये निर्जन वन में जाकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं। वे दूसरों की भलाई के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते। मेरी दशा तो कुछ और ही हो रही है। मैं इन भूले हुए असहाय गरीबों को छोड़कर अकेला मुक्त नहीं होना चाहता और इन भटकते हुए प्राणियों के लिये आपके अतिरिक्त और कोई सहारा नहीं दिखायी देता ।)

कई महामुनीन्द्र ऐसे होते हैं कि वे परोपकार में नहीं लगते। अपनी मुक्ति की कामना से निर्जन बन में जाकर मौन धारण करके बैठ जाते हैं। असल में वे ठीक ही करते हैं। जो स्वयं भ्रष्ट है वह दूसरों को भी भ्रष्ट करता है। जो स्वयं तीर्ण (तरा) है वह दूसरों को भी तार सकता है **'स्वयं तीर्णः पराँस्तारयति'**, **'स्वयं भ्रष्टः परान्भ्रंशयति'** स्वयं को तारके दूसरों को तारा जा सकता है। इसलिये पहले विजन वन में जाकर मौन धारण करें और आत्म-कल्याण कर लें, फिर दूसरे के कल्याण की बात सोचें ।

परन्तु प्रह्लाद ने कहा—'हम मुक्ति नहीं चाहते। पहले इन सबकी मुक्ति हो, **फिर मेरी मुक्ति।'**

भगवान् ने कहा—'करो फिर इन सबकी मुक्ति का इन्तजाम।'

प्रह्लाद—"परन्तु महाराज आपके बिना क्या हो? **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** समर्थ तो आप हैं, आपको छोड़ के दूसरा कोई शरण नहीं है प्राणिमात्र की।

इसलिये भगवत्प्रपत्ति—भगवत्-शरणागति यह बहुत ऊँची है। भगवान् ने गीता में भी यही कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(भगवद्गीता १८.६६)

(तुम सब धर्मों को त्यागकर, मुझे सर्वात्मा ईश्वर जानकर मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुझे धर्माधर्म रूप बन्धन से छुड़ा दूँगा—आत्मस्वरूप प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार का नाश कर दूँगा, शोक मत कर।)

'मामेकं शरणं व्रज' = मामेकमद्वितीयं शरणमाश्रयं व्रज निश्चिनु, यथा घटाकाशस्याश्रयो महाकाशः तरङ्गस्याश्रयो महासमुद्रः।

सब धर्मों का परित्याग करके मुझ एक अद्वितीय अखण्ड परमात्मा की शरण ग्रहण करो। शरण क्या है? 'शरणं गृहरक्षित्रोः' शरण का अर्थ है आश्रय और रक्षिता। 'मामेकं अद्वितीयं परमात्मानं शरणं = आश्रयं, व्रज = अवगच्छ। 'व्रज गतौ' मुझ एक अनन्त अखण्ड परात्पर परमात्मा को ही अपना आश्रय जानो, जैसे तरंग अपना आश्रय महासमुद्र को जाने, जैसे घटाकाश अपना आश्रय महाकाश को जाने, जैसे उत्पल की नीलिमा अपना आश्रय उत्पल को जाने, जैसे कटक, मुकुट, कुण्डल अपना आश्रय अखण्ड सुवर्ण को जानें। इस प्रकार से **'मां एकं अद्वितीयं परमात्मानं शरणमाश्रयं व्रज अवगच्छ निश्चिनु'** यही कल्याण का रास्ता है। 'भगवान् ही हमारे आश्रय हैं, तरंग का आश्रय महासमुद्र जैसे है।' यह निश्चय करना चाहिये। जीवात्मा के आश्रय-अनन्त ब्रह्माण्डाधिष्ठान स्वप्रकाश परात्पर परब्रह्म हैं। अथवा 'शरणं' माने 'रक्षितारं' है। **'मां एकं परमात्मानं रक्षितारं निश्चिनु'** = मुझ एक अखण्ड परमात्मा को ही अपना रक्षिता जानो। भगवान् ही रक्षिता हैं। एक बात है—**'स एनमविदितो न भुनक्ति'** (बृ० उ० १।४।१५) वेद कहता है—'देवता का जब तक साक्षात्कार नहीं होता, तब तक देव पालक नहीं होता, रक्षा नहीं करता।' एतदर्थं देव का साक्षात्कार होना चाहिये। इसलिये **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (यजुर्वेद ३१.१८) इसलिये भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार

करना चाहिये और उन्हीं को अपना रक्षिता समझना चाहिये। भगवान् रामचन्द्र राघवेन्द्र ने भी यही कहा कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड १८.३३)

(जो एक बार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देता हूं। यह मेरा सदा के लिये व्रत है।)

सारे दृश्य प्रपञ्च से विरक्त होकर अर्थात् भगवद्भिन्न सारे पदार्थों से विमुख निराश होकर एकमात्र सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही प्राप्त होना 'प्रपत्ति' है।

भवन्तं सर्वभूतानां शरण्यं शरणं गतः।
परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च॥
(वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड १९.५)

(हे श्रीरामभद्र! आप समस्त प्राणियों को शरण देने वाले हैं इसलिये मैंने आपकी शरण ली है। अपने सभी मित्र, धन और लङ्कापुरी को छोड़कर आया हूँ।)

इसलिये सर्वपरित्यागपूर्वक भगवत्प्रपत्ति, भगवत्-शरणागति बड़ी ऊँची बात है। इससे तत्क्षण कल्याण होता है, देरी की कोई बात ही नहीं।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि जोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिये मोरें। धरउ देह नहि आन निहोरें॥
(रामचरितमानस ५.४७.४-८)

ऐसी भगवत्प्रपत्ति बहुत ऊँची है। अच्छा यह न बन सके तो, **'तवास्मीति च-याचते'** यह याच्ञा (याचना) करो कि हे प्रभो! हमें अङ्गीकार कर लीजिये। हे अकारण—**करुणकरुणावरुणालय**! अशरण-शरण! हमें स्वीकार कर लीजिये।'

भक्तों ने कहा—'महाराज! आपने यह प्रतिज्ञा अकेले में नहीं की है, तीर्थ में की हैं। किस तीर्थ में? समुद्र में। सारे तीर्थ उसी में तो जाते हैं। गङ्गा भी वहीं जाय, यमुना भी वहीं जाय। तीर्थो का अधिष्ठान है समुद्र। उसके किनारे आपने प्रतिज्ञा की। अकेले नहीं थे आप, ऋषि थे, महर्षि थे, बन्दर भालु थे, इन सबके

मध्य आपने प्रतिज्ञा की। इसलिये मुकर नहीं सकते महाराज! और महाराज **श्रीरामभद्र** मुकरें भी कैसे ? तुलसीदास जी महाराज के राम तो कहते हैं—

शरणागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पापमय तिन्हहिं विलोकत हानि॥
(रामचरितमानस ५.४२)

"जो शरणागत को त्याग देता है अपना अनहित-अहित समझकर, वह नर पामर है, पापमय है, उसके दर्शन में पाप लगता है।" ऐसे प्रभु कभी मुकर सकते हैं ? कभी नहीं।

श्रीरामभद्र ने वाल्मीकि-रामायण में कपोत का दृष्टान्त दिया है। कपोत के शरण कोई व्याध आया। शरण माने घर। अर्थात् जिस पेड़ पर कपोत रहता था, उस वृक्ष के नीचे कोई व्याध भी ऐसा था जिसने कपोत की कपोती को अपने जाल में फँसा रक्खा था। शत्रु-सरीखा व्याध उसके शरण आया। जाड़े में वह ठिठुर रहा था। कपोत ने अतिथि का सत्कार करना चाहा, उसके प्राणों को बचाना चाहा। कहीं से जलती हुई लकड़ी ले आया। इधर-उधर से लकड़ियों को बटोर कर उस पर रखा। अग्नि प्रज्वलित कर अतिथि को शीत से बचा लिया। फिर कपोत ने सोचा यह अवश्य ही भूखा है, स्वयं ही अग्नि में कूद पड़ा—'लो भैया, इस अग्नि में मुझे भून करके भूख मिटालो'··· श्रीराम ने यह दृष्टान्त दिया। उन्होंने कहा—शरणागत का इतना महत्त्व है। पक्षियों ने भी शरणागत को महत्त्व दिया है। हम राघव-कुल में उत्पन्न हैं, फिर शरणागत की रक्षा क्यों न करें ?

श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥
स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्।
कपोतो वानर श्रेष्ठ ! किं पुनर्मद्विधो जनः॥
(वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड १८.२४,२५)

भगवान् रामभद्र ने सुग्रीव से कहा—

यदि रावण ही आया हो तो भी लौटकर पूछने की जरूरत नहीं है, ले आना। विभीषण हो अथवा रावण—जो भी आया हो, ले आओ। सदोष हो तो भी भूषण है। सदोष शरणागत को ग्रहण करना यह तो भूषण है।

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥
(वाल्मीकि रामायणं ६, १८, २४)

शरणागति एक बहुत ऊँची चीज है, परन्तु उसमें एक खतरा है। यह ब्रह्मास्त्र है, ब्रह्मास्त्र जिसके ऊपर प्रयुक्त हो गया, उसके ऊपर यदि दूसरा बन्धन डाल दोगे तो वह विफल हो जायगा। मेघनाद ने हनुमान् जी पर ब्रह्मास्त्र डाला। ब्रह्मास्त्र का सम्मान करते हुए हनुमान् जी उससे निबद्ध हो गये। मेघनाद जरा आराम करने लगा। युद्ध करते-करते थक गया था। इधर राक्षसों ने सोचा यह बन्धन तो बड़ा कमजोर है। बड़ी-बड़ी शृङ्खलाओं को लाकर हनुमान् को बाँध दिया। मेघनाद की आँखे खुलीं। उसने देखा—हनुमान् को इन राक्षसों ने लोहमयी शृङ्खलाओं से बांध रखा है। उसने सोचा—इन दुष्टों ने बड़ा काम खराब किया। ब्रह्मास्त्र तो दूसरा बन्धन सहन करता ही नहीं। ब्रह्मास्त्र का प्रभाव तो जाता रहा है। इस हनुमान् के लिये ये शृङ्खलायें भला क्या चीज हैं······।

इसी तरह भगवत्-शरणागति दूसरी शरणागति को सहन नहीं करती।

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा विश्वासा॥

(रामचरित मानस ७.४५.३)

वेदान्तदेशिकाचार्य जी कहते है—

दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिकादुरासिकायै रचितोऽयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति मे धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम्॥

अर्थात् दुरीश्वरों के द्वार की बहिर्वितर्दिका पर दुराशा को लेकर जो बैठना है, उसके लिये मैंने हाथ जोड़ दिया, क्योंकि हमारे पास तो धनञ्जय के रथ का अति सुन्दर अञ्जनाभ श्रीकृष्ण ही अनपाय-धन हैं। फिर हमें और की क्या आवश्यकता है?

किसी ने चातक से कहा है—

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

(नीति शतक ५१)

अर्थात् अरे हे मित्र! यह तू पीहू-पीहू करता है बादल को देखते ही। जानता है? आकाश में बहुत ढग के बादल होते हैं, कोई अपनी वृष्टि से वसुधा को आर्द्र करते हैं, कोई केवल गर्जन-तर्जन करते हैं, एक बिन्दु डालते नहीं। बहुत-से संसार में व्यक्ति हैं, जो आया उसी के सामने 'त्राहि मां-त्राहि मां', यह पद्धति गलत है।

(५) शरण्य की शरणागति :—

हाँ एक बात है, ऐसा नहीं कि शरणागति दूसरी नहीं करनी चाहिये। इष्ट शरणागति के अनुकूल जो शरणागति हो, वह स्वीकार करने योग्य है।

'श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये' (रामरक्षास्तोत्र ३३)

श्रीराम की शरणागति ग्रहण करोगे तो उसमें पुष्टि के लिये रामदूत-हनुमान् की शरणागति भी आवश्यक होगी। इसी दृष्टि से शरण्य की शरणागति अपेक्षित है, हरेक की नहीं। श्रीराम भगवान् भी शरण हुए समुद्र के **'समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति'** (बाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड १९.३०), परन्तु उनकी शरणागति कहाँ सफल हुई ? विफल हो गयी।

(६) शरण्य का स्वरूप :—

शरण्य में क्या होता है ? सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्व, सर्वशेषित्व और सुलभत्व। ये शरण्य के प्रयोजक हैं। कौन शरण्य हो सकता है ? जो सर्वेश्वर हो, सर्वकारण हो, सर्वशेषी हो और सर्व सुलभ हो। विभीषण की शरणागति सफल हुई, क्योंकि उसने शरण्य ठीक चुना। भगवान् राम सर्वेश्वर, सर्वकारण, सर्वशेषी और सर्व सुलभ भी हैं, पर उनसे भी ज्यादा सुलभ श्री जी है। श्रीराम को अनन्त ब्रह्माण्ड के उत्पादन, पालन और संहरण के प्रपञ्च में संलग्न रहना पड़ता है और सब शर्तें उनमें भी ठीक हैं। सर्वेश्वरत्व भी उनमें है, सर्वशेषित्व भी उनमें है, सर्वकारणत्व भी उनमें है।

(७) शरणागति एक बार या बार-बार ?

एक विचार और है, शरणागति बार-बार या एक बार ? महानुभावों ने विचार किया है—

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'

सर्व प्राप्ति के लिये ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान बार-बार करने की आवश्यकता नहीं, एक बार ही पर्याप्त है। एक बार के अनुष्ठान से ही स्वर्गप्राप्ति निश्चित हो गयी, क्योंकि आवृत्ति का विधान नहीं है। इसी प्रकार एक बार शरणागति हो गई तो काम हो गया। लेकिन एक बार ही वेदान्त श्रवण से काम नहीं चलेगा—

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।' (ब्रह्मसूत्र ४.१.१.१)

सूत्रार्थ :—प्रत्यय की आवृति करनी चाहिये, क्योंकि **'श्रोतव्यो मन्तव्यः'** (बृहदारण्यक ४.५.६) आदि श्रुतियों में इस प्रकार का बार-बार उपदेश है।

वेद में लिखा है—

'व्रीहीनवहन्ति'

'धानों को कूटे' कितने बार मूसल चलाये ? एक बार मूसल चलाने पर भी अवघात हो गया, परन्तु नहीं—

यावत्तण्डुलनिष्पत्ति र्न स्यात्[७२]

'यावत्पर्यन्त तण्डुलनिष्पत्ति न हो तावत्पर्यन्त अवघात करे' इसी प्रकार वेदान्त श्रवण की सीमा है अपरोक्ष साक्षात्कार। वह जब तक न हो तब तक मनन, निदिध्यासन करते चलो। लेकिन शरणागति के लिये ऐसी कोई बात नहीं। एक बार भी शरणगति हो गई तो ठीक है।

सर्वेश्वरत्व, सर्वकारणत्वत्व, सर्वशेषित्व, सुलभत्व और वात्सल्यपूर्ण मातृत्व की दृष्टि से श्री जी की शरणागति :—शरण्य के सम्बन्ध में आचार्यों ने विचार किया है। श्रीमन्नारायण और श्री जी के स्वरूप पर आचार्यों में मतभेद है। वेदान्तदेशिक की और भिन्न-भिन्न आचार्यों की दृष्टियाँ हैं, उसके साथ यह भी एक दृष्टि है—

एकञ्ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्

एक अनन्त-अखण्ड-निर्विकार ब्रह्मज्योति ही गौर-तेज (श्रीराधा) और श्याम-तेज (श्रीकृष्ण) के रूप में प्रकट हुयी। इस तरह श्रीराधा-माधव दोनों एक ही हैं। एक ही अनन्त-अखण्ड-निर्विकार ब्रह्मज्योति श्रीमन्नारायण परात्पर परब्रह्म विष्णु और ऐश्वर्य-माधुर्यकी अधिष्ठात्री भगवती महालक्ष्मी के रूप में, श्रीसीता और श्रीराम के रूप में प्रकट हुयी है। ऐसा होने पर भी श्री जी में सुलभता अधिक है। सर्वपूरकत्व, सर्वशक्तिमत्व उनमें है। सर्वकारणत्व, सर्वशेषित्व उनमें है। सुलभत्व तो उनसे ज्यादा और किसी में है ही नहीं।

(८) श्री जी :—

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे
नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्।

---

७२. अथाऽवघातेऽपूर्वविधिरेव सन् फलतो नियम इति व्यवह्रियते श्रवणेऽपि तथा भविष्यति। (विवरण प्रमेय संग्रह १.१० श्रवण विधि)

यद्यपि अवघात में अपूर्व विधि ही है, तथापि जैसे फलत: नियम विधि का व्यवहार होता है, वैसे ही श्रवण में अपूर्व विधि होने पर भी फलत: नियम विधि का व्यवहार होगा।

अर्थात् अवघात से उत्पन्न तण्डुल ही अपूर्व के प्रति कारण हैं, अन्य साधनों से निष्पन्न तण्डुल नहीं, इस प्रकार अन्य में निषेध होने से अवघात में नियमविधि फलित होती है। वेदान्त विचार से ही ब्रह्मज्ञान होता है, अन्य साधनों से नहीं होता, इसप्रकार श्रवणविधि को अपूर्व विधि-मानने से भी फलत: नियम विधि हो सकती है।

इष्णन्निषाणामुं म इषाण
सर्वलोकं म इषाण[७२] ॥
(शुक्लयजुर्वेद ४१.२२)

हे पुरुषोत्तम ! श्री और लक्ष्मी तुम्हारी पत्नी हैं। दिन और रात्रि तुम्हारे पार्श्व भाग हैं। आकाश में छिटके हुए तारे तुम्हारे रूप की रश्मियाँ हैं। द्युलोक और पृथ्वी लोक तुम्हारे मुख के विकास हैं। हम जानते हैं कि तुम हमें चाहते हो। इसलिए अवश्य हमारा अभ्युदय और निःश्रेयस चाहो। हमारा लोक, परलोक और सर्वलोक तुम श्रेष्ठ बना दो। सर्वलोक में मेरा आत्मभाव हो जाय।)

श्रयते हरिम् या सा श्रीः (**'श्रिञ् सेवायाम्'**) जो भगवान् की सेवा करे वह श्री। सेवा क्या है ? भक्ति। 'भज सेवायां' सेवा भक्ति भी कई तरह की होती है। पंखा चलाना भी सेवा है और पैर दबाना भी सेवा है, पर मुख्य सेवा क्या है---

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा ॥

अर्थात् प्राणी को सदा श्रीकृष्णसेवा करनी चाहिये। सेवा में भी मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट है। चित्त की कृष्णोन्मुखता या कृष्ण में तन्मयता ही सेवा है। मानसी सेवा की सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये। कायिकी वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्त में मानसी सेवा की योग्यता प्राप्त होती है। 'विजातीयप्रत्ययनिरासपूर्वकसेव्याकाराकारित मानसीवृत्तिप्रवाह' ही मानसी सेवा है। जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गंगा का अखण्ड प्रवाह चलता है उसी प्रकार भगवन्मुखी मानसी वृत्तियों का प्रवाह चलना ही मानसी सेवा है। संसार से विमुख होकर मन श्रीभगवान् के सम्मुख होकर उन्हीं में रम जाय, यह मानसी सेवा है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
(भागवत ३.२९.११)

अर्थात् भगवच्चरित्र के श्रवणमात्र से सर्वान्तिर्यामिवासी प्रभु की ओर समुद्र की ओर अभिमुख होने वाले अखण्ड, निर्मल, गङ्गा प्रवाह की तरह निर्मल अन्तःकरण का भक्तिरूप अविच्छिन्न प्रवाह होता है।

७२. श्रीमहीधर ने श्री का अर्थ किया है सम्पत्ति--
यथा सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः। श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पतिरित्यर्थः।
उन्होंने लक्ष्मी का अर्थ किया है सौन्दर्य, वह वस्तु जिसके द्वारा कोई वस्तु मनुष्यों के द्वारा लक्षित की जाती है—
लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः। सौन्दर्यमित्यर्थ.।

द्रवीभूत निर्मल, निष्कलंक परम पवित्र मनोवृत्ति का भगवदाकाराकारित अखण्ड प्रवाह, भक्ति है। जैसे गंगाजल का निर्मल, निष्कलंक द्रवीभूत प्रवाह समुद्राभिमुख प्रवाहित होता है, वैसे ही जिसका निर्मल-निष्कलंक द्रवीभूत अन्तःकरण भगवदाकारित होकर अखण्ड प्रवाहित हो वही भक्ति है, **वही श्री है।**

समुद्र मंथन के बाद श्री का प्रादुर्भाव हुआ। बहुतों ने उनको चाहा। भगवती ने सोचा—'क्या करूँ', बहुत से लोग मुझे चाहते हैं, पर मुझे जो चाहते हैं, मैं उन्हें चाहती ही नहीं। मैं जिसको चाहती वह मुझको चाहता ही नहीं। श्रीमन्नारायण विष्णु मुझको अच्छे लगते हैं, पर वे मुझको चाहते ही नहीं, आप्तकाम-पूर्णकाम-आत्माराम भगवान् मेरी ओर दृष्टि ही नहीं डालते। पर (तो भी) वे चाहें-न-चाहें, हमारे तो ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य सर्वस्व वही हैं—

असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा, गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा, कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥
(उज्जवलनीलमणिस्थायिभाव २९)

अर्थात् प्रियतम श्रीकृष्ण सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि हों या सौन्दर्य-माधुर्य-विहीन, सर्वगुण सम्पन्न हों या सर्वगुण रहित, मुझसे अनुकूल हों या प्रतिकूल, सब प्रकार से हमारे ध्येय, ज्ञेय, गति वही हैं।

लक्ष्मी जी ने श्रीभगवान् विष्णु के गले में जयमाला डाल दी। श्री प्रभु ने उन्हें अपने वक्षः स्थल में स्थान दिया। सर्वात्मा—सर्वाधिष्ठान परात्पर परब्रह्म परमात्मा प्रभु की हृदयेश्वरी बन गयीं। जो मुँह बाये घूमता है लक्ष्मी के लिये—आओ, आओ, आओ लक्ष्मी, लक्ष्मी उधर नहीं जाती।

'श्रयते हरिं या सा श्रीः' यह कर्ता में प्रत्यय है। इसी दृष्टि से श्री का अर्थ सेवा या भक्ति किया जाता है।

'श्रीयते सर्वैगुणैर्या सा श्रीः'

अनन्त कल्याण-गुण-गण जिनकी आराधना करते हैं, उनका नाम है श्री।

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(भागवत ५.१८.१२)

जिस पुरुष की भगवान् में निष्काम भक्ति है, उसके हृदय में समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणों के सहित सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान् का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषों के वे गुण आ ही कहाँ से सकते हैं? वह तो तरह-तरह के सङ्कल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ता रहता है।

जिसकी भगवान् में प्रीति होती है, सब गुण सिमिट-सिमिट कर उसमें रमते हैं। शोभा-आभा-प्रभा-कान्ति-शान्ति की अधिष्ठात्री महाशक्तियाँ मूर्तिमती होकर भगवती श्री की सेवा में संलग्न रहती हैं। जैसे सुन्दरता, मधुरता है ऐसे ही म्रदिमा = कोमलता की अधिष्ठात्री विग्रहवती शक्ति बड़ी कोमलाङ्गी है, उसके चरणों में कमल के कोमल सुकोमल पंखुड़ियों के गड़ने का डर लगता है, नहीं-नहीं पङ्कज का पराग भी चुभता है। पङ्कज का पराग कितना कोमल होता है, वह भी उसके चरण में चुभता है। जिस म्रदिमा के पादारविन्द इतने कोमल हैं, उसके हस्तारविन्द कितने कोमल होंगे? अपने ऐसे सुकोमल हस्तारविन्द से वह श्री राधारानी के चरणों का स्पर्श करने में सकुचाती है—'हमारे हाथ कठोर हैं, श्री जी के चरणारविन्द बड़े सुकोमल हैं, कहीं कोई आघात न हो जाय।' इस तरह सुन्दरता को अधिष्ठात्री देवी, मधुरता की अधिष्ठात्री देवी, मृदुता की अधिष्ठात्री देवी, सौन्दर्यामृत-सौगन्ध्यामृत की अधिष्ठात्री महाशक्तियाँ मूर्तिमती होकर जिनके मंगलमय चरणारविन्द की आराधना करती हैं—उनका नाम है श्री।

'श्रीयते सर्वैर्जगद्भिः स्थावरैः जङ्गमैश्च या सा श्रीः'

सारे स्थावर-जंगम जिसका सहारा पकड़ते हैं, वह है श्री। बुद्धिमानों ने तो कहा—'भगवती की अनुग्रह भरी दृष्टि जिस पर ज्यादा पड़ जाय वही परमेश्वर होता है, जिस पर दृष्टि जरा कम हो वही जीव होता है। जीव ईश्वर का और कोई भेद नही।' इसलिये सब उनका आश्रय लेते हैं:

ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥

(भागवत १.१६.३२)

जिनका कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने के लिये ब्रह्मा आदि देवता भगवान् के शरणागत होकर बहुत दिनों तक तपस्या करते रहे, वही लक्ष्मी जी अपने निवास-स्थान कमलवन का परित्याग करके बड़े प्रेम से जिनके चरण कमलों की सुभग छत्रच्छाया का सेवन करती हैं।)

ब्रह्म, रुद्र, इन्द्र देवाधिदेव अनन्त-अनन्त काल तक तपस्या करते हैं, इस दृष्टि से कि श्री जी अनुग्रह भरी दृष्टि से निहार दें, क्योंकि उनकी दृष्टि में ही चमत्कार

हैं। जिधर दृष्टि चली गयी वही निहाल हो गया, जिधर दृष्टि नहीं गयी वही बेहाल हो गया।

(४) 'श्रीयते श्रीकृष्णेनाऽपि (हरिणाऽपि) या सा श्रीः'

श्री हरि स्वयं ही जिसकी आराधना करते हैं। वंशी में और क्या गाते हैं? राधारानी का मधुर मनोहर मंगलमय नाम। उन्ही का परम पवित्र चरित्र वंशी में गाते हैं। रसखान कहता है—

ब्रह्म में ढूड्यो पुरानन-कानन वेद रिचा सुनि चौगुने चायन,
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितै वह कैसे सरूप ओ कैसे लुभायन।
टेरत हेरत हारि परचो रसखानि बतायो न लोग लुगायन,
देख्यो दुरचो वह कुन्ज कुटीर में बैठचो पलोटत राधिका पाँयन॥

वेद में पुरान में ब्रह्म को ढूँढते-ढूँढते थक गया। लोग-लुगाइयों ने कुछ बताया नहीं, आकर देखा तो कुन्ज-कुटीर में राधारानी के मंगलमय पादारविन्द का संवाहन कर रहा था। इस तरह श्रीहरि भगवान् भी जिनकी आराधना करते हैं, वे हैं श्री जी।

रामलीला की (अद्‍भुतरामायण) कथा में है—बन्दर-भालुओं ने राक्षसों को मारकर कहा कि अब हमारी वीर पूजा हो। हमने रावण का वध कर दिया। जनक नन्दिनी हंस पड़ी।

बन्दर-भालुओं ने कहा—"माँ क्यों हंसती हो?"

माँ ने कहा—"कुछ नहीं, यों ही, तुम्हारी वीर-पूजा अवश्य होनी चाहिये, अवश्य होनी चाहिये।"

भालुओं ने कहा—"नहीं, हंसी का कारण तो बताओ।"

माँ ने कहा—तुमने तो बीस भुजा वाले रावण को मारा है, अभी सहस्रभुज रावण है, उसे जीतो तो वीर-पूजा की बात करो। बन्दर-भालुओं ने कहा—ठीक है।

तैयारी हुई। किष्किन्धा के शूर-वीर; लंका और अयोध्या के शूर-वीर सज-धजकर लड़ाई करने गये। लोगों ने सहस्र भुज रावण को खबर दी। एक बाण उसने ऐसा मारा कि लंका के शूर-वीर लंका पहुँच गये, किष्किन्धा के शूर-वीर किष्किन्धा पहुँच गये, अयोध्या के शूर-वीर अयोध्या पहुँच गये। फिर सभी इकट्ठे हुए, फिर उसने बाण मारा तो जो जहाँ से शूर-वीर आये थे वहीं पहुँच गये। न लड़ाई न झगड़ा। सभी बडे परेशान हुए। राम भगवान् भी चिन्तित हुए, 'यह तो बड़ा

भयंकर है।' नारद जी आये। बोले --"क्यों चिन्तित हो महाराज ! उसका वध ये जनक नन्दिनी जानकी जी करेंगी।"

राम जी ने कहा -- "ये लड़ेंगी ? हैं, ये तो बहुत कोमलाङ्गी हैं, भला कैसे लड़ेंगी। तो नारद जी ! आप ही इनसे कहो।"

नारद जी ने कहा-- "हमारे कहने से काम नहीं चलेगा। आप हमसे मंत्र-दीक्षा लो महाराज और इनकी प्रार्थना करो।"

श्रीराम को नारद जी ने मंत्र-दीक्षा दी। श्रीराम ने स्तुति की **'वन्दे विदेह—तनयापदपुण्डरीकं'** इत्यादि। तब श्री जी का दिव्य स्वरूप प्रकट हुआ। उस दिव्य-रूप से उन्होंने सहस्रभुज रावण का वध किया। इस तरह **'श्रीयते** हरिणाऽपि या सा श्रीः' हरि भी जिनकी आराधना करते हैं, वे हैं श्री जी।

(५) **'श्रु श्रवणे'** धातु से श्री शब्द बनता है। **'शृणोति भक्तानां दुःख गाथाः श्रुत्वा च भगवन्तं श्रावयति इति श्रीः'** जो भक्तों की दुःख गाथा को सुनती हैं और फिर भगवान् को सुनाती है, वे हैं श्री। भक्तों की दुःख गाथा को सुनने का किसको अवकाश है ? श्री जी ही धैर्य पूर्वक सुनती हैं। तुलसी दास जी महाराज यही तो प्रार्थना करते हैं--

कबहुक अंब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइवी, कछु करुण कथा चलाय॥१॥
दीन, सब अँग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी दास कहाइ॥२॥
बूझि हैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ॥३॥
जानकी जग जननि जन की किये बचन सहाय।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ॥४॥

(विनय पत्रिका ४१)

अनन्त ब्रह्माण्ड नायक भगवान् सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु के दरबार तक अपनी बात को पहुँचाना हो, अपना सुख-दुःख, हर्ज-गर्ज सब कुछ कहना हो तो श्री जी ही सुनने के लिये तैयार हैं।

(६) **'शॄ हिंसायाम् शृणाति भक्तानां दोषान् हिनस्ति इति श्रीः।**

भगवत्पद प्राप्ति में जो बाधक दोष हैं, उनका जो समूल उन्मूलन कर देती हैं, उनका नाम है श्री।

(७) 'श्रीञ् पाके'—श्रीणाति परिपक्वान् करोति शुभगुणान् इति श्रीः।

अर्थात् विवेक-वैराग्यादि--गुण-गणों को परिपक्व कर देती हैं।

इस तरह श्री जी परम दयामयी, करुणामयी और कल्याणमयी हैं। लंका-विजय के पश्चात् हनुमान् जी को श्रीरामभद्र ने कहा—"जरा जानकी को शुभ समाचार सुना दो—मेघनाद, कुम्भकर्ण मारा गया, रावण वध हो गया। जनक नन्दिनी जानकी निश्चिन्त रहें। विभीषण भक्त हैं अब उनकी लंका में हैं।"

श्री हनुमान् जी ने सब समाचार सुना दिया। माँ बहुत प्रसन्न हुईं।

नहि पश्यामि सदृशं चिन्तयन्ती प्लवंगम।
आख्यानकस्य भवतो दातुं प्रत्यभिनन्दनम्॥
न हि पश्यामि तत् सौम्य ! पृथिव्यामपि वानर !।
सदृशं यत्प्रियाख्याने तव दत्त्वा भवेत् सुखम्॥
हिरण्यं वा सुवर्णं वा रत्नानि विविधानि च।
राज्यं वा त्रिषु लोकेषु एतन्नार्हति भाषितम्॥

(वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड ११३.१८-२०)

(वानर वीर ! ऐसा प्रिय समाचार सुनाने के कारण मैं तुम्हें कुछ पुरस्कार देना चाहती हूँ, किन्तु बहुत सोचने पर भी मुझे इसके योग्य कोई वस्तु दिखाई नहीं देती। सौम्य वानर वीर ! इस भूमण्डल में मैं कोई ऐसी वस्तु नहीं देखती, जो इस प्रिय संवाद के अनुरूप हो और जिसे तुम्हें देकर मैं सन्तुष्ट हो सकूँ। सोना, चाँदी, नाना प्रकार के रत्न अथवा तीनों लोकों का राज्य भी इस प्रिय समाचार की बराबरी नहीं कर सकता।)

हनुमान् जी ने कहा—"माँ हम आज एक वरदान माँगेगे। हम जब आपका दर्शन करने आये थे तो राक्षसियाँ आपको मुँह दिखा रहीं थीं डरा धमका रही थीं। हमें आप आज्ञा दें। हम इनमें किसी की नाक काट दें। किसी का हाथ तोड़ दें, किसी का पैर तोड़ दें। चित्रवध इनका करें।"

माँ ने कहा—'वत्स ! तुम तो राघवेन्द्र के दरबार में रहते हो। वहाँ तो **'आनृशंस्यं परो धर्मः'** राघवेन्द्र के दरबार में आनृशंस्य—अक्रूरता परम धर्म है। बेटा तुम यह क्या सोचते हो ?'

हनुमान् ने कहा—'ये अपराधिनी हैं, बड़ी दुष्टा हैं।'

शिव जी महाराज ने कहा है—

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥

(रामचरितमानस ७.१.६.४)

राक्षस्यो दारुणकथा वरमेतत् प्रयच्छ मे।
मुष्टिभिः पाणिघातैश्च विशालैश्चैव बाहुभिः॥
जङ्घाजानुप्रहारैश्च दन्तानां चैव पीडनैः।
कर्तनैः कर्णनासानां केशानां लुञ्चनैस्तथा॥
निपात्य हन्तुमिच्छामि तव विप्रियकारिणीः।
एवं प्रहारैर्बहुभिः सम्प्रहार्य यशस्विनि।
घातये तीव्ररूपाभिर्याभिस्त्वं तर्जिता पुरा॥
(वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड ११३.३४-३६)

(मेरी इच्छा है कि मुक्कों, लातों, विशाल भुजाओं-थप्पड़ों, पिण्डलियों और घुटनों की मार से इन्हें घायल करके इनके दाँत तोड़ दूँ, इनके नाक और कान काट लूँ तथा इनके सिर के बाल नोचूँ। यशस्विनि! इस तरह बहुत से प्रहारों द्वारा इन सबको पीटकर क्रूरतापूर्ण बातें करने वाली इन अप्रियकारिणी राक्षसियों को पटक-पटक कर मार डालूँ। जिन-जिन भयानक रूपवाली राक्षसियों ने पहले आपको डाँट बतायी है, उन सबको मैं अभी मौत के घाट उतार दूंगा। इसके लिये आप केवल वर (आज्ञा) दे दें।)

माँ ने कहा—'वत्स! ये रावण की नौकरानी थीं, परवश होकर वैसा करती थीं—

आज्ञप्ता राक्षसेनेह राक्षस्यस्तर्जयन्ति माम्।
हते तस्मिन् न कुर्वन्ति तर्जनं मारुतात्मज॥
(वाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड ११३.४२)

(पवनकुमार! उस राक्षस रावण की आज्ञा से ही ये मुझे धमकाया करती थीं। जब से वह मारा गया है, तब से ये बेचारी मुझे कुछ नहीं कहतीं। इन्होंने डराना धमकाना छोड़ दिया है।)

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥
(वाल्मीकि रामायण युद्ध काण्ड ११३.४५)

(श्रेष्ठ पुरुष को चाहिये कि कोई पापी हो या पुण्यात्मा अथवा वे वध के योग्य अपराध करने वाले ही क्यों न हों, उन सब पर दया करें; क्योंकि ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जिससे कभी अपराध होता ही न हो।)

अर्थात् पाप हो, अशुभ हो, बधार्ह (बध के योग्य) भी हो तो भी आर्य-पुरुष को उन पर करुणा करनी चाहिये। दुनियाँ में कोई ऐसा है जिससे अपराध न बना हो? दुनियाँ में कोई ऐसा पौधा है, जिसे वायु का स्पर्श नहीं हुआ! कोई प्राणी ऐसा है जिससे कोई अपराध नहीं बना?

इस तरह माँ ने उन राक्षसियों को बचा लिया।

रामानुजसम्प्रदाय के एक बड़े भक्त कवि महापुरुष कहते हैं—

मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वयि
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तञ्च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥
(गुणरत्नकोश)

(हे मातः! आपने ताजा अपराध करने वाली राक्षसियों की हनुमान् से रक्षा करके श्रीराम-गोष्ठी छोटी करदी, क्योंकि उन्होंने तो जयन्त और विभीषण की रक्षा शरणागत होने पर की थी, परन्तु आपने तो शरण होने की अपेक्षा बिना ही उनका रक्षण किया।)

मातर्मैथिलि! सौ-दो-सौ वर्ष का नहीं, जिनका अपराध बिल्कुल ताजा था उन आर्द्रापराधा राक्षसियों की पवनात्मज से रक्षा करती हुई आपने राम की गोष्ठी को लघु बना दिया।

प्रश्न है—'क्यों, राम भी तो रक्षा करते हैं शरणागत की?'

उत्तर है—'हाँ करते तो हैं, पर शरणागत हो तब। कौवा जयन्त भगवान् की शरण हुआ तब उसकी रक्षा हुई। नहीं तो भागता-भागता लोक-लोकान्तर में भटका पर कहीं विश्राम नहीं—

नारद देखा बिकल जयन्ता। लागि दया कोमल चित संता॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही॥
आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयालु रघुराई॥
निज कृत कर्म जनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि शरण तकि आयउँ॥
(रामचरितमानस ३.१.९-१२)

नारद ने कहा—"अरे! जा, तू राम की शरण में ही जा। समय का अपव्यय मत कर, इधर-उधर मत भटक।"

जयन्त ने कहा—"महाराज, क्या मुँह लेके जाऊँ?"

नारद ने कहा—"अरे बेवकूफ ! कहना-पहले हम आपका प्रभाव देखने आये थे, अब हम आपका स्वभाव देखने आये हैं। प्रभाव तो देख लिया, बड़ा प्रभाव ! अब जरा स्वभाव देखना चाहते हैं"—'दीनबन्धु अति मृदुल स्वभाऊ'।

जयन्त नारद की प्रेरणा से श्रीराम की शरण में गया तब रक्षा हुई। राक्षसियाँ कहाँ शरण हुईं ? यह त्रिजटा और राक्षसियों का संवाद है—"आपकी जो आकस्मिकी क्षान्ति है कि शरण हुए बिना भी हम सान्द्रमहापापियों को आपसे आश्वासन मिलता है, बड़ा आनन्द मिलता है, विश्वास होता है कि हमारी रक्षा होगी, अभय होगा"।

तो कहने का मतलब यह है कि सर्वेश्वरत्व सर्वशेषित्व, सर्वकारणत्व जैसा राम में है, वैसा ही सीता में, लेकिन सौलभ्य सर्वातिशायी माँ में ही है, अन्यत्र नहीं। इसलिये सर्वतोभावेन वे अनन्तब्रह्माण्डजननी कल्याणमयी करुणामयी हैं। भक्तों ने कहा है—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
सायं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति।
किञ्च श्यामरतिप्रवाहलहरीबीजं न ये तां विदु—
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः॥

(श्रीराधासुधानिधि ७९)

जो व्यक्ति श्रीराधा-कैङ्कर्य को त्यागकर श्री लाल जी के प्रेम की आशा से प्रयत्न करता है, वह मानो पूर्णिमा की रात्रि के बिना ही पूर्णचन्द्र का दर्शन चाहता है तथा ऐसे जो व्यक्ति श्यामसुन्दर की रति के प्रवाह रूप तरङ्ग के मूल बीज उन श्रीराधा को नहीं जानते वे विशाल अमृत-सागर को पार कर भी खेद है कि केवल एक बूँद ही प्राप्त कर पाये।

अर्थात् जो गौर तेज का आश्रयण बिना किये—श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी के मंगलमय चरणारविन्द की आराधना बिना किये, श्याम तेज को पाना चाहता है, गोविन्द संग की इच्छा करता है, वह मानो पूर्णिमा के बिना पूर्ण सुधारुचि निर्मल-निष्कलंक-पूर्ण-चन्द्र का दर्शन चाहता है। बिना पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र का दर्शन कहीं होता है ? बिना राधारानी वृषभानु-नन्दिनी का दर्शन किये कदाचित् श्याम तेज का दर्शन मिल भी जाय तो भी बिन्दु ही हाथ लगता है, इसलिए गौर-तेज की आराधना बहुत आवश्यक है।

भगवान् शिव ने स्पष्ट ही कहा है—

गौर तेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत् ।
जपेद् वा ध्यायते वापि स भवेत्पातकी शिवे ॥

(गोपाल सहस्रनाम १७)

'आर्द्रा पुष्करिणीं' (श्रीसूक्त १३)

करुणा से भगवती का हृदय सदा आर्द्र ही रहता है। उन भगवती के मंगलमय चरणारविन्द का आश्रयण करो।

सप्तम-पुष्प

देवमाता 'अदिति' अपने पुत्रों के पराभव से अत्यन्त खिन्न थीं। राजा बलि पहले तो संग्राम में इन्द्र के वज्र से क्षत-विक्षत हो गया, परन्तु शुक्राचार्य महाराज की संजीवनी-विद्या से उसका उज्जीवन हुआ। उसके बाद शुक्राचार्य ने विधिवत उससे यज्ञ कराया और उसे दिव्य अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित किया, दिव्य तेज से उपबृंहित किया, फिर राजा बलि तमाम लोक-लोकान्तरों को जीत कर राजा इन्द्र हो गया। लोग पहले सौ अश्वमेध करते हैं तब इन्द्र होते हैं, परन्तु राजा बलि पहले इन्द्र हो गया, फिर सौ अश्वमेध की उसने तैयारी की।

कहते हैं, बलि पूर्वजन्म का कोई जुआरी था। जुआ खेला करता था। एक दिन जुए में कहीं कुछ पैसे पाये। उन पैसों की उसने एक बड़ी खूबसूरत माला खरीदी, भगवान् के लिये नहीं, अपनी किसी प्रियतमा वेश्या के लिये। माला हाथ में लिये कामान्ध जा रहा था। किसी पाषाण से ठोकर खाकर गिर पड़ा। मूर्छित हो गया। कुछ देर में होश हुआ तो उसने अनुभव किया, 'अब मैं मर जाऊंगा।' सोचा—"ठीक है, मर तो जाऊंगा, लेकिन मेरी इस माला का क्या होगा? मेरी यह बहुत खूबसूरतमाला मेरी प्रियतमा तक तो पहुँची नहीं। हाँ ठीक है, कभी मैंने महात्मा के मुख से सुन रखा है, वस्तु 'शिवार्पण' कर देने से बहुत लाभ होता है। 'शिवार्पण' कर देने से कुछ होता होगा तो हो जायगा। न होगा तो मर तो रहा ही हूँ, माला तो बेकार जा ही रही है। कुछ होता होगा तो हो जायगा, न होगा तो न सही।" इस दृष्टि से जुआरी ने माला शिव जी को अर्पण कर दी।

जुआरी माला 'शिवार्पण' करके मर गया। यमराज के दूत पकड़ कर ले गये। यमराज के सामने खड़ा किया। उन्होंने चित्रगुप्त से कहा—"देखो इसका बही खाता।'

चित्रगुप्त ने कहा—'यह तो जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर का पापी है।'

---

७४. वामनो बुद्धिदो होता द्रव्यस्थो वामनः सदा।
वामनस्तारकोऽस्माच्च वामनाय नमो नमः॥

(बृहन्नारदीयपुराणे, पूर्वखण्डम् १७.१६)

श्रीवामन बुद्धि-दाता हैं, होता हैं, वामन द्रव्यों में सदा स्थित हैं। वे ही इस संसार-सागर से तारने वाले हैं। श्री वामन को बार-बार नमस्कार है।।)

यमराज ने कहा—'इसके पुण्य भी तो देखो।' चित्रगुप्त ने देखा। पुण्य तो कोई था नहीं। यमराज ने कहा—'फिर देखो', चित्रगुप्त ने देखा और कहा—"बस अभी-अभी थोड़ी देर पहले द्यूत में पैसा पाकर इसने माला खरीदी थी वेश्या के लिये। ठोकर खाकर रास्ते में गिर पड़ा। इसने देखा कि माला अब निरर्थक हो रही है तो शिवार्पण कर दिया। 'रपट पड़े तो हर गङ्गा' कोई गंगा के तीर-तीर चल रहा था, स्नान करने की उसकी कोई इच्छा तो थी नहीं, परन्तु जब पैर फिसल गया, रपट पड़ा तो हर गङ्गा। यह कोई भगवान् को माला अर्पण करने वाला तो था नहीं, पर देखा जब मर ही रहे हैं तो शिवार्पण कर दें, इसी भावना से इसने माला शिवार्पण कर दी। बस यही एक इसका पुण्य है।"

यमराज ने कहा—'भाई, इसका है तो कुछ पुण्य।'

जुआरी से बोले—'भाई तुम पहले पुण्य का फल भोगोगे या पाप का ?'

जुआरी ने कहा—'सुन रहा हूँ' पाप तो जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर और कल्प-कल्पान्तर के हैं, उनको भोगेन लगेंगे तो उनके अन्त का कुछ पता नहीं कि कब अन्त हो। इसलिये पुण्य का फल चाहिये।'

यमराज ने कहा—'तुम दो घड़ी के लिये इन्द्र लोक के मालिक बने।'

जुआरी दो घड़ी के लिये इन्द्रलोक का मालिक बना, इन्द्रासन पर विराजमान हुआ। अप्सरायें गुणगान करने आयीं, गन्धर्व गुणगान करने आये। उन गन्धर्वों में नारद भी थे। नारद को हँसी आ गयी, हँस दिये।

जुआरी बोला—'इन्द्र के दरबार में बे-अदबी! हँसते हो ?'

नारद जी ने कहा—नहीं, नहीं कुछ नहीं।

जुआरी बोला—बताओ क्यों हँसते हो ?

नारद जी ने कहा—हमको श्लोक याद आता है, इसको पूर्वमीमांसक भी मानते हैं और नैयायिक भी मानते हैं—

सन्दिग्धे परलोकेऽपि कर्तव्यः पुण्यसञ्चयः।
नास्ति चेन्नास्ति नो हानिरस्ति चेन्नास्तिको हतः॥

(श्लोकवार्तिक, कुमारिल भट्ट)

अर्थात् परलोक में संशय हो तो भी पुण्य का सञ्चय करते चलो। अगर परलोक नहीं है तो आस्तिक का कोई नुकसान नहीं है। कहीं परलोक सत्य हुआ तो नास्तिक मारा जायगा।

खाने-पीने में कुछ समय बीतता है, गप्प-सप्प लड़ाने में कुछ समय बीतता है, चलो कुछ समय भगवन्नाम जप कर लिया। उपन्यास पढ़ने में नहीं बिगड़ा, नाटक पढ़ने में कुछ नहीं बिगड़ा, गप्प-सप्प लड़ाने में कुछ नहीं बिगड़ा, तो जप-तप कर लेने में ही क्या बिगड़ा ? कहीं आपको जाना है। दो मित्र मिले। एक मित्र ने कहा कि मार्ग में सिंह-व्याघ्र का उपद्रव है। एक बन्दूक कन्धे पर रख लो और मार्ग में भोजन-जल की अव्यवस्था है। इसलिए एक खुराक भोजन-पानी का भी प्रबन्ध कर लो। दूसरे मित्र ने पहले से कहा—झूठ बोलते हो, कुछ नहीं है।' अब अगर आप पहले मित्र की बात मानकर कन्धे पर बन्दूक रख लेते हैं, एक खुराक खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेते हैं। मान लिया सिंह-व्याघ्र नहीं मिला तो भी कन्धे पर बन्दूक पड़ी रहेगी, क्या नुकसान ? अन्न-पानी की कमी नही रही तो भी एक खुराक अन्न-पानी साथ रखने में क्या नुकसान ? इस तरह नास्तिक पक्ष की अपेक्षा आस्तिक पक्ष सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। अनादि काल से शास्त्रार्थ चल रहा है आस्तिकों का और नास्तिकों का। कभी आस्तिक पक्ष की विजय होती है तो कभी नास्तिक पक्ष की विजय हो जाती है। तो भी बुद्धिमान् कहते हैं, **'मतिदौर्बल्यं न तु मतदौर्बल्यम्'**। हमारी मति की दुर्बलता है कि हम शास्त्रार्थ में हार गये, हमारे मत की दुर्बलता नहीं। आगे हमारे सम्प्रदाय में अच्छा व्यक्ति होगा तो फिर शास्त्रार्थ करके मत पुष्ट करेगा'। इस तरह मन में संशय हो तो भी पुण्य का संचय करते चलो, अगर परलोक नहीं है तो आस्तिक को कोई हानि नहीं होने वाली है। यदि है परलोक, तो नास्तिक मारा जायगा और आस्तिक मालामाल होगा।

नारद जी ने कहा—"जुआरी तू जन्म (जीवन) भर जुआ खेलता था। जुआ में कोई निश्चित आमदनी तो होती नहीं—'लग गया तीर नहीं तो तुक्का'। तूँ ने यही सोचा कि 'शिवार्पण' करने से कुछ होता होगा तो हो जायगा, न होगा तो मर तो रहे ही हैं, माला तो बेकार जा ही रही है, शिव को अर्पण कर दें। इस दृष्टि से तूँने शिवार्पण किया और उसका परिणाम यह हुआ कि दो घड़ी के लिये इन्द्रलोक का स्वामी है। इस लिये मुझे हँसी आयी।"

जुआरी सिंहासन से उतरा और नारद जी से कहा—'गुरुदेव ! अब हम सारे इन्द्रासन पर तुलसीदल रख देते हैं।' किसी ब्राह्मण को बुलाया और चिन्तामणि का दान कर दिया। किसी ब्राह्मण को बुलाया और नन्दनवन का दान कर दिया। किसी ब्राह्मण को बुलाकर ऐरावत का दान कर दिया, अमृत के कुण्ड-के-कुण्ड का दान कर दिया। इस तरह सम्पूर्ण इन्द्रलोक का ही दान उस जुआरी ने कर दिया। इतने में दो घड़ी बीत गयी।

इन्द्र आया और बोला—'हमारा ऐरावत हाथी कहाँ गया ?'

उत्तर मिला—'जुआरी दान कर गया।'

इन्द्र बोला—'कामधेनु आदि कहाँ हैं ?'

उत्तर मिला—'सब कुछ जुआरी ने दान दे डाला।'

बड़े बिगड़े इन्द्र। यमराज के पास आये। यमराज भी जुआरी को डाँटने लगे।

जुआरी ने कहा—'भैय्या ! हमें जो करना था हमने कर लिया, अब आपको जो करते बने सो आप करो।'

यमराज की आँखें खुली और कहा कि अब यह नरक नहीं जायगा, अब तो यह इन्द्र ही होगा। जब नाजायज उद्देश्य से खरीदी हुई नाजायज पैसे की माला को संशय रहने पर भी 'शिवार्पण' कर दिया, उसके फलस्वरूप दो घड़ी के लिये इन्द्र बना, तो अब इसने विधिवत् इन्द्रलोक का ही दान कर दिया है। इसलिये यह इन्द्र ही होगा। वही जाकर राजा बलि बना।

इन्द्र प्रायः त्यागी नहीं होते। पाणिनि ने श्वन् (कुत्ता), युवन् (युवा = जवान) और मघवन् (इन्द्र) इन अनन्त शब्दों को एक जोड़े में जोड़ा—

श्व[७५]युवमघोनामतद्धिते ६.४.१३३ (सम्प्रसारण विधि सूत्र)

तुलसीदास जी ने भी उसका उल्लेख किया है—

लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥
(रामचरितमानस २.३०१.८)

काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥
(रामचरितमानस २.३०१.२)

जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥
(रामचरितमानस १.१२४.८)

---

७५. इस सूत्र के सम्बन्ध में उक्ति-प्रत्युक्ति रूप में एक रोचक सूक्ति प्रसिद्ध है, पूर्वार्ध में प्रश्न है और उत्तरार्ध में उत्तर।

काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम्।
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥

अर्थ—माला गूँथती बाला से यह प्रश्न किया गया—'तुम काँच, मणि और सोने को एक सूत्र में क्यों गूँथ रही हो। यह क्या गजब कर रही हो।' उसने उत्तर दिया—'विचारवान् पाणिनि मुनि ने भी तो एक सूत्र में कुत्ते, युवा और इन्द्र को कहा है—घसीट मारा है। 'अर्थात् जब बुद्धिमान् पाणिनि जैसे लोग भी असमान वस्तुओं को एक स्थान में (बैठाते हैं तो मैं तो बाला अज्ञान) ऐसा करूँ, इसमें भला आश्चर्य की कौन-सी बात है ?'

सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज।
छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज॥
(रामचरितमानस १.१२५)

पाकरिपु (इन्द्र) की रीति-नीति कौए और कुत्ते के समान है। कुटिल काक के समान ही तो वह सबसे डरता है। श्वान के समान उसकी नीति और करतूत है। महर्षि तप करने लगते हैं तो इन्द्र सोचने लगता है 'हमारा सिंहासन तो कहीं नहीं ले लेंगे ?' श्वान सूखी हड्डी चबा रहा हो तो सिंह को आते देख हड्डी लेकर भागता है, उसे डर लगता है कि कहीं यह सिंह हमारी सूखी हड्डी न छीन ले। वह समझता नहीं कि सिंह तो स्वयं जो शिकार खेलता है, उसी को ग्रहण करता है, मरा हुआ शिकार भी नहीं लेता तो सूखी हड्डी काहेको (क्यों) लेगा ?

नर-नारायण भगवान् तप कर रहे थे। इन्द्र ने भेजा अपने गणों को। अप्सरायें गयीं भगवान् नर-नारायण को ठगने के लिये। भगवान् नर-नारायण ने उन सबका स्वागत किया। अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्कादि से विधिवत् नर-नारायण ने काम सहित अप्सराओं का पूजन किया। फिर कहा—'अब आप लोग कुछ माँगे, हम आपको दें।' वे पानी-पानी हो गये। अप्सराओं ने कहा—'भगवन् ! क्या माँगे ? जैसा सद्योजात बालिका अपने हावभाव कटाक्षों से अपने नब्बे वर्ष के बाबा, परबाबा को मोहित करना चाहे तो उसकी मूर्खता ही है; ऐसे ही आप सर्वेश्वर सर्वान्तरात्मा सर्वद्रष्टा हैं, आप सबके माता-पिता हैं हम आपको मोहने आयी हैं, ठगने।'

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।
सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत॥
(भागवते २.७.७)

कुछ महानुभाव अपनी क्रोधभरी दृष्टि से काम को जला देते हैं, परन्तु अपने आपको जलाने वाले असह्य क्रोध को वे नहीं जला पाते। वही क्रोध नर-नारायण के निर्मल हृदय में प्रवेश करने के पहले ही भय के मारे काँप जाता है। फिर भला उनके हृदय में काम का प्रवेश तो हो ही कैसे सकता है ?)

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्व्यशैश्न्या-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित्।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति॥
(भागवत ११.४.११)

बहुत से लोग तो ऐसे होते हैं जो भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी एवं आँधी-पानी के कष्टों को तथा रसनेन्द्रिय और जननेन्द्रिय के वेगों को, जो अपार समुद्रों के समान हैं, सह लेते हैं पार कर जाते हैं; फिर भी वे उस कोध के वश में हो जाते हैं, जो गाय के खुर से बने गड्ढे के समान है और जिससे कोई लाभ नहीं है— आत्म नाशक है। प्रभो ! वे इस प्रकार अपनी कठिन तपस्या को खो बैठते हैं।

कई लोग कोप के वेग में काम को प्रशान्त कर देते हैं। किसी भी व्यक्ति को काम का वेग हो और क्रोध उत्पन्न हो जाय तो उस क्रोध से काम एकदम प्रशान्त हो जाता है। यह सर्वानुभव सिद्ध है। क्रोध के वेग में काम का पता नहीं चलता। 'कण्टकेन कण्टकोद्धारः, काँटे-से-काँटा निकलता है। अर्जुन को काम-लोभ था। उसने स्वयं जाकर परमात्मा श्रीकृष्ण को निमन्त्रण देकर युद्ध में बुला लिया। इच्छा थी हमारा साम्राज्य-स्वराज्य अखण्ड रूप से हमें प्राप्त हो जाय। हमारे दुश्मन दुर्योधनादि मारे जाँय, यह कामना थी। लेकिन जिस समय उसने भगवान् को कहा—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

(भगवद्गीता १.२)

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योधव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥

(भगवद्गीता १.२२)

'सेनाओं के मध्य में आप हमारे रथ को स्थापित करें, हम देखें कि किसके साथ हमको युद्ध करना है।'

भगवान् ने कहा—'जो हुकुम !', भगवान् सारथि थे। सारथि को रथी की आज्ञा माननी चाहिये। ले जाकर रथ दोनों सेनाओं के मध्य स्थापित कर दिया और कहा—'हे पार्थ ! इन कौरवों को देखो।'

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥

(भगवद्गीता १.२५)

अर्जुन ने देखा तो दोनों सेनाओं में उसके सगे-सम्बन्धी ही उसे दिखायी पड़े। साले, बहनोई, भाई-बन्धु, पिता-पितामह और गुरुओं को देखकर उसके मन में ममता उत्पन्न हो गयी, कार्पण्य दोष आ गया।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(भगवद्गीता २.७)

कार्पण्यदोष से मेरा क्षत्रियोचित स्वभाव दब गया है। धर्म के सम्बन्ध में मेरा चित्त सर्वथा मोहित हो चुका है, मैं आपसे पूछता हूँ जो वास्तविक श्रेय हो—जिससे मेरा सचमुच में कल्याण हो सके, उसे निश्चय करके कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, प्रपन्न हूँ, मुझे स्वस्थमार्गदर्शन प्रदान करिये।

अर्जुन ने कहा—'कार्पण्य दोष से मेरा स्वभाव अपहृत हो गया है।'

कार्पण्य क्या है ? मधुसूदन सरस्वती अर्थ करते हैं—

यः स्वल्पामपि वित्तक्षतिं न क्षमते स कृपण इति लोके प्रसिद्धः।
तद्विधत्वादखिलोऽनात्मविदप्राप्तपुरुषार्थतया कृपणो भवति।
'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः'
(बृहदारण्यकोपनिषद् ३.८.१०)

इति श्रुतेः। तस्य भावः कार्पण्यम्। अनात्माध्यासवत्त्वे सन्निमित्तोऽस्मिञ्जन्मन्येत-एव मदीयास्तेषु किं जीवितेनेत्यभिनिवेशरूपो ममता-लक्षणो दोषः।

(मधुसूदनी, गीता २.७)

जो तनिक भी अपने धन की हानि नहीं सहता, वह कृपण होता है। इसमें 'जो इस अक्षर-विनाश रहित ब्रह्मात्मतत्त्व को न जानकर ही इस लोक से चल देता है अर्थात् शरीर छूटने तक आत्मज्ञ नहीं हो पाता है, तदर्थ समय और सद्बुद्धि का उपयोग नहीं कर पाता है, वही कृपण है।' यह श्रुति प्रमाण है। कृपण का भाव—प्रकारीभूत असाधारण धर्म, कार्पण्य है। अनात्मभूत शरीरादि में आत्मा का अध्यास अर्थात् शरीरादि को ही आत्मा मानना—कार्पण्य है। कृपणता से जन्य इस जन्म में ये ही मेरे हैं, इनके मरने पर जीवन से क्या लाभ है ?' इस प्रकार ममता रूप दोष 'कार्पण्य' है।)

मक्खीचूस को कृपण कहते हैं। मक्खी बैठ गयी घी पर। उड़ने लगी तो व्यापारी ने सोचा—'इसके पंख में कुछ घी लग गया है, इसे पकड़कर पंख से घी निचोड़ लो ?', इसी को मक्खीचूस कहते हैं। वह थोड़ी-सी भी घी की क्षति नहीं सह सकता। इसीलिये वह मक्खी को पकड़कर उसके पंख से घृत निचोड़ने लगा। यही कृपण का लक्षण है।

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—'इस अक्षर परात्पर परब्रह्म को बिना जाने जैसे आया, वैसे चला गया—परब्रह्मतत्त्व को न जाना, वह कृपण है।'

दोनों का (श्रीमधुसूदन सरस्वती और महर्षि याज्ञवल्क्य का) समन्वय है, दोनों का विरोध नहीं है। आदमी ब्रह्मात्म-तत्त्व को बिना जाने इस लोक से क्यों चला जाता है ? इसलिये कि इसके लिये वह समय का सद्व्यय नहीं करता। सिनेमा में

समय खर्च कर देगा और ऊल-जलूल कर्मों में समय खर्च कर देगा। वेदान्त-विचार होगा, भगवच्चरित्रामृत की वर्षा होगी तो कहेगा—फुरसत नहीं है, महाराज जी! कौन कथा सुने, मरने की फुरसत नहीं है।' जो भगवत्-स्वरूप साक्षात्कार के लिये अपना धन खर्च कर दें, जन्म-जन्मान्तर, कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर के लिये अपना जीवन न्योछावर कर दें, वह कृपण नहीं है, अकृपण है।

कहते हैं कि ध्रुव जी ने भगवान् का दर्शन किया तो आश्चर्य प्रकट किया भगवान् से—"आप तो दुराराध्य हैं, 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' (गीता-७।१९) बहुत जन्मों के अन्त में आपकी प्राप्ति होती है, आप मुझे छह महीने में ही कैसे मिल गये?"

भगवान् ने ध्रुव जी के मस्तक पर हस्तारविन्द रखकर कहा—"देखो, तुम्हारी लाखों देहें हमारी प्राप्ति के लिए सूख गई हैं। यह तुम्हारा अन्तिम जन्म है, इसलिये हम छह महीने में ही मिल गये।"

इस तरह से भगवान् को पाने के लिये अपना सर्वस्व बलिदान (समर्पण)—अपने अनन्तानन्त धन-धान्य का बलिदान करना, पुत्र-प्रपौत्र का बलिदान और अपने अनन्तानन्त समय का बलिदान करना, भगवत्पद प्राप्त हो चाहे न हो तदर्थ अपना एक शरीर नहीं लाखों शरीर भी यदि खर्च हों तो सहर्ष खर्च करने को उद्यत रहना भी थोड़ा ही है। इसलिये ब्रह्म साक्षात्कार को बिना सम्पन्न किये जो चला जाता है, जिससे अपना समय ब्रह्मात्मतत्त्व के श्रवण में, मनन में, भगवच्चरित्रामृत के रसास्वादन में नहीं लगाया वही कृपण है।

अर्जुन भी कहते थे—'हमारे बन्धु-बाधव खर्च हो जायेंगे, बेटे-पोते, चाचे-ताऊ, भतीजे संग्राम में खर्च (क्षय, नष्ट) हो जायेंगे।' इसलिये उन्होंने स्वयं को कार्पण्यदोषयुक्त-कृपण बताया।

संग्राम करना क्षत्रिय का धर्म है। युद्ध का अवसर था। भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि महाशूर-वीर योद्धा रण के लिये खड़े थे। युद्ध क्षत्रिय का धर्म है। इसलिये क्षात्रधर्म को देखते हुए हथेली पर प्राणों को लेकर जीवन खतरे में डालकर रणाङ्गण में कूद पड़ना, धर्म की रक्षा के लिये, संस्कृति की रक्षा के लिये, पूर्वजों के मान-मर्यादा की रक्षा के लिये अपना खून बहाना, सिर कटाना क्षत्रियों के लिये स्वाभाविक बात है। अर्जुन को भी यही करना चाहिये था। जैसे ब्रह्म के लिये जीवन का अर्पण न करना कृपणता है, वैसे ही धर्म के लिये भी जीवन के बलिदान में हिचकना कृपणता है। 'भीष्म जी मर जायेंगे, द्रोण मर जायेंगे ऐसी भावना दया न

होकर कार्पण्य है। अहंता-ममता पूर्ण दया वस्तुतः दया नहीं है। अहंता-ममता के अनास्पद में जो दया होती है, उसी को दया समझना चाहिये। अपने बेटे में, अपनी बेटी में सबको दया होती है, किसे नहीं होती ? यह दया न होकर कार्पण्य है।

"भिक्षा करके जीवन यापन अच्छा है परन्तु पूजा के योग्य भीष्मादि को बाणों से मारना उचित नहीं। स्वयं शस्त्रहीन (निहत्थे) रहकर इन शस्त्रधारियों के हाथों मारा जाना भी अच्छा ही है" अर्जुन कार्पण्य-दोष के वशीभूत होकर ऐसा सोचने लगे थे।

भगवान् ने कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥

(भगवद्गीता २.२)

(हे अर्जुन ! अनार्यों से सेवित अस्वर्ग्यकर, अकीर्तिकर महामोह तुम्हें विषम काल में कहाँ से प्राप्त हुआ ?)

'अर्जुन ! यह कश्मल कहाँ से आया तुझमें ? क्या मातृ-कुल से आया ? पितृ-कुल से आया अथवा गुरु-कुल से आया ! तेरा मातृ-कुल भी परम पवित्र, पितृ-कुल और गुरु-कुल भी परम पवित्र, फिर यह मोह कहाँ से आया ? असल में जन्म-जन्मान्तरों के कई दोष आ जाते हैं, उन्हीं दोषों से ऐसा होता है। इस तरह भगवान् ने अर्जुन में वीर-रस जाग्रत् करना चाहा। स्वधर्म पालन से संभव अतुल स्वर्गराज्य, निष्कण्टक भूराज्य और अक्षय कीर्ति का लोभ देकर एवं स्वधर्म च्युति से संभव अस्वर्ग्य, अराज्य और अक्षय अपकीर्ति का भय दिखाकर भगवान् ने अर्जुन को युद्ध के लिये प्रेरित किया। फिर भी जब वे तदर्थ उद्यत नहीं हुए तब भगवान् ने उन्हें विश्वरूप-विराट् रूप का दर्शन कराकर ममतास्पदों—भीष्म-द्रोण-जयद्रथ-दुर्योधन और दुःशासनादि को निहत दिखाकर निमित्तमात्र होने की प्रेरणा दी। आत्मोपदेश और शरणागति की महिमा बताकर अर्जुन के सुप्त वीर भाव को उद्दीप्त किया।

कहने का मतलब यह है कि 'कण्टकेन कण्टकोद्धारः 'काँटे से काँटा निकलता है' इस नीति के अनुसार काम क्रोध से दबता है। काम, क्रोध जहाँ शम से दबते हैं वहाँ कार्पण्य से भी दबते हैं। कर्तव्यपरायणता से लाभ और कर्तव्यत्याग से हानि का ज्ञान होने पर लाभ का लोभ और हानि के डर से कार्पण्य दूर होता है, फिर स्वधर्म में प्रेरक शौर्य तेजआदि की अभिव्यक्ति और स्वधर्म में प्रवृत्ति होती है। काम क्रोध से दबता है, परन्तु काम-क्रोधादि सभी विकार निर्विकार स्वतः आत्मरूप

में अवस्थित महापुरुषों के निवृत्त हो जाते हैं। नर-नारायण न तो काम से प्रभावित हुए, न काम जन्य के बाद क्रुधित हुए और न उसके बाद अहमित के ही वशीभूत हुए। नर-नारायण ने अपना सर्वस्व तप, स्वरूपचिन्तन, आत्मानुभूति-आत्मरूप से अवस्थिति के लिये अर्पित कर दिया था। इसलिये उनमें अद्भुत औदार्य था। भगवत्प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग का भाव कार्पण्य के रहते नहीं बनता, कार्पण्य हटने पर ही बनता है। क्षर-नश्वर वस्तुओं के लिये सर्वस्व अर्पण और अक्षर ब्रह्मात्मतत्त्व के लिये अविवेक की दशा में ही संभव है। अविवेकी इन्द्रों में औदार्य नहीं होता। तभी वे अक्षर तत्त्व के अनुसन्धान में तत्पर और जगत् से पूर्ण विरक्त महापुरुषों को भी धन-जन और स्वर्गादि में आसक्त होकर ही तपस्या करने वाले समझकर उपद्रव करते हैं। लेकिन राजा बलि ऐसा नहीं था। बड़ा त्यागी था। अपना सर्वस्व भगवान् वामन को उसने शुक्राचार्य के मना करते रहने पर भी सौंप दिया।

भगवान् वामन को उपेन्द्र भी कहते हैं। गौओं ने उन्हें अभिषिक्त करके गोविन्द और उपेन्द्र नाम से प्रसिद्ध किया है।

देवमाता अदिति ने पयोव्रत किया। पयोव्रत से भगवान् सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर विष्णु प्रसन्न हो गये और आये। बोले—'वरदान माँगो।'

माँ ने कहा—"भगवन्! आप जानते ही हैं।"

भगवान् ने कहा—'हाँ! ये तुम्हारी बहुँए जैसे रो रही हैं, वैसे ही दानवों-दैत्यों की बहुएँ रोएँ, यही चाहती हो। लेकिन इस समय असम्भव है। राजा बलि बड़ा प्रतापी है, ब्रह्मण्य है। ब्राह्मणों का उस पर विशेष अनुग्रह है। भृगुवंशियों ने उसको सबल बना रखा है, अनन्त तेज से युक्त कर रखा है। परन्तु हम तुम्हारा अभिप्राय पूरा करेंगे! भिक्षा माँगेंगे।"

भगवान् वामन का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हें ब्रह्मचर्यव्रत में दीक्षित किया गया। भगवती राजराजेश्वरी उमा ने उनको भिक्षा प्रदान किया। वनस्पतियों ने भी दण्ड कौपीन आदि देकर भिन्न-भिन्न ढंग से सम्मान किया। अब भगवान् चले उद्देश्य पूर्ण करने के लिए। राजा बलि के यज्ञ में पहुँचे। सभी उनके तेज से पराभूत हो गये। राजा बलि ने बड़ा सम्मान-सत्कार स्वागत किया। पूजन करके कहा—'ब्रह्मन्, विप्रदेव! आज्ञा दीजिए। आप आज्ञा दीजिये, क्या सेवा करें, आप जो भी कहेंगे, वही सेवा करेंगे।'

भगवान् ने बड़ी प्रशंसा की—"राजन्! आपका यह खानदान बड़ा पुराना है। यह दीनदार, सदाचारी-सच्चरित्र रहा है। राजा विरोचन के पास देवताओं ने आकर आयु माँगी। यह जानते हुए कि ये हमारे दुश्मन हैं, उन्हें उन्होंने आयु दे दी। तुम्हारे पूर्वज हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु का क्या कहना?" आदि-आदि प्रशंसाओं

के पुल बाँध दिये। राजा बलि प्रसन्न हुआ। बोला—'महाराज ठीक है। आप जो कुछ कह रहे, सब ठीक है। अब आप आज्ञा तो दो!'

भगवान् वामन ने कहा—'कुछ नहीं सिर्फ तीन पग धरती चाहिये।'

राजा बलि ने कहा—'तुम बड़े बुद्धिमान हो, पर स्वार्थ के प्रति अबुध हो। प्रशंसा के पुल बाँध दिये, फिर भी मुझसे माँगा भी तो केवल तीन पग भूमि? अरे, हमसे द्वीप माँग लो, तीन लोक माँग लो।'

अहो ब्राह्मणदायाद वाचस्ते वृद्धसम्मताः।
त्वं बालो बालिशमतिः स्वार्थं प्रत्यबुधो यथा॥
मां वचोभिः समाराध्य लोकानामेकमीश्वरम्।
पदत्रयं वृणीते योऽबुद्धिमान् द्वीपदाशुषम्॥
न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हति।
तस्माद् वृत्तिकरीं भूमिं वटो कामं प्रतीच्छ मे॥

(भागवत ८.१९.१८-२०)

राजा बलि ने कहा—ब्राह्मण कुमार! तुम्हारी बातें तो बूढ़ों-जैसी हैं, परन्तु तुम्हारी बुद्धि अभी बच्चों की-सी ही है। अभी तुम हो भी तो बालक हो न, इसी से अपना हाँनि-लाभ नहीं समझ रहे हो? मैं तीनों लोकों का एकमात्र अधिपति हूँ और द्वीप-का-द्वीप दे सकता हूँ। जो मुझे वाणी से प्रसन्न कर ले और मुझसे केवल तीन पग भूमि माँगे—वह भी क्या बुद्धिमान कहा जा सकता है? ब्रह्मचारी जी! जो एक बार कुछ माँगने के लिये मेरे पास आ गया, उसे फिर कभी किसी से कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए, अतः अपनी जीविका चलाने के लिए तुम्हें जितनी भूमि आवश्यक हो, उतनी मुझसे मांग लो॥)

भगवान् ने कहा—**'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः'** (चाणक्य नीति ८।१८)

'राजन्! जिस ब्राह्मण में सन्तोष नहीं है, वह नष्ट हो जाता है। सन्तुष्ट महीपति निन्दनीय है और असन्तुष्ट ब्राह्मण। अगर हम तीन पग धरती से सन्तुष्ट नहीं होंगे तो अनन्त धन-धान्य से भी, त्रैलोक्य पाने से भी सन्तुष्ट नहीं होंगे और सन्तुष्ट होंगे तो इसी से सन्तुष्ट होंगे।

शुक्राचार्य महाराज सब सुन रहे थे। सोच रहे थे यह क्या तमाशा है? तब तक यज्ञ के पूर्व द्वार पर ऋग्वेदी ब्राह्मण बोल पड़ा—

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'
समूढमस्य पांसुरे॥

(ऋग्वेद संहिता १.२, ७.२)

विष्णु कहते हैं व्यापन शील को। उस व्यापनशील परमात्मा-विष्णु ने सारे विश्व प्रपञ्च को तीन पग में आक्रान्त कर दिया है। यह सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च उसके पांसुल पाद में है। जैसे धूलि युक्त भूमि में चलने वाले प्राणी का पाँव धूलि युक्त हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व विष्णु के पांसुल पाद में है। त्रिपाद का अर्थ यह नहीं कि जितना बड़ा जगत् है उससे तीन गुणा ज्यादा बड़ा भगवान् है। त्रिपाद उपलक्षण है। विष्णु अनन्त है', यह कहने में तात्पर्य है। प्रपञ्च विशिष्ट जो भगवत्स्वरूप है, उसकी अपेक्षा प्रपञ्चातीत रूप अनन्त है। आकाश को भी अनन्त समझा जाता है, परन्तु आकाश भी उसमें एकांशेन ही अवस्थित है। जैसे अनन्त आकाश में बादल की एक टुकड़ी हो, वैसे ही अनन्त-अखण्ड निर्विकार परात्पर प्रपञ्चातीत देश-काल-वस्तुकृत त्रिविध परिच्छेद शून्य जो परब्रह्म है, उसके एक अंश में माया है। माया के एक देश में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। उनमें जो आकाश है उसके स्वल्प अंश में वायु, तेज, जल, पृथिवी हैं। इस तरह सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्च उसके पांसुल पाद में अन्तर्भुक्त हो जाता है।

शुक्राचार्य जी का माथा ठनका। सोचा—'कहते हैं कि ज्ञान अपने आपको बार-बार दुहराया करता है। कहीं ऐसा तो नहीं, तीन पग माँगने वाला यह विष्णु ही है?' उन्होंने कहा—'बेटा बलि! तीन पग न देना और चाहे जो देना। तीन पग देना खतरे से खाली नहीं। यह विष्णु है, त्रैलोक्याधिपति है। हो सकता है तीन पग माँगकर तेरा चराचर विश्व-सर्वस्व हरण कर ले।'

शुक्राचार्य जी महाराज ज्ञान-विज्ञान के निधान हैं। सर्वदर्शी हैं, ब्रह्मविद्-वरिष्ठ हैं। संजीवनीविद्या के महान् आचार्य हैं। वे जो कुछ भी कह रहे थे ठीक ही कह रहे थे।

बलि बोले—"गुरुदेव! परन्तु झूठ कैसे बोलूं। देने से कैसे मुकुरूँ? आपका शिष्य जो हूँ।"

शुक्राचार्य बोले—यही तो समस्या है। अरे अनृत अपने आत्मा का मूल है—

अत्रापि बह्वृचैर्गीतं शृणु मेऽसुरसत्तम।
सत्यमोमिति यत् प्रोक्तं यन्नेत्याहानृतं हि तत्॥
सत्यं पुष्पफलं विद्यादात्मवृक्षस्य गीयते।
वृक्षेऽजीवति तन्न स्यादनृतं मूलमात्मनः॥
तद् यथा वृक्ष उन्मूलः शुष्यत्युद्वर्ततेऽचिरात्।
एवं नष्टानृतः सद्य आत्मा शुष्येन्न संशयः॥

पराग् रिक्तमपूर्णं वा अक्षरं यत् तदोमिति ।
यत् किञ्चिदोमिति ब्रूयात् तेन रिच्येत वै पुमान् ।
भिक्षवे सर्वमोङ्कुर्वन्नालं कामेन चात्मने ॥

(भागवत ८.१९.३८-४१)

(असुरशिरोमणे ! यदि तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा टूट जाने की चिन्ता हो तो मैं इस विषय में तुम्हें कुछ ऋग्वेद की श्रुतियों का आशय सुनाता हूँ, तुम सुनो। श्रुति कहती है—किसी को कुछ देने की बात स्वीकार कर लेना सत्य है और न कार जाना अस्वीकार कर देना असत्य है। यह शरीर एक वृक्ष है और सत्य इसका फल-फूल है, परन्तु यदि वृक्ष ही न रहे तो फल-फूल कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि न कार जाना, अपनी वस्तु दूसरे को न देना, दूसरे शब्दों में अपना धन-माल बचाये रखना—यही शरीर रूप वृक्ष का मूल है। जैसे जड़ न रहने पर वृक्ष सूखकर थोड़े ही दिनों में गिर जाता है, वैसे ही यदि धन देने से अस्वीकार न किया जाय तो यह जीवन सूख जाता है—इसमें सन्देह नहीं। 'हाँ, मैं दूँगा'—यह वाक्य ही धन को दूर हटा देता है। इसलिये इसका उच्चारण ही अपूर्ण अर्थात् धन से रिक्त-खाली कर देने वाला है। यही कारण है कि जो पुरुष 'हाँ, मैं दूँगा'—ऐसा कहता है, वह धन से खाली हो जाता है। याचक को सब कुछ देना स्वीकार कर लेता है, वह अपने लिये भोग की कोई सामग्री नहीं रख सकता।)

"ओम् इत्युक्तिः सत्यं नेत्युक्तिः अनृतम्" किसी ने कहा—'आपके पास दस लाख रुपये हैं ?' आप ने कहा—'ओम्-हाँ', बस बँधे। जिस-जिस वस्तु को लेने वाला पूछता है, 'आपके पास है' यदि आप हाँ कहते गये तो उस-उस वस्तु से हाथ खाली होता जायगा और 'ओम्' ऐसा कहते-कहते सब वस्तु गवाँ बैठेंगे। इसके विपरीत किसी ने आपसे पूछा—'अमुक वस्तु है' आपने कहा—'नहीं' उसने कहा—'दोगे' आपने कहा—'नहीं' बस वही-वही वस्तु आपकी आपके पास बनी रहेगी। इसलिये अनृत ही आत्मा का मूल है। सत्य कहते रहोगे तो सर्वनाश हो जायगा, कौड़ी कीमत के नहीं रहे जाओगे। शुक्राचार्य की इस उक्ति से तो यही सिद्ध हुआ कि अनृत बोलना चाहिये साथ ही जो अनृत बोलता है वह समूल नष्ट हो जाता है—

अथैतत् पूर्णमभ्यात्मं यच्च नेत्यनृतं वचः ।
सर्वं नेत्यनृतं ब्रूयात् स दुष्कीर्तिः श्वसन्मृतः ॥

(भागवत ८.१९.४२)

'मैं नहीं दूँगा' यह जो नकारात्मक असत्य है, वह अपने धन को सुरक्षित रखने तथा पूर्ण करने वाला है, परन्तु ऐसा सब समय नहीं करना चाहिये। जो सबसे

सभी वस्तुओं के लिये नहीं करता है, वह जीवित रहने पर भी मृतक के समान है। फिर क्या करे ? शुक्राचार्य जी स्वयं व्याख्या करते हैं—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥
(भागवत ८.१९.४३)

स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिये. हास-परिहास में, विवाह में, कन्या आदि की प्रशंसा करते समय, अपनी जीविका की रक्षा के लिये, प्राण संकट उपस्थित होने पर, गौ और ब्राह्मण के लिये तथा किसी साधु को मृत्यु से बचाने के लिये असत्य भाषण भी निन्दनीय नहीं है।

कई स्थल ऐसे होते हैं जहाँ झूठ बोलना चाहिये। जैसे कोई व्यक्ति कहीं बैठा हुआ जप कर रहा है। गाय उधर से निकलकर जंगल में घुस जाय या कोई साधु-संत उधर से निकलें, उन्हें मारने की इच्छा से कुछ लोग आ जाँय और पूछने लगें— 'बाबा जी, इधर से कोई गाय गई है क्या ?' यदि ऐसी स्थिति में बता दिया तब तो वे ढूंढ़ के मारेंगे। तो भी गड़बड़ होगा, हिंसा होगी। **'अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथञ्चन।'** (म० भा० कर्ण पर्व ६९।५९) न बोलने से काम चल जाय तो मत बोलो। एक ने कहा—**या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति।'** (देवी भागवत ३।११।४१) जो नेत्रेन्द्रिय देखती है वह बोल नहीं सकती, जो बोलती है वागिन्द्रिय वह देख नहीं सकती। अगर न बोलने से सन्देह पैदा होता हो तो झूठ बोल के भी बचाओ। बड़े-बड़े चण्ट होते हैं; उनके चंगुल से गाय, ब्राह्मण आदि की रक्षा करनी चाहिये। ऐसी स्थिति में सत्रह आने झूठ बोलो, कुछ हर्ज नहीं। इस तरह गो के लिए, ब्राह्मण के लिये, अपनी वृत्ति-जीविका समाप्त हो रही हो तो उसके लिये झूठ बोलो। आजकल तो ऐसे-ऐसे मुकदमे चल रहे हैं, सच बोलो तो टंटा में फ्रंस जाओ।

शुक्राचार्य ने राजा बलि से कहा—"तुम झूठ बोल के अपने धन की रक्षा करो। कहीं विष्णु ठहरा तो तीन पग पृथिवी के बहाने तुम्हारा सब कुछ ले लेगा और तुम्हें खतरे में डाल देगा।"

एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम्।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः ॥
त्रिभिः क्रमैरिमाँल्लोकान् विश्वकायः क्रमिष्यति।
सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्यसे कथम् ?
क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः।
खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः ? ॥

निष्ठां ते नरके मन्ये ह्यप्रदातुः प्रतिश्रुतम्।
प्रतिश्रुतस्य योऽनीशः प्रतिपादयितुं भवान्॥

(भागवत ८ १९.३२-३५)

स्वयं भगवान् ही अपनी योगमाया से ब्रह्मचारी बनकर बैठे हुए हैं, ये तुम्हारा राज्य, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज और विश्वविख्यात कीर्ति—सब कुछ तुमसे छीन कर इन्द्र को दे देंगे। ये विश्वरूप हैं। तीन पग में तो सारे लोकों को नाप लेंगे। मूर्ख तुम अपना सर्वस्व ही विष्णु को दे डालोगे तो तुम्हारा जीवन-निर्वाह कैसे होगा? ये विश्वव्यापक भगवान् एक पग में पृथ्वी और दूसरे पग में स्वर्ग को माप लेंगे। इनके विशाल शरीर से आकाश भर जायगा। तब इनका तीसरा पग कहाँ जायगा? तुम उसे पूरा न कर सकोगे। ऐसी दशा में मैं समझता हूँ कि प्रतिज्ञा करके पूरा न कर पाने के कारण तुम्हें नरक में ही जाना पड़ेगा, क्योंकि तुम अपनी की हुई प्रतीज्ञा को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ हो जाओगे।

(५) राजा बलि की सत्य-निष्ठा :—

राजा बलि ने कहा—'गुरुदेव! ठीक है। पर आपका शिष्य होकर झूठ बोलूँ, मुकर जाँऊ? अगर विष्णु है तब तो हमें जीतकर भी सब कुछ ले लेगा। हिरण्याक्ष को मारा की नहीं? यह तो हमारा सौभाग्य है, माँगने आया है। इसका हाथ नीचे होगा! हमारा हाथ ऊपर होगा!'

(६) धर्मनिरपेक्ष या धर्मसापेक्ष ?

हरिश्चन्द्र से लोगों ने पूछा—"कहिये महाराज! आप धर्मसापेक्ष होंगे कि **धर्म-निरपेक्ष**! यदि आप धर्म-सापेक्ष होते हैं तो आपकी स्त्री बिक जायगी, आपका **राजकुमार** बिक जायगा। आपका राज्य चला जायगा। आप डोम का गुलाम बन **जाओगे**। यदि आप धर्म-निरपेक्ष होंगे तो आपकी स्त्री बिकने से बच जायगी—बनी रहेगी, राजकुमार बना रहेगा, आपका राज्य बना रहेगा, आप डोम के गुलाम नहीं बनेंगे। बोलिये क्या मंजूर है, धर्म-सापेक्ष या धर्म-निरपेक्ष?"

राजा हरिश्चन्द्र ने कहा—"अरे भाई क्या बोलते हो? अरे अन्न बिना कुछ दिन प्राण चल सकता है। हम अन्ननिरपेक्ष हो सकते हैं, जल बिना कुछ दिन काम चल सकता है, हम जलनिरपेक्ष हो सकते हैं। राज्य बिना भी काम चल सकता है, हम राज्यनिरपेक्ष भी हो सकते है। पर भाइयों! धर्म बिना हम एक दिन भी नहीं जी सकते, धर्म-निरपेक्ष हम कैसे रह सकते हैं? इसलिये धर्म-निरपेक्ष नही होंगे। राज्य जाय तो जाय, रानी बिके, राजकुमार भी बिके तो बिके, मुझे भी डोम का गुलाम बनना पड़े तो पड़े। पर हम धर्म-निरपेक्ष नही रहेंगे, हम धर्म-सापेक्ष रहेंगे।"

आजकल लोग सापेक्ष का अर्थ करते हैं पक्षपात। कौन से कोश में कौन-सी डिक्सनरी में ऐसा अर्थ है? कोई बतलाने का कष्ट नहीं करते। हम हर जगह कहते हैं लोगों से, भाई कोई तो बताओ, जबाब तो दो कि किस डिक्सनरी में अपेक्षा शब्द का अर्थ लिखा है पक्षपात। कोई बाबा जी अन्न नही पाते आप कह सकते हैं बाबा जी अन्ननिरपेक्ष हैं। नंगे रहते हैं बाबा जी, आप कह सकते हैं बाबा जी वस्त्र-निरपेक्ष हैं। इस तरह जरूरत का नाम है अपेक्षा। जिसको जिस चीच की जरूरत नहीं वह उससे निरपेक्ष है। तुमको धर्म की जरूरत नहीं तो तुम धर्म-निरपेक्ष हो। इसका मतलब वे-दीन, बे-ईमान, बे-धर्म होना पसन्द है। यदि हम बे-दीन, बे-ईमान, बे-धर्म होते हैं तो हमारे मत में गाली है। किसी को बे-दीन, बे-ईमान, बे-धर्म कहना गाली देना है। इस दृष्टि से भाई, धर्म सापेक्ष बनें कि धर्म-निरपेक्ष? धर्म-सापेक्ष बनना ही उपयुक्त है।

इस प्रकार राजा बलि ने दृढ़ता पूर्वक सत्य का पालन करना ही उचित समझा। श्रीशुक्राचार्य के लाख समझाने पर भी सत्य का त्याग नहीं किया। शुक्राचार्य महाराज नाराज हो गये। शाप दे दिया। पर बलि ने दान कर दिया। फिर क्या बात थी। भगवान् ने वलि का दो पग में सब कुछ ले लिया। तृतीय पग का दान बाकी रहा।

भगवान् बोले—'तुमने तीन पग का दान दिया था न? दो पग में मैंने तेरा सब कुछ ले लिया। एक पग तो बाकी ही रहा।'

भगवान् के पार्षदों ने वारुण-पाश में राजा बलि को बाँध दिया। राजा बलि के भक्त-सेवक युद्ध करने को उद्यत हुए। विष्णु के महान् पार्षदों ने सब को खदेड़ कर भगा दिया। बलि ने समझाया—'भाई इस समय युद्ध का काल नहीं है। काल भगवान् हमारे प्रतिकूल हैं। इस समय युद्ध मत करो। जो लोग कभी सामने खड़े नहीं होते थे वे ही आज सामने हैं। जोरों से निनाद कर रहे हैं। कोई बात नहीं।'

यह सब प्रपञ्च चलता रहा। ब्रह्मा जी आये, बोलना चाहते थे। इतने में विन्ध्यावली जो बलि की पत्नी थी, वह बोल पड़ी—

> क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
> स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
> कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
> त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः॥
> (भागवत ८.२२.२०)

अर्थात् भगवन्! आपने अनन्त ब्रह्माण्डात्मक आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रपञ्च अपने क्रीडा के लिये बनाया है--खेल खेलने के लिये खिलौना बनाया है। दुर्बुद्धि ही आपके बनाये खिलौने को अपना मान लेते हैं। यह स्वर्गलोक हमारा, यह धरती हमारी, यह नन्दन वन हमारा ऐसा मानकर गड़बड़ करते हैं। प्रभो कर्तृत्व भी आपके अनुग्रह से ही होता है। अधिष्ठान बिना कर्ता कहाँ से आया ? कर्तृत्व का आरोप किसी अधिष्ठान में होगा।

ब्रह्मा जी ने कहा—

भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगन्मय !।
मुञ्चैनं हृतसर्वस्वं नायमर्हति निग्रहम् ॥
कृत्स्ना तेऽनेन दत्ता भूर्लोकाः कर्मार्जिताश्च ये।
निवेदितं च सर्वस्वमात्मविक्लवया धिया ॥
यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत् ॥
(भागवत ८.२२.२१-२३)

(आप समस्त प्राणियों के जीवन दाता हैं, स्वामी हैं, जगत् के रूप में भी आप ही अभिव्यक्त हैं, देवों के भी देव आप ही तो हैं। इसे छोड़ दीजिये। आपने इसका सर्वस्व ले लिया है, अतः अब यह दण्ड का पात्र नहीं है। इसने अपना सम्पूर्ण भू-लोक आपको समर्पित कर दिया है। पुण्य कर्मों से उपार्जित स्वर्गादि लोक अपना सर्वस्व और आत्मा तक आपको समर्पित कर दिया है। साथ ही ऐसा करते समय यह धैर्य से च्युत बिलकुल नहीं हुआ है। प्रभो! जो मनुष्य सच्चे हृदय से कृपणता को छोड़कर आपके चरणों में जल का अर्घ्य देता है और केवल दूर्वादलों से भी आपकी सच्ची पूजा करता है, उसे भी उत्तम गति की प्राप्ति होती है। फिर बलि ने तो बड़ी प्रसन्नता से धैर्य और स्थिरतापूर्वक आपको त्रिलोकी का दान कर दिया है। तब यह दुःख का भागी कैसे हो सकता है?)

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥
(गौतमीय तन्त्र)

अर्थात् भगवान् ऐसे दयालु हैं कि वे भक्ति से दिये हुए एक चुल्लू जल तथा एक तुलसी पत्र द्वारा ही अपनी आत्मा को भक्तों के लिये दे देते हैं।

आपके मंगलमय चरणों में जो तुलसीदल, दूर्वादिल गंगाजल अर्पण करते हैं, वे आपको खरीद लेते हैं। इसने तो अपना सर्वस्व ही आपके श्रीचरणों में अर्पित कर दिया है।

यस सब क्रम चल रहा था। भगवान् ने बलि से कहा—'हमारा तीन पग पूरा नहीं हुआ।'

धन बड़ा कि धनवान् ? :—

बलि ने कहा—"पूछ लूँ एक बात !"

भगवान् ने कहा—"पूछ लो।"

बलि ने कहा—"महाराज ! कोई खरीददार कपड़ा खरीदने के लिये बाजार की दूकान में गया। कहने लगा—हम अपने हाथ से सौ रुपये का एक हाथ रेशम खरीदेंगे। सौदा तय हो गया। मापने लगा तो हाथ लंबा बढ़ा दिया। क्या यह ठीक था ?"

भगवान् वामन ने कहा—"जिस रूप में उसने सौदा तय किया उसी रूप में उसे सौदा लेना भी था। कपड़ा लेते समय उसे हाथ बढ़ाना नहीं चाहिये था।"

बलि ने कहा—जिस रूप में आपने दान लिया, उसी रूप से मापते। कमी पड़ती तो आप हमसे लेते। आपने दान तो लिया छोटे-से रूप से और मापना आरम्भ किया महान् रूप से। जरा सोचिये यह कोई न्याय है ? अच्छा जाने दो, इस प्रश्न का उत्तर दो। धन बड़ा होता है कि धनवान् बड़ा होता है ? भोग्य बड़ा होता है कि भोक्ता बड़ा होता है ? मकान बड़ा कि मकान का मालिक बड़ा ? पलंग बड़ा कि पलंग पर सोने वाला बड़ा ?"

कहते हैं, एक शैतान का पलंग था। वह कहता था—'आओ पलंग पर सोओ, लेकिन हम सोने के लायक बनायेंगे तुमको तब सोने देंगे। पूछने वाले ने पूछा—'लायक क्या बनाओगे ? 'अरे पलंग से बड़े हो जाओगे तो काट-पीटकर पलंग के बराबर बनाएंगे। ठिगने होगे तो खींच तानकर पलंग के बरावर बनाएँगें। सोने लायक बनो तो पलंग पर सोओ।' कहो जी ! पलंग के लिये सोने वाला कि सोने वाले के लिए पलंग ? किसी ने बहुत अच्छी माला बनाई, बहुत खूब सूरत माला। हीरा, मोती डालकर गुलाब का फूल, कमल का फूल डालकर सुन्दर माला बनाई। गुरु जी को माली पहनाने आया। गुरु जी का सिर था मोटा-बड़ा। माला छोटी हो गई। कहने लगा—'गुरु जी ! हुकुम हो तो थोड़ा सिर छील दें।' तो क्या माला पहनने के लिये सिर छिलायें ? सिर के लिए माला कि माला के लिए सिर खाने वालों को कम करो। घर की मलकिन ने कहा—'मालिक ! गेहूँ की कमी है, गेहूँ लाओ।' मालिक

नें कहा—'खाने वाले को कुछ कम करो, गेहूँ की समस्या हल हो जाय।' अरे भाई! तुमसे इन्तजाम करते बने तो करो, नहीं तो हट जाओ। दूसरा आयगा। क्या मतलब, अभी तुम आने वालों को रोक रहे हो, नये खाने वाले न आयें। इसी तरह से कल तुम जो बूढ़े होंगे उनसे भी कहोगे आगे आने वालों के लिए सीट खाली करो। यह कोई मानवता होगी कि दानवता होगी?

'धन नहीं धनवान् बड़ा' :—

सज्जनो! बलि का जो प्रश्न था, भगवान् को उसके लिए कहना पड़ा—'राजन्! धन बड़ा नहीं होता, धनवान् बड़ा होता है।'

बलि—"भगवन्! 'धनवान् बड़ा होता है धन से' आपको यह मान्य है न?"

भगवान्—"हाँ हाँ मान्य है।"

बलि—"तो मैं धनवान् हूँ न? मैं अपने आप को ही अर्पित कर रहा हूँ तीसरा पैर पूरा करने के लिये। तीसरा पग मेरे सिर पर धरो और बस मेरा दान पूरा हो गया। 'जब धन से बड़ा धनवान् है' यह मान्य ही है तो साङ्गता सिद्धि के लिये जो कुछ चाहिये, उसके सहित मेरा दान पूरा हो गया।" **'दान-पूर्ति और साङ्गता-सिद्धि के लिये मुझ धनवान् के सिर पर ही आपके श्रीचरण प्रतिष्ठित हों!'**

भगवान् के पास कोई उत्तर नहीं था। इतने में प्रह्लाद जी आ गये। प्रह्लाद ने भगवान् की बड़ी स्तुति की। भगवान् ने ब्रह्मा जी से कहा—'हमने इस (बलि) का यश दिग्दिगन्त में विकीर्ण-विस्तीर्ण करने के लिए यह सब गड़बड़ किया है। परन्तु हमने कोई गड़बड़ नहीं किया। इनका ढंग बहुत सौम्य है। भागवत में तो नहीं है, परन्तु दूसरी जगह यह कथा है कि भगवान् बोले—'भाई तुम्हें क्या दें।' बलि बोले—"महाराज! हमारी जिधर भी दृष्टि जाय उधर हम आपका ही दर्शन करें।"

कहते हैं, राजा बलि की बैठक के बावन दरवाजे हैं। भगवान् ने सोचा, न जाने किस दरवाजे पर बलि की दृष्टि चली जाय? तो बावनों दरवाजे पर शङ्ख, चक्र, गदा पद्म धारण किये हुए सर्वान्तरात्मा ब्रह्माण्ड नायक भगवान् पहरेदार के रूप में विराजमान् हैं।

उनकी इस कृपालुता के कारण ही भक्तराज प्रह्लाद ने कहा—"महाराज! लोग कहते हैं कि आप देवताओं के पक्षपाती हैं, परन्तु हमको तो लगता है कि आप हम असुरों के पक्षपाती हैं। इन्द्र, कुबेरादि किसी देवता के आप पहरेदार-द्वारपाल बने? नहीं बने। परन्तु हम असुरों के आप द्वारपाल बन रहे हैं। इसलिये सदा-सर्वदा आप हमारे ही पास रहें।"

असली बात क्या थी ? उस जुआरी ने माला भगवान् को अर्पण कर दी थी। पत्र-पुष्प-फल-जल जो कुछ भी भगवान् के लिये अर्पित कर दिया जाय, वह अनन्त गुणित होकर फलता है। साथ-ही-साथ यह बड़ी ऊँची बात है कि अनात्मविद् जो है वह अनात्मा के प्रलोभन में फँसकर आत्मा को नरक के भेजने में जरा भी हिचकता नहीं। अर्थात् अनात्मविद् धन-वैभव के लिये आत्मा को नरक में भी भेज डालता है। इसके विपरीत जो आत्मविद् है, वह जानता है कि आत्मा के लिये अनात्मा है, अनात्मा के लिये आत्मा नहीं है। इसलिये किसी भी शर्त पर आत्मा को नरक में भेजने का इन्तजाम नहीं करना चाहिये। अर्थात् किसी भी विषय-विलास में फँसकर किसी भी ऐश्वर्य (महान् वैभव) के प्रलोभन में आकर आत्मा को नरक में भेजने का उद्योग नहीं करना चाहिये। आत्मविद् था राजा बलि। उसने झूठ बोलकर अपने आपको पतित नहीं बनाया, बल्कि धन को और स्वयं को भी भगवान् के प्रति समर्पित कर दिया। हर हालत में आत्मा के अभ्युदय और मोक्ष को चाहने वाले राजा बलि उत्कृष्ट कोटि के भक्त हुए[७६]।

---

७६. धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः॥
(गारुड महापुराण उत्तरखण्ड ४३.३)
मङ्गलं भगवान् विष्णु मङ्गलं गरुणध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनं हरिः॥
(गारुड महापुराण उत्तर खण्ड ३५.४६)

अष्टम-पुष्प

(१) वेदान्तवेद्य पूर्णतम पुरुषोत्तम 'श्रीराम' :—

चक्रवर्ती नरेन्द्र दशरथ महाराज के ऊपर अनुग्रह करके भगवान् परात्पर परब्रह्म श्रीरामचन्द्र राघवेन्द्र के रूप में प्रकट हुए। श्रीमद्भागवत में लिखा है—**'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** (भागवत १.३.२८)' अन्य जितने भी अवतार हैं, सब भगवान् के अंश हैं, कला हैं और कृष्ण स्वयं भगवान् हैं।' यहाँ 'च' है। 'च' कहता है कि **'रामचन्द्रोऽपि'**, अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं, वैसे ही श्री रामचन्द्र राघवेन्द्र भगवान् भी परात्पर परब्रह्म हैं। श्रीमद्-वल्लभाचार्य कट्टर श्रीकृष्णभक्त हुए हैं। उन्होंने रामावतार के सम्बन्ध में माना है—

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥
(भागवत ९.११.२२)

अर्थात् जिसने भगवान् रामचन्द्र का स्पर्श किया, जिसने भगवान् राघवेन्द्र का स्पर्श किया, जो भगवान् रामचन्द्र के पास बैठ गया और जो कोशलेन्द्र भगवान् रामचन्द्र के पीछे चला, वे सभी कोशलवासी ऐसे दिव्यधाम में गये, जहाँ बड़े-बड़े योगी अमलात्मा परमहंस जाते हैं।

सर्वथाऽपि पूर्णतम पुरुषोत्तम वेदान्त वेद्य भगवान् का ही श्रीरामचन्द्र रूप में प्राकट्य होता है तभी तो उनके दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, अनुगमन मात्र से प्राणियों की परमगति हो जाती है।

दुनियाँ में भगवान् रामचन्द्र के अवतार के समान कोई भी अवतार नहीं हुआ। भक्तों ने कहा—कहिये महाराज ! आप कहते हैं कर्मकाण्ड के द्वारा प्राणी का कल्याण होता है, उपासना काण्ड के द्वारा प्राणी का कल्याण होता है, ज्ञान काण्ड के द्वारा प्राणी का कल्याण होता है। कौन-से कर्मकाण्ड का इन्होंने अनुष्ठान किया, कौन-से उपासना काण्ड का इन्होंने अभ्यास किया या कौन-से ज्ञान काण्ड का इन्होंने अभ्यास किया कि इनको आपने दिव्य परमधाम, साकेतधाम प्रदान किया ? बताइये क्या उत्तर है इसका ?

हम उत्तर देते हैं—भुशुण्डि रामायण में एक कथा है। एक बार नारद जी महाराज भगवान् रामचन्द्र जी के पास आये। भगवान् ने पूछा—'कहाँ से आये महाराज !'

नारद जी ने कहा—'ब्रह्मलोक से आया हूँ।'

भगवान् ने पूछा—'कहिये क्या सन्देश है ?'

नारद जी ने कहा—"ब्रह्मा जी ने सन्देश दिया है। उन्होंने कहा है—एक बार मेरे मानस-संकल्प से साठ करोड़ दिव्याङ्गनायें आविर्भूत हुईं। जिनका सौन्दर्य, अनन्तमाधुर्य, अद्भुत-लोकोत्तर माधुर्य था। हमने उनसे कहा—'तुम्हारी शादी किससे कर दें ?' उन्होंने कहा—'हम देवों या मनुष्यों को नहीं वरण करना चाहती। हम तो अनन्त ब्रह्माण्डनायक रामचन्द्र राघवेन्द्र परात्पर प्रभु को ही अपना सर्वस्व प्राणनाथ, प्रियतम-प्राणधन, परम प्रेमास्पद मानती हैं।' दैवात् न जाने क्या हुआ, हमने उनसे कह दिया, 'तुम सब लता हो जाओ।' मेरे वचन के अनुसार वे अयोध्या के बाहर जो आम्रवन है, उसी में लता हुईं। तबसे आपकी उपासना कर रही हैं। आप उन्हे स्वीकार करें, लोकोत्तर संस्पर्श प्रदान कर कृतार्थ करें।"

भगवान् राम आत्माराम हैं। उनकी आत्मस्वरूपा भगवती सीता का उन लताओं में दिव्य रीति से आविर्भाव हुआ। फिर भगवान् रामभद्र का उन लताओं को रमण प्राप्त हुआ। कहते हैं, माता सती के सामने जब भगवान् रामभद्र का दिव्य रूप प्रकट हुआ तो उन्होंने प्रश्न किया—"महाराज! आप तो पूर्ण परब्रह्म सर्वशक्तिमान् दीखते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डजननी भगवती सीता तो आपके समीप ही हैं। इनका कभी विश्लेष हुआ ही नही। फिर आप यह सब नाटक क्यों कर रहे हैं ? कही अमुक वृक्ष से आलिङ्गन, कहीं अमुक पाषाण से आलिङ्गन तो कभी अमुक तृण-गुल्म और लता से आलिङ्गन क्यों कर रहे हैं ?"

भगवान् श्रीराम ने कहा—"यह सब भूत भावन विश्वनाथ बतलायेंगे। संक्षेप में इतना समझ लीजिये कि ये सब हमारे भक्त हैं। ब्रह्मादि लोक-लोकान्तरों से आकर वृक्ष, लता और पाषाण बने हैं। हमारे सम्मिलन की उत्कट उत्कण्ठा लेकर आये हैं। हम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। बिना पागलपन का नाटक रचे लताओं का आलिङ्गन, वृक्षों का आलिङ्गन और पाषाणों का आलिङ्गन कैसे करें ? इसलिये सीता के विप्रलम्भजन्य तीव्रताप से उन्मत्त हो करके हम यह सब नाटक कर रहे हैं, वास्तव में अपने भक्तों से मिल रहे हैं।"

इस तरह **भगवत्-सम्मिलन के उपयुक्त कर्म, उपासना और ज्ञान के बिना भगवान् का सम्मिलन प्राप्त नहीं होता। भगवान् की अनुकम्पा से ही भगवान् का सम्मिलन होता है, परन्तु होता उन्हीं को है जिन्होंने तदनुकूल कर्म, उपासना, ज्ञान का पहले अनुष्ठान किया है।**

२. 'आदि कर्ता स्वयं प्रभु' श्रीराम :

श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं--जो सारस्वत कल्प के पूर्णतम पुरुषोत्तम कृष्ण हैं, वही श्रीराम हैं। पुराणों में, महाभारत में और रामायणों में भी वाल्मीकि-रामायण की चर्चा है। वाल्मीकि-रामायण में ब्रह्मा जी कहते हैं—

भगवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकश्रृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित् ॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्ग-धृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ॥

(वाल्मीकि रामायण ६.१७७.१३-१५)

(आप भोक्ता और भोग्य रूप सकल प्रपञ्च के आश्रय साक्षात् नारायण हैं, सुदर्शन चक्रधारी श्री विष्णु हैं, एक श्रृङ्ग वराह तथा भूत और भव्य सकल शत्रुओं के विजेता हैं। आप ही आदि, अन्त और मध्य में रहने वाले सत्य अक्षर हैं। सब लोकों के आप ही परम धर्म हैं। आप ही चतुर्भुज विष्वक्सेन, शार्ङ्गधन्वा, सर्वेन्द्रिय नियामक हृषीकेश पुरुष एवं पुरुषोत्तम हैं। आप ही अजित खड्गधर विष्णु, बृहद्बल कृष्ण हैं।)

सेनानीर्ग्रामणीः सर्वं त्वं बुद्धिस्त्वं क्षमा दमः।
प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधूसूदनः ॥
इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत्।
शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः ॥
सहस्रश्रृङ्गो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः।
त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः ॥

(वाल्मीकि रामायण ६.११७.१६-१८)

(आप सेनानी एवं ग्रामणी हैं। आप ही बुद्धि, सत्त्व, क्षमा तथा दम हैं। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के आप ही एकमात्र कारण हैं एवं आप ही मधुसूदन हैं। आप ही इन्द्र कर्मा इन्द्र की सृष्टि करने वाले महेन्द्र हैं। रणान्तकृत पद्मनाभ भी आप ही हैं। दिव्य महर्षि आपको शरण योग्य परम आश्रय एवं रक्षक कहते हैं। आप ही सहस्रश्रृङ्ग वेद एवं शतशीर्ष महान् धर्म हैं। आप तीनों लोकों के आदि कर्ता स्वयं प्रभु हैं—आपका अन्य कोई प्रभु नहीं है।)

भागवत वाले कहते हैं--

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे ॥
(भागवत १.३.२८)

(ये सब अवतार तो भगवान् के अंशावतार अथवा कलावतार हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् अवतारी ही हैं। जब लोग दैत्यों के अत्याचारों से व्याकुल हो उठते हैं तब युग-युग में अनेक रूप धारण करके भगवान् उनकी रक्षा करते हैं।)

'**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**' के साथ '**स्वयं प्रभुः**' इस वचन की वाक्यता है कि एक वाक्यता है कि नहीं ? इस तरह आदि काव्य वाल्मीकि-रामयण के भगवान् श्रीराम और भागवत के श्रीकृष्ण एक ही तत्त्व सिद्ध होते हैं।

इसी दृष्टि से 'श्रीकृष्ण सोलह कला हैं और श्रीराम बारह कला' इसका भी समन्वय कर लेना चाहिये। सोलह आने का एक रुपया होता है। सोलह आना और बारह मासा का एक ही अर्थ है। श्रीकृष्णचन्द्र चन्द्रवंशी हैं तो श्रीरामचन्द्र सूर्यवंशी। चन्द्रमा को सोलह कलाएँ होती हैं तो सूर्य की बारह राशि होती हैं। जैसे चन्द्र सोलह कला में पूर्ण हैं, वैसे ही सूर्य बारह राशियों में पूर्ण हैं।

इस तरह से श्रीरामचन्द्र परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् ही हैं—

ऋतधर्मा वसुः पूर्वं वसूनां च प्रजापतिः ।
त्रयाणामपि लोकानामादिकर्ता स्वयं प्रभुः ॥
(वाल्मीकि रामायण ६.११७.७)

पूर्वकाल में वसुओं के प्रजापति जो ऋतुधर्मा नाम के वसु थे, वे आप ही हैं। आप तीनों लोकें के आदिकर्ता स्वयं प्रभु हैं।

३. लताओं तक को प्रेम प्रदान करने वाले 'श्रीराम'

हमारे श्री सनातन गोस्वामीजी बोलते हैं--

सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतो भद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ॥[७७]

(भले पुष्करनाभ के अनेक एक-से-एक अच्छे अवतार हैं तो भी लताओं में प्रेम प्रदान करने वाला कृष्ण से अन्य कौन हैं ?)

---

७७. अवताराः सन्त्वन्ये सरसिजनयनस्य सर्वतोभद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा प्रभवति गोपगोपिकामुक्त्यै ॥
(श्रीकृष्णकर्णामृतम् २.८५)

सनातन गोस्वामी जी महाराज बड़े सन्त-महापुरुष थे। अपने प्रेम में जो कुछ कहा, वह सब हमारे सिर-माथे। बड़ा आदर करते हैं हम उनका। लेकिन वाल्मीकि-रामायण को देखें तो मालूम पड़ता है कि रामभद्र के वियोग में नदियों का जल खौल उठा। वृक्षों के पुष्प-अङ्कुर सभी परिम्लान हो गये, भगवान् रामचन्द्र के विप्रलम्भ जनित तीव्र ताप में—

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः॥
(वाल्मीमि रामायण २.४५.३०)

अपनी जड़ों के कारण वेगहीन पादप तुम्हारा अनुगमन करने में असमर्थ हैं। वायु वेग से ये उन्नत पादप आपसे लौटने के लिये चीत्कार कर रहे हैं।)

लीनपुष्कर पत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः।
संतप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीन विहङ्गमाः॥
(वाल्मीकि रामायण २.५९.७)

(नदियों के जल मलिन हो गये हैं उनके कमलों के पत्ते निलीन प्राय हो गये हैं—सूख गये हैं। नदियों-सरोवरों की कमल एवं कमलिनियाँ सन्तप्त हो गयी हैं। उनके मीन एवं विहंगमयगण लुप्त हो गये हैं।)

ममत्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे संप्रस्थिते वनम्॥
(वाल्मीकि रामायण २.५९.१)

विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः॥
उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च॥[७८]

---

७८. श्रीहत सर सरिता वन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम वियोग कुरोग बिगोए॥
जबतें आइ रहे रघुनायकु। तब ते भयउ बन मंगल दायकु॥
फूलहिं फलहिं विटप विधिनाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥
सुरतरु सरिस सुभायँ सुहाए। मनहुँ बिबुध बन परिहरि आए॥
गुंज मंजु तर मधुकर श्रेनी। त्रिविधि बयारि बहुइ सुख देनी॥
नीलकंठ कुल कंठ सुक चातक चक्क चकोर।
भाँति-भाँति बोलहिं बिहंग श्रवन सुखद चितचोर॥
(रामचरित मानस २.१३७)

न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रसरन्ति च।
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमिव तद्वनम् ॥

(वाल्मीकि रामायण २.५९.४-६)

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि स्थल जानि च।
न विभान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ॥
अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीन विहगानि च।
न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्षभ ॥

(सुमंत्र ने कहा—राम के वन को प्रस्थित होने पर मैं जब लौटा रथ के घोड़े उष्ण आँसू गिराते हुए मार्ग पर चलने को प्रवृत्त नहीं हुए। महाराज! महाव्यसन से दु:खित आपके देश के वृक्ष, पुष्पों, पल्लवों, अंकुरों तथा पुष्प-मुकुलों के साथ परिम्लान से हो गये हैं। नदियों, सरोवरों तथा छोटे सरोवरों के जल तप्त एवं शुष्क हो गये हैं। वनों एवं उपवनों के पत्ते सूख गये हैं। कोई प्राणी आहार के लिए भी गमनागमन नहीं कर रहे हैं। व्याल भी प्रसरण नहीं कर रहे हैं। सारा वन राम शोक से अभिभूत होकर निःशव्द-सा हो रहा है। जल और स्थल के सभी पुष्प पहले के समान सौन्दर्य तथा सौगन्ध्य से युक्त नहीं हैं। सारे उद्यान विहंगादि हीन हो शून्य से प्रतीत होते हैं। आराम और क्रीड़ोद्यान भी अभिरामता शून्य हो रहे हैं। इस तरह अचेतन वृक्ष और लताएँ भी रामप्रेम से व्याप्त हैं।)

तो लताओं को प्रेम प्रदान किया कि नहीं रामभद्र ने, वृक्षों को प्रेम प्रदान किया कि नहीं रामभद्र ने? जो वृक्ष भगवान् के विप्रलम्भ में परिम्लान हो जाते हैं, तो उनको श्रीरामभद्र में प्रेम नहीं था क्या? **बिना संभोग जनित रसास्वादन के विप्रलम्भ में ताप होता ही नहीं। अनादिकाल से जीव भगवान् के विप्रलम्भ का अनुभव करता है, परन्तु इसे ताप कहाँ हो रहा है? ताप उसे होता है जिसे—भगवत्-रसास्वादन होता है। जिसको भगवत्-रसास्वादन नहीं, उसको विप्रलम्भ में ताप भी नहीं।**

इस तरह ये सब वृक्ष भगवान् का रसास्वादन करते हैं, मंगलमय मुखचन्द्र का दर्शन करते, पादारविन्द की नखमणि चन्द्रिका का दर्शन करते हैं। धारित्री जहाँ-जहाँ भगवान् के पादारविन्द का विन्यास होता है, वहाँ-वहाँ अपना हृदय-कमल-प्रफुल्लित करती है। धरित्री के प्रफुल्लित हृदय पर ही भगवान् का पादारविन्द विन्यास होता है।

(४) प्रभुओं के भी प्रभु 'श्रीराम'

सुमित्रा कहती हैं, 'राम कौन हैं ?'

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः ।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥

(वाल्मीकि रामायण २.४४.१५,१६)

(देवि ! श्रीराम सूर्य के भी सूर्य-मप्रकाशक और अग्नि के भी अग्नि-दाहक हैं। वे प्रभु के भी प्रभु, लक्ष्मी की उत्तम लक्ष्मी, और क्षमा की भी क्षमा हैं। इतना ही नहीं—वे देवताओं के भी देवता तथा भूतों के भी उत्तम भूत हैं। वे वन में रहें या या नगर में,उनके लिए कौन-से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं।

यह उपनिषद् की भाषा है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति । (केनोपनिषद् १.२)

(जो श्रोत्र-का श्रोत्र, मन का मन और वाणी की भी वाणी है, वह प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है, इस रहस्य के जानकार धीर पुरुष संसार से मुक्त होकर इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं।)

भगवान् श्रोत्र के भी श्रोत्र हैं, मन के मन हैं, चक्षु के चक्षु हैं, वाक् के वाक् हैं। **'दग्धुः दग्धा अग्निः'** अग्नितादात्म्यापन्न अयःपिण्ड है दग्धा, अग्नि है दग्धा का भी दग्धा। अयःपिण्ड स्वतः अनुष्णाशीत है, लेकिन अग्नि के संयोग से-अग्नि तादात्म्यापन्न होकर दाहक हो जाता है तब **'अयो दहति'** बोलते हैं। **'दग्धुः अयः पिण्डस्य दग्धा अग्निः'**, दग्धा अयःपिण्ड का दग्धा अग्नि है। अर्थात् दाहकत्व, प्रकाशकत्व विशिष्ट लहो पिण्ड में जो दाहकत्व प्रकाशकत्व होता है, वह अग्नि दग्धा का दग्धा है। अर्थात् दग्धा अयः पिण्ड में दाहकत्व, प्रकाशकत्व देनेवाला जो अग्नि है वह 'दग्धुः दग्धा' है। तप्तायः पिण्ड में जो दाहकत्व-प्रकाशकत्व है वह सापेक्ष है सातिशय और अनित्य है। लेकिन जिस अग्नि के सम्बन्ध से लोहपिण्ड में अनित्य और सातिशय दाहकत्व-प्रकाशकत्व आता है, उस अग्नि में दाहकत्व-प्रकाशकत्व निरतिशय है। जैसे 'दग्धा का दग्धा अग्नि है' ऐसे ही 'श्रोत्र के भी श्रोत्र' भगवान् हैं। शब्द प्रकाशन-सामर्थ्य सम्पन्न इन्द्रिय श्रोत्र है। उस श्रोत्र में जो श्रोत्रत्व देने वाला है अर्थात् शब्द प्रकाशन-सामर्थ्य जिसके (सन्निधान) सम्बन्ध से आता है, वे भगवान् श्रोत्र के भी श्रोत्र है– **श्रोत्रस्य श्रोत्रम्'**। इसी तरह भगवान् मन के भी मन

हैं—**'मनसो मनः'** मन में मन्तव्य पदार्थों को प्रकाशन करने का सामर्थ्य जिससे प्राप्त होता है वह मन का भी मन है। इसी दृष्टि से **'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यः'** भगवान् राम सूर्य के भी सूर्य है। सूर्य में जो नेत्र प्रकाशन का आप्यायन का सामर्थ्य है, वह जिससे प्राप्त है श्रीराम हैं। **'अग्नेरग्निः'** श्रीराम अग्नि के भी अग्नि हैं। अग्नि में प्रकाशकत्व जिससे आता है, वह श्री राम हैं। केनोपनिषद् की कथा याद कर लो—अग्नि तृण नहीं जला सका। भगवान् ने तृण रख दिया—**'तृणं निदधौ'** (केनोपनिषद् ३.६), अग्नि ने हजार बल लगाया पर तृण नहीं जला। वायु आया, उसने भी बल लगाया, तृण को टस-से-मस भी नहीं कर सका। **'प्रभोः प्रभुः'** भगवान् प्रभु के भी प्रभु हैं। ईश्वर के भी ईश्वर श्रीराम हैं। हमरे यहाँ नन्ददास एक महात्मा हो गये हैं, वे कहते हैं—'हमारा कृष्ण कौन है ? ब्रह्म का भी ब्रह्म, ईश्वर का ईश्वर है'—

नन्द भवन को भूषण माई।
जसोदा (यशुदा) को लाल वीर हलधर को राधा रमण परम सुखदाई ॥
शिव को धन संतन को सर्वस, महिमा वेद पुरानन गाई।
इन्द्र को इन्द्र, देव देवन को, ब्रह्म को ब्रह्म अधिक अधिकाई ॥
काल को काल, ईश ईशनको, अति ही अतुल तुल्यो नहि जाई।
'नन्ददास' को जीवन गिरिधर, गोकुल गाँव को कुवंर कन्हाई ॥

नन्ददास जी ने कहाँ से यह लिया ? वाल्मीकि रामायण से। सार यह है कि ऐसे रामचन्द्र राघवेन्द्र स्वयं भगवान् हैं।

५. धर्म रक्षक 'श्रीराम'

उन्होंने भक्तों के हृदय में अपना पाद-पंकज स्थापित किया—

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥
(भागवत ९.११.१९)

(तदनन्तर अपना स्मरण करने वाले भक्तों के हृदय में अपने चरण कमल स्थापित करके, जो दण्डकवन के कांटों से बिंध गये थे, अपने स्वप्रकाश परमज्योतिर्मय धाम में चले गये।)

क्यों भाई, शुकाचार्य ने दण्डकवन के काँटे जिन चरणों में बिंधे हुए हैं, ऐसे चरण-पङ्कज को भक्तों के हृदय में क्यों विरजवाया है ? सीता भगवती की मंगलमयी शय्या पर समासीन, कौशल्योत्सङ्ग लालित या चक्रवर्ति-नरेन्द्र के उत्सङ्ग में लालित रामचन्द्र राघवेन्द्र भगवान् के पदारविन्द भक्तों के हृदय में विरजवाते ? नहीं; नहीं **विद्धं दण्डक कण्टकैः'**, 'भगवान् के चरण-कमलों में काँटे चुभे हुए हैं' पूर्वजों की मान-

मर्यादा के लिये, संस्कृति की रक्षा के लिये, धर्म की रक्षा के लिये; ऐसा ध्यान भक्तों को बना रहे इसलिये शुक्राचार्य ने काँटे चुभे चरण-कमल को भक्तों के हृदय में पधराया। राम नंगे पावों वन-वन विहरे, तब उनके पाँवों में काँटे चुभे। गोरक्षा के लिए धर्म की रक्षा के लिए, हमारे देवता भगवान् राम के मंगलमय पादों में काँटे चुभे। कितना सुकोमल है उनका चरण! पङ्कज का पराग की उसमें चुभता है। फिर कमल की कोमल पँखुड़ी चुभे यह तो बात गौण हो गयी। ऐसे चरणाविन्द में दण्डकवन के काँटे चुभे। हम भी धर्म की रक्षा के लिए, संस्कृति की रक्षा के लिए, पूर्वजों की मान-र्मादा की रक्षा के लिए सिर को हथेली में रखकर, प्राणों को खतरे में डालकर आनन्द से जूझना सीखें, इस बात को बताने के लिए शुकाचार्य ने कहा—**'विद्धं दण्डक कण्टकैः'**।

६. लीला पुरुषोत्तम 'श्रीकृष्ण' :—

वही परात्पर परब्रह्म प्रभु श्रीकृष्ण चन्द्र परमानन्दकन्द मदन मोहन व्रजेन्द्र-नन्दन के रूप में प्रकट हुआ। दोनों के रूप और वपु एक-सरीखे हैं। श्रीरामचन्द्र के नयन गंभीर हैं और श्रीकृष्णचन्द्र के चपल विशेष।

नारायण दोऊ एक हैं रूप रंग तिल रेख।
उनके नयन गंभीर हैं इनके चपल विशेख॥

श्री रामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, श्रीकृष्णचन्द्र लीला पुरुषोत्तम। दोनों साक्षात् परात्पर परब्रह्म प्रभु ही हैं।

७. श्रीवृन्दावन, गोपाङ्गनाएँ; श्रीकृष्ण और राधा का तात्त्विक स्वरूप :—

यह श्रीवृन्दावन धाम क्या है? पूर्णानुरागरससार का सरोवर। सरोवर में मिट्टी के पङ्क से समुद्भूत पङ्कज की आभा-प्रभा-शोभा बड़ी विलक्षण होती है। उसकी शोभा का बर्णन करते-करते कवीन्द्रगण अघाते नहीं। यदि दूध के सरोवर में मक्खन के पङ्क से उत्पन्न कोई पङ्कज हो तो उसकी शोभा, प्रभा, आभा, कान्ति कितनी अद्भुत् होगी? और कहीं अमृत के सरोवर में अमृतसार पङ्क से सरोज उत्पन्न हो तो उस पङ्कज की आभा, प्रभा, शोभा, कान्ति कितनी अद्भुत होगी? यहाँ तो पूर्णानुराग रससार सरोवर के पङ्क से प्रादुर्भूत (उत्पन्न) जो पङ्कज है, वही श्रीवृन्दावन धाम है। पूर्णानुरागरससार सरोवर समुद्भूत सरोज की जो पीली-पीली केसरें हैं वे गोपाङ्गना हैं। उन केसरों में जो पराग (सूक्ष्म रज) है वह हैं श्रीकृष्ण-चन्द्र परमानन्दकन्द मदनमोहन व्रजेन्द्र नन्दन। पराग में जो मकरन्द है, वह हैं श्री राधारानी नित्य निकुञ्जेश्वरी। इस तरह श्रीराधारानी सर्वान्तरङ्ग हैं। श्रीकृष्ण का अर्थ भी श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी और कृष्णचन्द्र दोनों ही हैं।

कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
(ब्र०वै०पु० ब्रह्मखण्ड २८)

'कृष्' भूवाचक है। भू माने सत्ता है। सत्ता माने भाव है। भाव माने स्थायी भाव है। वह सत्ता महासत्ता रूप है, जिसके बिना सब असत् है, उसी स्वप्रकाश सत् से सब की सत्ता है, वही 'कृष्ण' हैं। इसमें णकार निर्वृति या आनन्द का द्योतक है, वही श्री राधा हैं। आह्लाद की अन्तरात्मा आनन्द और आनन्द की आन्तरात्मा अह्लाद—दोनों एक तत्त्व हैं, भेद नहीं। इसप्रकार श्रीराधा-कृष्ण उभय, उभय-भावात्मा और उभय उभय-रसात्मा हैं।

स्थायी अवच्छिन्न चैतन्य को 'रस' कहते हैं साहित्यक लोग। रस गङ्गाधर देखो, काव्य प्रकाश देखो, स्थायी उपहित चैतन्य हो रस है। **'रसो वै सः'** (तैत्तिरीय २.६) जैसे लाख कठोर द्रव्य है।लेकिन अग्नि के संयोग से पिघल जाती है। रजिस्ट्री पत्र पर लाख की टिकिया पर मुहर के अक्षर लगाये जाते हैं! पहले दियासलाई लगाकर लाख की टिकिया को कोमल बना देते हैं तब उस पर मुहर के अक्षर लगाते हैं। चित्त सावयव है। मधुसूदन सरस्वती जी ने चित्त को सावयव बताया है **'स मनः असृजत'** (प्रश्नोपनिषद् ६.४) इस श्रुति के अनुसार मन या चित्त कार्य है। कार्य होने के कारण ही सावयव है। इसलिये इनमें द्रवता संभव है। **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'** (गो. सू. १।१।१६) यह नैयायिकों का मत है। उनके मत में मन अणुपरिमाण परिमित है, अतः एक साथ युगपत् ज्ञान अनुपपन्न है। पर वेदान्तियों के यहाँ मन मध्यम परिमित है। नैयायिक परमाणु के समान मन को नित्य मानते हैं। वेदान्तियों के यहाँ मन कार्य है, उसमें द्रवता संभव है।

परमाण्वेकरूपन्तु चित्तं न विषयाकृति।
इत्यादि मतमन्येषामप्रामाण्यादुपेक्षितम् ॥
(भक्ति रसायन १.१२)

"मन परमाणु रूप, एक तथा नित्य है इसलिए वह विभिन्न विषयाकार में परिणत नहीं हो सकता" इत्यादि अन्य लोगों-तार्किकों, प्राभाकरों और बौद्धों का मत अप्रामाणिक होने से उपेक्षणीय है ॥)

अपञ्चीकृत पञ्चभूतारब्धं सत्त्वप्रधानं संकोचविकासशीलं स्वच्छद्रव्यं चक्षुर्वण्मूर्तद्रव्याभिघातयोग्यञ्च देहपरिमाणं मनोऽभ्युपगन्तव्यम्।

भगवद् विषयक स्नेह से, भगवद् विषयक द्वेष से चित्त में द्रवता आती है। उदाहरण यह लो। आप यहाँ आये। बहुत-सी वस्तुओं को आपने देखा, कोई याद है आपको और कोई याद भी नहीं है। रास्ते में कोई कामिनी मिली हो, उसके दर्शन

से आपका चित्त द्रवीभूत हो गया हो, चित्त में अगर कामिनी का आकार अङ्कित हो गया हो तो कथा सुनते हुए भी मन में होगा 'आह-कैसा ? आप उसे भूलेंगे नहीं। कहीं सर्प मिला हो, उसके दर्शन से भय पैदा हुआ हो। भय से द्रवीभूत चित्त में सर्प की आकृति अङ्कित हो गई हो तो वह भूलती नहीं। दुश्मन के दर्शन से द्वेष उत्पन्न होता है। दुश्मन की आकृति चित्त में पड़ी हो तो वह भूलती नहीं। जिसके दर्शन से आपको काम नहीं हुआ, स्नेह नहीं हुआ, भय नहीं हुआ, द्वेष नहीं हुआ, उस वस्तु के दर्शन से आपके चित्त में द्रवता नहीं हुई, उसके स्वरूप का आकार आपके चित्त मे अङ्कित नहीं हुआ। यही उसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस तरह जिसके प्रति स्नेह होता है, जिसके प्रति काम होता है, उसके दर्शन से मन में द्रवता आ जाती है, कोमलता आ जाती है। द्रवीभूत अन्तःकरण जिस समय उस वस्तु को ग्रहण करता है, तब उसमें स्थायित्व होता है। इसलिए अग्नि के सम्बन्ध से द्रवीभूत लाक्षा (लाह) में हरिद्रा रंग डाल दो. वह लाक्षा से एकदम एकम्-एक हो जायगा। इसी तरह श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द मदनमोहन व्रजेन्द्र नन्दन के दर्शन से किसी के हृदय में काम पैदा हुआ, किसी के स्नेह पैदा हुआ, किसी के राग पैदा हुआ, किसी किसी के भय पैदा हुआ, अन्तःकरण द्रवीभूत हो गया। किसी का मन काम से, किसी का स्नेह से तो किसी का भय से पिघलता है कंस का मन भय से पिघल गया।

आसीनः संविशंस्तिष्ठान् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्॥

(भागवत १०.२.२४)

वह उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और चलते-फिरते-सर्वदा ही श्रीकृष्ण के चिन्तन में लगा रहता। जहाँ उसकी आँख पड़ती. जहां कुछ खड़का होता, वहां उसे श्रीकृष्ण दीख जाते। इस प्रकार उसे सारा जगत् ही श्रीकृष्णमय दीखने लगा॥)

उठता हुआ, बैठता हुआ, चलता हुआ, फिरता हुआ उसका मन कृष्ण में ही लगा रहता था। उसके द्रवीभूत मनमें कृष्ण-ही-कृष्ण स्फुरित होते थे। इस तरह से जिनका मन पिघलता है, इसी का नाम स्थायी भाव है। स्थायी उपहित चैतन्य का अर्थ होता है रस, प्रेम ! कहा है—

पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥

(यह श्रीव्रजगोपाङ्गनाओं का प्रेम रस सार समूह है अथवा सात्वतवृन्द का मूर्तिमान् सौभाग्य है कि वा श्रुतियों का गुप्तवित्त ब्रह्म ही श्यामल मोहमयी तेजोमयी मूर्ति को धारण करके प्रकट हुआ है।)

श्रीकृष्ण क्या है ? गोपाङ्गनाओं का पुञ्जीभूत प्रेम है। गोपाङ्गनाओं के मन में जो श्रीकृष्ण विषयक शृङ्गार रस का स्थायीभाव है, वह पुञ्जीभूत स्थायीभाव ही

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के रूप में प्रकट हुआ। सारे (सम्पूर्ण) स्थायीभावों का सार है महाभाव। अनेक अवस्थायें प्रेम की होती हैं—राग, अनुराग, भाव, महाभाव, मादनाख्य महाभाव, मोदनाख्य महाभाव। महाभाव स्वरूपिणी राधारानी वृषभानुदन्दिनी हैं। कृष्ण का अर्थ अखण्ड-अनन्त-निर्विकार सत्ता। अर्थात् अनन्त निर्विकार महाभावरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी ही कृष्ण रूप में प्रकट हुईं। अनन्तानन्द कृष्ण हैं। उन्हीं कृष्ण में माधुर्यसारसर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी वृषभानुनन्दिनी हैं। जैसे अमृत में माधुर्य होता है, उसके बिना अमृत अमृत ही नहीं है, गङ्गाजल में शीतलता, मधुरता, पवित्रता होती है, उसके बिना गङ्गाजल क्या है? वैसे ही जिस श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द में माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी वृषभानुनन्दिनी नहीं है वह कृष्ण तो राधा बिना आधा है। हम तो कहते हैं, राधा बिना आधा कृष्ण भी नहीं और कम।

इस तरह राधारानी वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द माने माधुर्यसारसर्वस्वविशिष्ट अचिन्त्यानन्तपरमसुधासिन्धु भगवान्। राधाकृष्ण अर्थात् गौरतेजः संवलित श्याम तेज और श्याम तेजः संवलित गौर तेज। इतना ही नहीं श्याम तेज भीतर भी है ओर बाहर भी है, गौर तेज भीतर भी है और बाहर भी है। एक गौर शीशी है उसमें श्याम रस भरा है और बाहर से भी वह श्याम वस्त्र से ही परिवेष्टित है और एक श्याम शीशी है, उसमें गौर तेज भरा है, वह गौर वस्त्र से परिवेष्टित है। आपने देखा है राधारानी गौर तेज हैं और नीलाम्बर से परिवेष्टित हैं। राधारानी के भीतर भी कृष्ण-श्याम तेज हैं।

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥
(श्रीकर्ण पूरस्य)

(व्रजबालाओं ने अपने प्रियतम के वियोगजन्य तीव्र ताप को प्रशान्त करने के लिए अपने कानों में नीलकमल के कर्ण फूल, नेत्रों में अञ्जन और हृदय में नीलवर्ण की महेन्द्र-नीलमणि का हार पहना है। इसी तरह मृगमद और नील निचोल को धारण कर रखा है। उन्होंने इन श्याम वर्ण की वस्तुओं को धारण करके प्राणधन श्यामसुन्दर को ही धारण किया है। उनके तो अखिल मण्डन समस्त शृङ्गार, एकमात्र 'श्रीहरि' ही हैं।)

गोपाङ्गनाओं के कानों में कुण्डल क्या है? कुवलय अर्थात् कमल कुड्मल। आँखों में अञ्जन कौन हैं? जैसे गोपाङ्गना कंकड़-पत्थर के आभूषणों को नहीं धारण करतीं, वैसे ही करिखा आँखों में नहीं लगातीं। जैसे मदनमोहन श्याम सुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ही कुवलय होकर गोपाङ्गनाओं के कुण्डल बने हैं, वैसे ही अञ्जन बनकर

उनकी आँखों की शोभा बढ़ा रहे हैं। उरःस्थल में जो महेन्द्रनीलमणि की माला है, वह भी श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन मदनमोहन ही हैं। उरोजों में मृगमद भी श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीकृष्ण ही हैं। वृन्दावन की तरुणियों के अखिलमण्डन श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द ही हैं। अर्थात् इन गोपाङ्गना जनों के, विशेषकर राधारानी वृषभानुनन्दिनी के हृदय में वही श्यामरस भरपूर है। वे उसी श्याम तेज का नीलाम्बर, उसी श्याम तत्त्व का अञ्जन, श्याम तेज का ही कुवलय, श्याम तेज की ही महेन्द्रनीलमणिमाला और श्याम तेज का ही सम्पूर्ण अलंकार धारण करती हैं। इधर श्यामसुन्दर के दामिनीद्युतिविनिन्दक पीताम्बर कौन हैं, जानते हो? राधारानी वृषभानुनन्दिनी ही। वही श्यामसुन्दर के हृदय में विराजमान हैं, वही उनके बाहर भी। श्याम तेज के भीतर गौर तेज और श्यामतेज के बाहर भी गौर तेज ही है। उसी गौर तेज परिवेष्टित, दामिनीद्युतिविनिन्दक पीताम्बर से भगवान् समलङ्कृत हैं। दामिनीद्युतिविनिन्दक पीताम्बर राधारानी वृषभानुनन्दिनी का ही मंगलमय स्वरूप है। इस तरह—

स बाह्याभ्यन्तरा ह्यजः (मुण्डकोपनिषद् २.१.२)

बाहर भी वही और भीतर भी वही, सब कुछ वही। श्याम तेज के बाहर-भीतर गौर तेज और गौर-तेज के बाहर-भीतर श्याम तेज। इस प्रकार श्रीकृष्ण माने राधा-कृष्ण। राधा वल्लभ मदिर में केवल एक ही भगवान् की मूर्ति है। वामाङ्ग में चन्द्रिका रहती है। एक ही स्वरूप में राधाकृष्ण दोनों हैं। राधारमण में भी एक रूप है, एक ही में दोनों हैं। राधाकृष्ण माने श्याम तेज संवलित गौर तेज और गौर संवलित श्याम तेज। दोनों तेज एक ही स्वरूप में मिला हुआ है। ऐसे श्रीकृष्ण का प्राकट्य होता है।

८. श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का अद्भुत प्राकट्य :—

श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ, बड़ा अद्भुत स्वरूप था। नन्दरानी व्रजेन्द्र नन्दिनी यशोदा रानी के वक्षःस्थल के दक्षिण भाग में कमलनाल के तन्तुओं के चूर्ण के समान सुन्दर एवं स्निग्ध श्रीवत्स का चिह्न दिखायी दिया तो उन्होंने समझा कि हमारे स्तनों से दूध की धारा पड़ गयी होगी, कोमल वस्त्र से पोंछने लगीं तो पुँछा नहीं। मालूम पड़ा कोई चिह्न है। भगवान् के दक्षिणावर्त की जो शुभ्रवर्ण की रोमराजि (भंवरी)-केशों की रोमराजि है, वही श्रीवत्स का चिह्न है। नन्दरानी ने सुवर्ण वर्ण रोमों की वामावर्तराजि से लाञ्छित वाम वक्षःस्थल जो कि विद्युत् से आश्लिष्ट श्यामल मेघ-खण्ड के समान अर्थात् नील नीरधर पर चमकती हुई दामिनी के समान सुशोभित होता था उसे देखा। अथवा मानो नवल तरुण तमाल पल्लव पर जैसे पीतवर्ण की विहंगिका (तितली) चमचमा रही हो ऐसा नन्दरानी ने देखा।

अथवा कसौटी पर जैसे कनक रेखा देदीप्यमान होती है, ऐसे ही भगवान् के वाम वक्षःस्थल पर वामावर्त की सुवर्ण वर्ण रोमराजि-लक्ष्मीचिह्न का नन्दरानी ने दर्शन किया।

९. सुषमासारसर्वस्व 'श्रीहरि' :—

भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में क्या कहना? उर में सुन्दर भृगु चरण श्रीवत्स तथा लक्ष्मी का सुन्दर चिह्न है। दक्षिण वक्षःस्थल में दक्षिणावर्त विसतन्तु के समान स्वच्छ स्निग्ध रोमों की राजि है। (मध्य में भृगु चरण और) वाम वक्षःस्थल में वामावर्त की सुवर्ण वर्ण रोमों की राजि है। यही दोनों रोमराजियाँ श्रीवत्स और लक्ष्मी के चिह्न हैं। महानुभावों का कहना है—सुषमा रूपी कामधेनु है। शृङ्गाररस-सारसर्वस्व ही उसका दुग्ध है। उसको कामदेव ने स्वयं जमाया है, उससे मक्खन निकाला है। उस मक्खन से ही भगवान् का मंगलमय स्वरूप प्रकट हुआ है।

१०. अनाघ्रात, अनपहृत-अनुत्पन्न-अनुपहत और अदृष्टाद्भुत पङ्कज 'श्रीकृष्ण' :—

सच्चिदानन्द-रससार सरोवरसमुद्भूत सरोज से ही भगवान् का श्रीमंगलमय विग्रह बना है—

अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसी
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥
(आनन्दवृन्दावन चम्पू २.११)

(तदनन्तर मूर्तिमान् चिदानन्दमय ज्योति स्वरूप वे श्रीकृष्ण, माता यशोदा की गोद में इस प्रकार शोभा पाने लगे मानो चिदानन्दमय सरोवर से एक ऐसे 'नील-कमल' का विकाश हुआ हो कि जिसकी सुगन्ध आजतक भ्रमरों के द्वारा भी नहीं सूँघी गई हो; जिसकी सुगन्ध, पवन समुदाय के द्वारा भी अपहृत नहीं की गई हो एवं जो जल में भी उत्पन्न नहीं हुआ हो तथा जिसको तरङ्ग कणों को अधिकता कभी स्पर्श भी न कर पाई है और जिसको इसके पहले किसी ने देखा भी न हो; अतः ये श्रीकृष्ण—'अनाघ्रात', 'अनपहृत', 'अनुत्पन्न', 'अनुपहत', 'अदृष्ट' दिव्यातिदिव्य नील कमल के समान हैं।)

११. सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्ति 'श्रीकृष्ण' :—

जो लोग शङ्कराचार्य जी महाराज को मायावादी कहकर उपहास करते हैं, वे समझते-बूझते नहीं, तभी ऐसा कहते हैं।

भगवान् शङ्कराचार्य स्वयं लिखते हैं—

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान्प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्,
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ॥

(प्रबोधसुधाकर २४२)

(जिन्होंने ब्रह्मा जी को अनेक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अलग-अलग अति अद्भुत ब्रह्मा, वत्सोंसहित समस्त गोपों तथा भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डों के समस्त विष्णु दिखाये और जिनके चरणोदक को शङ्कर, अपने शिर पर धारण करते हैं वे श्रीकृष्ण त्रिमूर्ति-ब्रह्मा-विष्णु और महेश से भिन्न कोई अविकारिणी सच्चिदानन्दमयी नीलिमा हैं।)

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम् ॥

(प्रबोधसुधाकरः १९५)

(जो ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द, प्रकृति से परे परमात्मा सब भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित है, यह यदुकूल भूषण श्रीकृष्ण वही तो है।)

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाऽप्ययं सच्चिदानन्दः ॥

(प्रबोधसुधाकरः २००)

(यद्यपि यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्र साकार हैं और एकदेशी से दिखायी देते हैं, तथापि ये सर्वव्यापी, सर्वात्मा और सच्चिदानन्द ही हैं।)

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥

(भागवत १०.१३.४५)

(वे त्रिकालाबाधित सत्य हैं, स्वयं प्रकाश और अनन्तानन्द स्वरूप हैं। उनमें जड़ता और चेतनता का भेदभाव नहीं है। वे सबके-सब एक रस हैं। यहाँ तक कि उपनिषद्दर्शी तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि भी उनकी अनन्त महिमा का स्पर्श नहीं कर सकती।)

सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तानन्द स्वरूप ही भगवान् हैं। विजातीय भेद और सदेकरूपता के द्योतन के लिए 'मात्र' और 'एक' इन दोनों पदों का प्रयोग किया है—

सत्याश्च ज्ञानरूपाश्चानन्ताश्चानन्दस्वरूपाश्च, तत्रापि तदेकमात्राविजातीय-सम्भेदरहितास्तत्रापि चैकरसाः सदैकरूपा मूर्तयो येषां ते। यद्वा, सत्यज्ञानादिमात्रैक-रसं यद् ब्रह्म तदेव मूर्तयो येषामिति। अतएवोपनिषदात्मज्ञानं सैव दृक् चक्षुर्येषां तेषामपि हि निश्चितमस्पृष्टभूरिमाहात्म्या न स्पृष्टं स्पर्शयोग्यं भूरिमाहात्म्यं येषां ते तथा भूताः सन्तो व्यदृश्यन्तेति ॥ (श्रीधरी)

लोक में यह देखा जाता है कि ग्राह्य-ग्राहक-भावों में साजात्य रहा करता है। तैजस नेत्र से तैजस रूप का ज्ञान होता है तथा आकाशीय श्रोत्र से ही आकाशीय शब्द का ज्ञान होता है। मन पाँचों भूतों के सात्त्विक अंश का कार्य है, इसीलिए उससे पाँचों भूतों के गुणों का ग्रहण हो सकता है। इसीप्रकार यहाँ भी देखना चाहिये। भगवान् प्राकृत हैं या अप्राकृत? वे तो सत्यज्ञानानन्तानन्दमूर्ति ही हैं। उनके महान् माहात्म्य को समझने में तो वेदान्तविद् भी असमर्थ हैं। उनमें प्राकृत-भाव का लेश भी नहीं है। दीपकलिका क्या है? वह शुद्ध अग्नि मात्र ही तो है। जिस प्रकार बत्ती और तैल को निमित्त बनाकर अग्नि ही दाहकत्व-प्रकाशकत्व-विशिष्ट रूप में परिणत हुआ करता है, उसी प्रकार परमान्तरङ्ग अचिन्त्य-दिव्याति-दिव्य लीला-शक्ति को ही निमित्त बनाकर वह शुद्ध परमानन्दघन परब्रह्म ही भगवान् श्रीकृष्ण रूप में प्रकट होता है।

१२. भगवान् के जन्म और कर्म दिव्य हैं, वे स्वयं अप्राकृत हैं :—

जिस समय भगवान् ऊखल में बँध गये थे उस समय ऐसा कहा गया है—**'गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा'** (भागवत १०.९.१४), यहाँ **'प्राकृतं यथा'** इस उक्ति का क्या तात्पर्य है? इसका यही रहस्य है कि भगवान् प्राकृत-भिन्न हैं। गीता में भगवान् ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(भगवद्गीता ४.९)

(हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं—अलौकिक हैं, जो इन्हें यथार्थ जानता है, वह इस शरीर को छोड़कर पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता, मुझे ही प्राप्त होता है—मुक्त हो जाता है।)

इस प्रकार जब स्वयं भगवान् ही कह रहे हैं कि जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जानता है, वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता तो भगवान् की अप्राकृतता के विषय में किसी सन्देह का अवकाश ही कहाँ? वामन पुराण का वचन है—

सर्वे देहाः शाश्वताश्च नित्यास्तस्य महात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥

अर्थात् उन भगवान् के सभी शरीर शाश्वत और नित्य हैं, हान और उपादान रहित हैं, प्रकृति से उत्पन्न-प्राकृत तो बिल्कुल हैं ही नहीं। इसी प्रकार और भी बहुत-सी उक्तियों से सिद्ध होता है कि भगवान् का दिव्य मंगलमय विग्रह अप्राकृत ही है। जो लोग युक्तिवाद से उसे अनित्य या भौतिक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हीं से विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—

'ये तु भगवतो विग्रहं लक्ष्यीकृत्य युक्तिशरानादित्सवस्ते
घोरे नरके निपतिष्यन्ति अलं तैः सहालापेन।'

अर्थात् जो भगवान् की दिव्य मंगलमयी मूर्ति को लक्ष्य करके युक्तिरूप बाणों को ग्रहण करना चाहते हैं, वे घोर नरक में गिरेंगे, उनके साथ बात करने की भी आवश्यकता नहीं।

ऐसा क्यों ? जिस प्रकार **'परदारान्नाभिगच्छेत्'** इत्यादि निषेध-वाक्यों का अतिलङ्घन करने से जीव नरकगामी होता है, वैसे ही भगवदीय-रहस्य के विषय में कुछ भी वाद-विवाद करने वाले पुरुष को अवश्य उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, क्योंकि भगवान् की गति अचिन्त्य है और अचिन्त्य विषयों के सम्बन्ध मे तर्क करना सर्वथा निन्दनीय है—

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते धातवः पाञ्चभौतिकाः।
तेषां मनुष्यास्तर्केण प्रमाणानि प्रचक्षते॥
(महाभारते भीष्म पर्वणि ५.११)

(भिन्न-भिन्न लोकों में पाञ्चभौतिक धातु दृष्टिगोचर होते है। मनुष्य तर्क के द्वारा उनके प्रमाणों का प्रतिपादन करते हैं।)

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत् तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥
(महाभारते भीष्मपर्वणि ५.१२)

(परन्तु जो अचिन्त्यभाव है, उन्हें तर्क से सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिये। जो प्रकृति से परे है, वही अचिन्त्य स्वरूप है।)

अतः भगवद्विग्रह के अप्राकृतत्व के विषय में किसी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिये। भगवद्विग्रह में उसका अनित्यत्व सिद्ध करने वाले, सावयवत्वादि हेतुओं का अभाव है, क्योंकि वह प्राकृतत्वादि दोषों से रहित है। इस क्रम से देखें तो भगवान् अप्राकृत होने के कारण नित्य हैं। यदि कहो कि भगवद्विग्रह को अप्राकृत और नित्य मानने पर तो अद्वैतवाद भी सिद्ध न हो सकेगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्रकृति की सत्ता वेदान्तसिद्धान्तानुसार नहीं, बल्कि सांख्यमतसम्मत

है। वेदान्तियों ने तो **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** (ब्रह्मसूत्र १.१.५.५) इत्यादि सूत्रों से उसका खण्डन किया है।

यहाँ सांख्यवादी यह आपत्ति करता है कि **'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्'** (गीता १४.१७) इस उक्ति के अनुसार जबकि चेतन को सत्त्वगुण के संसर्ग से ही ज्ञान होता हैं तो सत्त्वगुण वाली प्रकृति को भी ज्ञान हो ही सकता है; अतः **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** इस सूत्र के अनुसार भी वही जगत् का उपादान कारण होनी चाहिये। यदि कहा कि अपेक्षा से रहित चेतन में ही ज्ञान (ईक्षण) होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रश्न होता है कि चेतन में नित्य ज्ञान है या अनित्य? यदि नित्य कहें तब तो पुरुष की स्वतन्त्रता का व्याघात होगा। नित्य वस्तु का कर्ता के अधीन होना असम्भव है और तुम्हारे कथनानुसार ज्ञान चेतन कर्ता के अधीन होना चाहिए, इसके विपरीत यदि उसमें नित्य ज्ञान माना जाय तो वह सहेतुक ही होना चाहिए। ऐसो अवस्था में हेतु के सम्बन्ध में भो ऐसा विकल्प होगा कि वह नित्य है या अनित्य? यदि हेतु नित्य है तो उससे नित्य ज्ञान होना चाहिये। यदि अनित्य है तो उसका भी कोई अन्य हेतु होना चाहिए। इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा।

इन सब आपत्तियों का वेदान्ती इस प्रकार उत्तर देते हैं—प्रकृति में ज्ञान (ईक्षण) नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें जिस प्रकार ज्ञान का हेतु सत्त्वगुण है उसी प्रकार उसका निरोध करने वाला तमोगुण भी है, अतः केवल चेतन में ही ईक्षण हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार यद्यपि उसमें नित्य ज्ञान ही सिद्ध होता है तथापि आगन्तुक विषय के संसर्ग से उसका आगन्तुक होना भी सम्भव ही है। जैसे नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्य में आगन्तुक प्रकाश्य के संसर्ग से सूर्य प्रकाशित करता है, इस प्रकार आगन्तुक प्रकाशन का व्यपदेश होता है। यहाँ जो प्रकाश्य है वह अनादि और अनिर्वाच्य तत्त्व है। सांख्यवादी की गुणमयी प्रकृति भी उसी के अन्तर्गत है। परन्तु भगवच्छक्ति परम दिव्य और शुद्ध है तथा मूलप्रकृति त्रिगुणमयी एवं जड़ है। देखो एक वृक्ष के बीज में कितनी शक्तियाँ रहती हैं। उसमें अति कठोर कण्टकजनन की भी शक्ति है और अत्यन्त मनोज्ञ सौन्दर्य-माधुर्यमय पुष्प उत्पन्न करने की भी। इन दोनों प्रकार की शक्तियों में कोई विलक्षणता है या नहीं? जिस प्रकार इन दोनों शक्तियों में महान् अन्तर है, उसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् की उत्पत्ति करने वाली गुणमयी शक्ति और अति अलौकिक दिव्य मङ्गलविग्रह को व्यक्त करने वाली लीलाशक्ति में भी बहुत बड़ा अन्तर है। यदि उनमें अन्तर नहीं तो जिन सनकादि को प्रपञ्च की कारणभूता कोई भी शक्ति मोहित नहीं कर सकती थी, उन्हें भगवान् के चरण-कमलों से लगी हुई तुलसी की दिव्य गन्ध ने क्यों मोहित कर

दिया ? अतः यह सिद्ध हुआ कि दिव्य भगवद्विग्रह को प्रकट करने वाली **लीला-शक्ति परा है** और जगदुत्पादिनी **गुणमयी शक्ति अपरा** है।

इससे अद्वैतवाद में भी कोइ भेद नहीं आता। जिस प्रकार जल में तरङ्गें रहती हैं और उनका जल से अभेद रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी पराशक्ति अभिन्नरूप से रहती है। यह बात शुद्धाद्वैतियों को भी अभिमत है। जब उसने पूछते हैं कि भला शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, तो वे कहते हैं कि भगवान् में एक अघटितघटनापटीयान् आत्मयोग है, उसी से प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। इस बात को सिद्ध करने के लिये वे श्री यशोदा जी के इस वाक्य को प्रमाण देते हैं—

अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः।
(भागवत १०.८.४०)

अर्थात् जिस समय माता को यह दिखाने के लिये कि, 'मैंने मिट्टी नहीं खायी' भगवान् ने अपना मुँह खोलकर दिखलाया तो उसमें नन्दरानी को सारा ब्रह्माण्ड दिखायी दिया। यह देखकर वे बड़ी आश्चर्य चकित हुईं और सोचने लगीं कि यह क्या भेद है ? क्या मुझे ही कोई भ्रम हो गया है अथवा कोई राक्षसों का उपद्रव है ? ऐसी कोई बात तो है नहीं, अतः मालूम होता है कि यह मेरे इस बालक का ही कोई विलक्षण आत्मयोग है।

ठीक यही बात अद्वैतवादी भी मानते हैं। यहाँ **'यः कश्चन'** कहने का क्या तात्पर्य है ? हम पूछते हैं कि यह आत्मयोग भगवान् से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है, तब तो अद्वैत न रहा और यदि अभिन्न है तो भगवान् की तरह यह कूटस्थ होगा और कूटस्थ होने पर प्रपञ्चोत्पादन में समर्थ नहीं होगा। इसलिये इसे न भिन्न कर सकते हैं और न अभिन्न ही। यहाँ जो **'यः कश्चन'** पद है, वह उस आत्मयोग की अनिर्वचनीयता द्योतित करने के लिये है। इसलिए वह भगवान् से अव्यतिरिक्त होने पर भी भगवान् के दिव्यातिदिव्य विग्रह के प्रादुर्भाव का कारण है। इसलिये इस विषय में कोई विशेष मतभेद नहीं है।

हमारा आपका शरीर भौतिक है चर्म-मांसमय है। ऐसे चाम और मांस का भौतिक शरीर भगवान् का नहीं है। भौतिक नहीं है अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश का बना हुआ भगवान् का स्वरूप नहीं है।

भगवान् के स्वरूप की प्रकृति अर्थात् उपादान क्या है ? सत्यज्ञानानन्दमात्र, उसमें कोई मिलावट नहीं है। निखालिस (खालिस, नि=नितराम्) सच्चिदानन्द ही भगवान् के श्री विग्रह का उपादान है। कहते हैं 'यह निखालिस सरसों तेल है' इसी तरह **'सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः'** विशुद्ध सच्चिदानन्द मूर्ति भगवान् हैं।

इसलिये भक्तों ने उनका वर्णन किया है—

अभ्यक्तमिव सुरभितमस्नेहेन उद्वर्तितमिव सौरभ्येण, स्नातमिव माधुर्येण, मार्जितमिव लावण्येन, अनुलिप्तमिव सौन्दर्येण, विभूषितमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्या, पूजितमिव भवनदेव्या गन्धफलीभिरिव सूतिप्रदीपकलिकाप्रतिच्छायाभिः, स्तोकानामप्यवयवकिसलयानामोजसा कुर्वन्तमिव कुवलयकायमानानि सूतिप्रदीपनिकुरम्बाणि, अङ्कुरमिव नवनीलमणीन्द्रस्य, पल्लवमिव तमालस्य, कन्दलमिव नवाम्भोदस्य, कस्तूरिकातिलकमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्याः, सिद्धाञ्जनमिव सौभाग्यसम्पदा, सरसीकुर्वन्तमरिष्टमपि सकलारिष्टशमनम्, बालकमपि नवालकम्, मृदुमधुरतरकरशाखाभिर्भवल्लक्षणानि मत्स्याङ्कुशादिलक्ष्माणि गोपयितुमिव मुष्टीकृतकरकमलकोरकमुत्तानशायिनं मुकुलिताक्षमैक्षिषत । (आनन्दवृन्दावन चम्पू २.१३)

उस समय श्रीकृष्ण अतिशय सुगन्धित स्नेह के द्वारा मानो लिप्त हैं, अपने शरीर की स्वाभाविक सुगन्ध के द्वारा मानो उनका उबटन हो गया है ; मानो माधुर्यरस के द्वारा उनका स्नान हो गया है ; लोकोत्तर निजी लावण्य के द्वारा मानो उनका अङ्गप्रोक्षण हो गया है ; चन्दन आदि की तरह निजी सौन्दर्य से ही मानो उनका अनुलेपन हो गया है एवं तीनों लोकों की शोभा के द्वारा वे विभूषित हैं एवं सूतिकागृह की प्रदीप कलिकाओं के समान चम्पा के पुष्पों के द्वारा भवन की अधिष्ठात्री देवी ने मानो उनका पूजन कर दिया है एवं वे अपने छोटे-छोटे हस्त-पादादि अङ्गरूप पल्लवों के स्वाभाविक तेज के द्वारा सूतिकागृह की दीपक श्रेणी को मानो कमल की कलिकाओं के समान बना रहे हैं एवं मानो वे इन्द्रमणि के अङ्कुर हैं, मानो तमाल के पल्लव हैं, मानो नूतन जलधर के अङ्कुर हैं, मानो त्रैलोक्य लक्ष्मी के कस्तूरी के तिलक हैं, मानो सौभाग्यरूप सम्पत्ति के सिद्धाञ्जन हैं एवं अरिष्टको अर्थात् सूतिका गृह को सरस बनाने वाले होकर भी समस्त अरिष्ट-अशुभ के शामक हैं, बालक होकर भी नवीन अलकावलियों से युक्त हैं तथा कोमल एवं अत्यन्त मधुर अपनी अंगुलियों के द्वारा भगवत्ता के द्योतक, मत्स्य अंकुशादि चिन्हों को छिपाने के लिये ही मानो करकमल रूप कलिका की मुट्ठी बना रहे हैं एवं वे नेत्र मूंदकर ऊपर की ओर मुख करके सीधे शयन कर रहे हैं उनको व्रजाङ्गनाओं ने इस प्रकार देखा ॥)

निर्मितं किल मृगमदसौरभतमालदलसारेण,
अभ्यक्तं किल निखिलविलम्बकलावर्ण्येन,
उद्वर्त्तितं किल निजदेहतेजसा, स्नातं किल
निजमुखनिर्यत्कान्तिसुधया, अनुलिप्तं किल
जननीदृष्टिकर्पूरलब्धसंघृष्टिभद्रश्रिया,
भूषितं किल सहजशुभतारूषित'निजाकारेण'

(गोपाल चम्पूः ३.१४९)

यह बालक, मानो कस्तूरी की सुगन्ध से पूर्ण तमालदल के सार द्वारा गठित हुआ है, जिसके द्वारा समस्त चित्त-धर्म व देह-धर्म विगलित हुए जा रहें हैं उस लावण्य द्वारा ही मानो यह श्रीविग्रह रचित है। अपनी देहकान्ति के कारण झलमला रहा है, अपने मुखचन्द्र से स्रवित कान्ति-सुधा में स्नान किये हुए है, माता की दृष्टि रूप कर्पूर युक्त संघर्षित चन्दन से मानो अनुलिप्त है, स्वाभाविक चन्दन गंधित व मंगलमय अपने विग्रह द्वारा ही मानो अलंकृत हो रहा है ॥)

भगवान् का शृङ्गार तो कहो जरा। **'उद्वर्तितमिव सौरभ्येण'** अन्यत्र तो तो उबटन से सौरभ्य आता है। मङ्गलमय अङ्ग में उबटन लगाओ तो सौरभ्य आता है। पर यहाँ तो सौरभ्यसारसर्वस्व से ही उबटन किया गया है। उबटन का मसाला ही सौरभ्यसारसर्वस्व है। उबटन के बाद अभ्यङ्ग होता है। यहाँ अभ्यङ्ग किसका ? **'अभ्यक्तमिव सुरभितमस्नेहेन'** राधारानी वृषभानु नन्दिनी का जो प्राणधन प्रियतम विषयक स्नेह है, उसी से अभ्यङ्ग हुआ है।' **'स्नातमिव माधुर्येण'** माधुर्यसारसर्वस्व से स्नान कराया गया है। साथ ही श्री भगवान् के अङ्ग का जो महः—तेज है, मानो उसी से स्नान कराया गया है। माने भगवान् के रोम-रोम में सौन्दर्यामृत सिन्धु है, रोम-रोम में माधुर्यामृत सिन्धु है। भगवान् के श्रीअङ्ग से समुद्भूत जो अनन्तानन्द-सौन्दर्यसारसिन्धु, माधुर्यसारसिन्धु, सौगन्ध्यसारसिन्धु इसी से भगवान् का अवगाहन स्नान कराया गया है। उसके बाद मार्जन चाहिये तो **'मार्जितमिव लावण्येन'** अन्यत्र तो मार्जन से लावण्य आता है, परन्तु यहाँ तो लावण्य से ही मार्जन किया गया है। **'अनुलिप्तमिव सौन्दर्येण'** सौन्दर्यसारसर्वस्व से ही श्री अङ्ग का अनुलेपन किया गया है। **'विभूषितमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्या'** त्रैलोक्य लक्ष्मी के द्वारा आपको भूषित-अलङ्कृत-सुशोभित किया गया है। इस तरह से भगवान् के दिव्य मंगलमय स्वरूप का प्राकट्य हुआ है। नन्दरानी ने भगवान् का दर्शन किया।

१३. श्री वृन्दावनधाम :—

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् की अभिव्यक्ति का स्थल ही वृन्दावन धाम है। अद्वैतसिद्धान्तपरिनिष्ठित प्रबोधानन्द सरस्वती श्री वृन्दावनधाम को सच्चिदानन्द बताते हैं—

'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति।'

भगवदाकार से आकारित वृत्ति पर भगवत्तत्त्व का प्राकट्य होता है, उसे भी वृन्दावन कहते हैं। इस तरह साभास अव्याकृत एवं साभास चरमावृत्ति को भी वृन्दावन कहते हैं। इसीलिये जो महानुभाव वृन्दावन के उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावन में प्रारब्धवश नहीं रह पाते, वे भी व्यापी-वैकुण्ठ, कारण-तत्त्व स्वरूप ब्रह्म

के व्यापक होने से, तत्स्वरूप वृन्दावन का प्राकट्य शक्तिबल से कहीं भी रहकर सम्पादन करते हैं।

आनन्द वृन्दावन चन्पू में लिखा है—

निखिलगुणवृन्दावनं वृन्दावनं नाम वनम् (आनन्द वृन्दावनचम्पूः १.१७)

वृन्दावन माने **'सकलगुणवृन्दावनम्'** सकल गुण-गणों का वृन्द। **'वृन्दाया यौवनं वृन्दावनम्'** वृन्दावन वृन्दा का यौवन है अर्थात् वृन्दा का देदीप्यमान स्वरूप ही है। **व्रजाङ्गनावृन्दस्य वनं जीवनं वृन्दावनम्'** व्रजाङ्गनावृन्द का जीवन ही वृन्दावन है। **'वृन्दस्य गुणसमूहस्य, गुणिसमूहस्य अवनं यस्मात् तत् वृन्दावनम्', भक्तवृन्दानां अवनं यस्मात्, लोकोत्तरकल्याणगुणगणानां अवनं यस्मात्** तत् वृन्दावनम्' अर्थात् रसिकवृन्द, गुणवृन्द, लोकोत्तर कल्याण गुणगण, गुणिवृन्दका संत्राणरक्षण जिससे है, वह श्री वृन्दावन है।

हमने पहले कहा श्रीवृन्दावन धाम क्या है? पूर्णानुरागरससारसरोवर-समुद्भूत सरोज है। सच्चिदानन्द रससार से भी श्रेष्ठ पूर्णानुराग रससार है। पूर्णानुरागरससार सरोवर में जो तत्सारसर्वस्वभूत पङ्क उससे समुद्भूत पङ्कज है श्रीवृन्दावन। उसके बीच में जो कर्णिका है, उसमें जो पीली केसरें हैं, वही हैं गौराङ्गी गोपाङ्गनायें। उनमें जो पराग है वह श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द मदन-मोहन हैं। पराग में जो मकरन्द है वही हैं राधारानी वृषभानुनन्दिनी नित्य-निकुञ्जेश्वरी। इससे भी ऊँची बात क्या है? श्रीराधारानी का हृदय श्रीवृन्दावन धाम है। श्रीराधासुधानिधि में एक श्लोक है—

गौराङ्गे म्रदिमा स्मिते मधुरिमा नेत्राञ्चले द्राघिमा
वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये गतौ मन्दिमा।
श्रोण्यां च प्रथिमा भ्रुवोः कुटिलिमा बिम्बाधरे शोणिमा
श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा ध्यानेऽस्तु मे गोचरः॥

(राधासुधानिधि ७४)

हे श्रीराधे! आपके गौर अङ्गों की मृदुलता, मन्द हास्य की माधुरी, नेत्र प्रान्त की विशालता, उरोजों की गुरुता तथा कटि प्रदेश की कृशता, चाल की मन्दता और नितम्बों की स्थूलता, भृकुटी की वक्रता अधरों की लालिमा तथा आपके हृदय में रस की जो स्तब्धता है, वह मेरे ध्यान का विषय होवे।

जैसे प्रेमोद्रेक में श्रीचैतन्य महाप्रभु कभी-कभी मूर्च्छित होते थे, ऐसे राधारानी के जीवन में दो अवस्थायें आती थीं, एक तो उन्माद और दूसरी मूर्च्छा।

उन्माद अवस्था तो सम्पूर्ण गोपाङ्गना जन हैं, श्रीराधारानी के हृदय में जो जड़िमा है, वह श्रीमद्वृन्दावन धाम है।

भक्तों ने कहा है—

रे मन बृन्दा विपिन निहार।

यद्यपि मिलें कोटि चिन्तामणि तदपि न हाथ पसार॥

विपिनराज सीमा सों बाहर हरि हू को न निहार।

जै श्री भट्ट धूरि धूसरि तन यह आशा उर धार॥

विपिन राज सीमा के बाहर–बाएं श्रीकृष्ण भी हों तो मत निहारो, दाएं हों तो निहारों। अर्थात् श्रीवृन्दावन के श्रीकृष्ण को निहारो। इसलिए कहते हैं कि यहाँ पांच श्रीकृष्ण है—एक द्वारकाधीश श्रीकृष्ण, दूसरे मथुरानाथ श्रीकृष्ण, तीसरे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण, चौथे वृन्दावन श्रीकृष्ण और पाँचवें नित्यनिकुञ्जमन्दिराधीश्वर श्रीकृष्ण। **'व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्'** व्रज, वन और निकुञ्ज में भी उत्तरोत्तर श्रैष्ठ्य है। इसलिए वृन्दावन धाम से उत्कृष्ट कोई वस्तु नहीं। श्रीकृष्ण तो परागकोटि में आते हैं। मकरन्दकोटि में आती हैं श्री राधारानी वृषभानु. नन्दिनी। इस तरह श्रीराधारानी के हृदय की जो जड़िमा है—सर्वोत्कृष्ट अनुराग की चरमावस्था वही श्री वृन्दावन धाम है। फिर श्रीमद्वृन्दावन धाम के सेवन से रति, प्रीति प्राप्त हो तो आश्चर्य की बात नहीं। यहां की जितनी तरु-लता-गुल्म हैं सब चेतन हैं, अचेतन जड़ नहीं। इसलिये प्रिया-प्रियतम निकलते हैं तो सब लताएँ उनको मार्ग देती हैं। जहां जो आवश्यक समझती हैं, भावों का आविर्भाव करती हैं।

१४. मृद्भक्षण लीला :—

श्रीवृन्दावनधाम के भक्त लोग कहते हैं—यहाँ ऐश्वर्याधिष्ठात्री थोड़ी सी दूर रहती हैं। पीछे-पीछे रहती हैं। यहां तो माधुर्यसारसर्वस्व की अधिष्ठात्री का ही प्राधान्य होता है। इसलिये कहते हैं कि श्यामसुन्दर ने मिट्टी खायी, ग्वाल बालों ने जाकर कह दिया—'मैया! तेरे लाला ने मिट्टी खायो है।' माँ छड़ी लेकर दौड़ी। मदन मोहन श्याम सुन्दर के दोनों हस्तारविन्द को एक हाथ में पकड़ लिया और एक हाथ में छड़ी थामते हुए बोली—'लाला ठीक कर दूं?' अनन्त ब्रह्माण्ड के ब्रह्मादिदेव शिरोमणियों को जिनकी माया ठीक करती रहती है, उसको नन्दरानी ठीक करने चलीं। माँ ने पूछा—'क्यों लाला, तैंने मिट्टी खायी?

भगवान् डर गये, सोचा 'अब मार पड़ेगी, इससे झूठ बोल दूं।'

कहने लगे, 'माँ मैंने मिट्टी नहीं खायी', 'नाहं भक्षितवानम्ब!'

माँ—"तेरे ग्वालबाल सब कहते हैं, और तेरा दाऊ भैया भी कह रहा है कि तैंने मिट्टी खायी है।"

श्यामसुन्दर—'**सर्वे मिथ्याभिशंसिनः**' (भागवत १०.८.३५)

माँ! सब झूठ बोलते हैं, ये सब मुझे पिटवाना चाहते हैं. और तो और दाऊ भैया भी मुझे पिटवाना चाहते हैं। भगवान् ने सोचा था कि ऐसा कह देने से अम्बा को विश्वास हो जायगा और वह मुँह खुलवाकर नहीं देखेगी। परन्तु नन्दरानी भी पूरी पक्की थी। उसने कहा, "अगर ऐसी बात है तो मुख खोल दे"—"**तर्हि व्यादेहि**" अब तो भगवान् फँस गये। अगत्या व्याध से डरे पक्षी की तरह मुख खोल दिया—"**व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः।**" मुख के खुलते ही उसमें सागर, भूधर, वन, पर्वत दीख पड़े। यशुमति डरी, उसके हाथ से छड़ी गिर गयी, वह बेहोश हो गयी।

यहाँ भिन्न-भिन्न ढंग के भाव हैं। ज्ञानी लोग कहते हैं—भगवान् झूठ नहीं बोलते। वे सर्वेश्वर, सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधिपति झूठ काहे को बोलेंगे?

उनसे पूछो—कैसे कह दिया, '**नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः**' वे उत्तर देगें—वे अकर्ता-अभोक्ता नित्यशुद्ध, बुद्ध, मुक्त हैं। वे भला भोक्ता कैसे हो सकते हैं? जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति होती है—'**लोहितः स्फटिकः**' तो भी बुद्धिमान् जानता है—'**स्वच्छः स्फटिकः**' जो जवाकुसुम के सन्निधान से लौहित्य प्रतीव हो रहा है, वह औपाधिक है। वैसे ही देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि अहङ्कार से सर्वद्रष्टा निर्विकार अखण्डात्मा में व्यापारवत्ता की प्रतीति होती है। देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहङ्कार की व्यापारवत्ता का ही भान सर्वद्रष्टा सर्वसाक्षी आत्मा में हो रहा है। '**ध्यायतीव लेलायतीव**' (बृहदारण्यक ४.३.७)। भागवत में भी कहते हैं पुरञ्जनी रोवे तो पुरञ्जन रोवे, पुरञ्जनी गावे तो पुरञ्जन गावे और पुरञ्जनी सोवे तो पुरञ्जन सोवे। माने '**बुद्धौ लेलायन्त्यां आत्मा लेलायतीव**' बुद्धि लेला, खेला, विलास करने लगती है तो सर्व द्रष्टा अन्तरात्मा भी लेला, खेला और विलास करता हुआ-सा प्रतीत होने लगता है। इसलिये देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार के सन्निधान से ही आत्मा में कर्तृत्वादि भासित होते हैं। भगवान् सर्वथा निर्विकार हैं, माया को लेकर ही उनमें कर्तृत्वादि का आधान होता है। फिर वे सम्पूर्ण प्रपञ्च के अभिन्न निमित्तोपादान कारण और अधिष्ठानमूल ही हैं। यही कारण है कि कुछ टीकाकार भगवदुक्तियों को सत्य सिद्ध करते हुए—'**नाहंभक्षितवान्**' की व्याख्या करते हैं—"**नाहंकिञ्चिद् बाह्यं भक्षितवान् किन्तु सर्वं मदन्तस्थमेव**" अर्थात् 'मैंने कोई बाहर की वस्तु नहीं खायी, सब कुछ मेरे उदर में ही है।'

परन्तु श्री जीव गोस्वामी आदि का कहना है कि भगवान् झूठ बोले ही और उन्हें बोलना ही चाहिये था। बात यह है कि भगवान् की दो प्रधान शक्तियाँ हैं—

एक माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति और दूसरी ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति। उस समय व्रज में माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति का साम्राज्य था, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्द श्रीमन्नन्दरानी यशोदा के उत्संग में लालित हो रहे थे। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति उस समय रुद्धप्रवेशा थी। वह प्रभु की सेवा का अवसर ढूँढ़ रही थी। जब उसने देखा कि हाथ में छड़ी लिये यशोदा अब मेरे प्रभु को, प्राणधन को मारे बिना न रहेगी, तब अपने कौशल से उन्हें बचाने का प्रयत्न किया, यशोदा को श्रीमुख में अनन्त ब्रह्माण्ड दीख पड़े। भावुकों की तो यहाँ तक भावना है कि प्रभु ने यशोदा से अपने बँचने के लिये सिर्फ कह भर दिया था कि **"समक्षं पश्य मे मुखम्"** वास्तव में वे अपना मुख खोलकर दिखाना नहीं चाहते थे, क्योंकि मिट्टी तो आखिर खायी ही थी। तब मुख खुल कैसे गया ? तो मातृकोपरविरश्मि द्वारा उनका मुख कमल स्वयं विकसित हो गया।

१५. दामोदरलीला :—

तात्पर्य यह है कि लीलारसपोषकता ऐसा झूठ दोष नहीं गिना जाता, किन्तु गुण ही गिना जाता है। इसी भाव की भागवत में कुन्ती की स्तुति है—

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाऽश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥
(भागवत १.८.३१)

अर्थात् हे व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर! जब आपकी अघटितघटनापटीयसी माया से मुग्ध हुई यशोदा रस्सी लेकर बाँधने लगी, उस समय **'वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य'** मुख नीचा किया, आँखें डबडबा आयीं, अञ्जन मिश्रित अश्रु कपोल पर लुढ़क आये, मानो नील कमल के कोश पर ओस के कण या मुक्ता बिन्दु शोभा पा रहे थे। **'सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति'**, 'जिससे काल भी भयभीत होता है, उसका यशोदा से डरना मुझे मुग्ध कर रहा है।'

१६. निराकार से साकार :—

यह सब कुछ अप्राकृत तत्त्व में प्राकृतवत् प्रतीति है, यह अलौकिकता का भाव है। **"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।"** (श्री० भागवत १०।२९।१४) उस अचिन्त्य, अनन्त, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य तत्त्व का सगुण-साकार विग्रह रूप में इसीलिये प्राकट्य है कि किसी भी भाव से लोगों की उसमें प्रीति हो और उनका कल्याण हो। सहज भाव रागानुगा प्रीति है। रागतः प्राप्त में विधि नहीं होती, वह तो अत्यन्त अप्राप्त में होती है। कान्ता को अपने कान्त में स्वाभाविक राग होता

है। सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु इसी आशय से सहजभाव से उपास्य बनने के लिये प्राकृत से होते हैं।

यद्यपि सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्म निरतिशय परप्रेमास्पद और परमानन्दरूप है। उससे अधिक प्रेमास्पदता और परमानन्दरूपता की कल्पना कहीं नहीं हो सकती, यद्यपि जब तक प्रारब्ध का अवशेष है, तब तक ज्ञानी को भी अन्तःकरण उपाधि पर ही ब्रह्म का दर्शन होता है। अन्तःकरण से ब्रह्मदर्शन वैसा ही समझना चाहिये जैसे नेत्र से सूर्यदर्शन, परन्तु जैसे दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से नेत्र द्वारा सूर्य का अतिदिव्य एवं स्पष्ट रूप दिखायी देता है, वैसे ही दिव्यलीलाशक्ति से परम मनोहर सगुणरूप में प्रकटत्व में अन्तःकरण से और विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है, परन्तु प्रारब्ध क्षय हो जाने पर, सर्वोपाधियों के मिटने पर, साक्षात् मुख्यरूप आत्मस्वरूप उपलब्ध होता है, वह तो सर्वथा ही अनुपमेय है। जैसे श्रीवृषभानुनन्दिनी दर्पण में अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा का अनुभव करती हैं, अस्वच्छ दर्पण आदि की अपेक्षा स्वच्छ आदर्श पर, किंवा श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर, उन्हें अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा अधिक भासित होती है, परन्तु उनके मुखचन्द्र का जो माधुर्य है वह तो उनके अन्तरात्माभूत प्रियतम श्रीकृष्ण को ही विदित हो सकता है, किञ्चित् भी सावधान होने पर रसास्वाद में कमी ही रहती है। अतएव भावुकों का कहना है कि मधुर रूप में ही चक्षु हो तभी रूपमाधुर्य का अनुभव हो सकता है और यदि पुष्प में ही घ्राण हो, तब ठीक गन्ध माधुर्य का अनुभव हो सकता है।

यद्यपि वस्तु वही है तथापि अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति के अद्भुत प्रभाव से ज्ञानियों का भी मन प्रभु के इस मधुर स्वरूप में बलात् आकर्षित हो जाता है। जैसे फल, वृक्ष, अङ्कुर, बीज यद्यपि भूमि के ही स्वरूप विशेष हैं, तथापि फल में भूमि, बीज, अङ्कुर, वृक्ष इन सभी की अपेक्षा विलक्षण सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौरभ्य होता है। गुलाब के बीज या नाल में जैसे शाखा, उपशाखा, कण्टक, पत्रादि के उत्पादन करने की शक्ति है, वैसे ही पुष्प के उत्पादन करने की शक्ति है, परन्तु जैसे कण्टकादि उत्पादिनी शक्ति की अपेक्षा सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य सम्पन्न पुष्प उत्पादन करने की शक्ति विलक्षण होती है, उसी तरह भगवान् की महाशक्ति में जैसे प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति है, वैसे ही उससे परम विलक्षण परात्पर पूर्णतम भगवान् की स्वरूपभूता, मधुर मनोहर मङ्गलमयी मूर्ति का प्रादुर्भाव करने वाली शक्ति भी है।

उसी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति के योग से निराकार भगवान् साकार उसी प्रकार होते हैं, जैसे शैत्य के योग से निर्मल जल बर्फ रूप में व्यक्त होता है अथवा संघर्ष विशेष से अव्यक्त अग्नि (या विद्युत) दाहक और प्रकाशक रूप में व्यक्त

होता है। निराकार ब्रह्म की अपेक्षा भी भगवान् की मधुर मूर्ति में वैसे ही चमत्कार भासित होता है, जैसे इक्षु (ईख-गन्ना) दण्ड और चन्दन वृक्ष ही मधुर और सुगन्धित होते हैं, यदि कदाचित् इक्षु में सुमधुर फल और चन्दन वृक्ष में अति सुन्दर और सुगन्धित पुष्प प्रकट हों, तब उसके माधुर्य्य और सौगन्ध्य की जितनी बड़ाई की जाय, उतनी ही कम है। इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्द बिन्दु उद्गम स्थान अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द घन ब्रह्म ही अद्भुत रसमय है, फिर उसके फलरूप माधुर्य मङ्गलस्वरूप में कितना चमत्कार हो सकता है, यह सहृदय ही जान सकते हैं। इक्षु रस का सार शर्करा, सिता आदि का भी सार जैसे कन्द होता है, वैसे ही औपनिषद परब्रह्म रस सार भगवान् का मधुर मनोहर सगुण स्वरूप है।

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
धूलीधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥
परममिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः॥
विचिनुत भवनेषु बल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

अर्थात् कुछ महानुभाव निगमाटवी के ब्रह्मतत्त्वान्वेषकों के परिश्रम पर दयार्द्र होकर, उनके अन्वेष्टव्य ब्रह्म को श्रीयशोदा के उलूखल में बंधा बतला रहे हैं, तो कुछ श्रीमन्नन्द के प्राङ्गण में धूलि धूसरित वेदान्त सिद्धान्त के नृत्य का कौतुक बता रहे हैं, परम कौतुकी प्रभु में यह कौतुक ही तो है?

इतने पर भी लोगों के प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकता है? परन्तु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालु की लीला से निराकार जीव साकार होता है जबकि सर्वमत से जीव निराकार है, स्पर्श विहीन आकाश-स्पर्शयुक्त वायु के रूप में अवतीर्ण होता है, रूपरहित वायु रूपवान् तेज के रूप में, रस गन्ध विहीन तेज रसयुक्त जल के रूप में और गन्धहीन जल गन्धवती पृथ्वी के रूप में प्रादुर्भूत होता है तब क्या वह प्रभु निराकार होकर भी साकार रूप में नहीं प्रकट हो सकते?

ज्ञानी के निर्वृत्तिक मन पर अविषय रूप से प्रकट वही वेदान्त वेद्य सच्चिदानन्द घन भगवान् अनन्त कोटि कन्दर्प के दर्प को दूर करने वाले, दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यसुधाजलनिधि, मधुरातिमधुर स्वरूप से प्रकट होकर, अपने स्नेह द्वारा भावुक के द्रवीभूत अन्तःकरण को अपने रङ्ग में रङ्ग देते हैं।

१७. भावुक के द्रुत चित्त पर भगवान् की अभिव्यक्ति 'भक्ति' :—

भावुक के द्रुत चित्त पर निखिल रसामृत मूर्ति भगवान् का प्राकट्य ही भक्ति पद का अर्थ है। द्रवीभूत लाक्षा में एक हुए रङ्ग की तरह भक्त के प्रेमार्द्र हृदय में एक हुए भगवान् यदि चाहें, तो भी पृथक् नहीं हो सकते।

नित्य-निकुञ्ज में वृषभानुनन्दिनीस्वरूपमहाभावपरिवेष्टित श्रृङ्गाररस स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परपरमानन्दकन्द नित्य ही रसाक्रान्त रहते हैं। यहाँ प्रियाप्रियतम का सार्वदिक सर्वाङ्गीण सम्प्रयोग का भान भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कि सन्निपात ज्वर से आक्रान्त पुरुष जिस समय शीतल मधुर जल का पान करता है ठीक उसी समय में पूर्ण तीव्र पिपासा का भी अनुभव करता है, वैसे ही नित्य निकुञ्जधाम में जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिकपरिरम्भणजन्य रस में निमग्न होते हैं, उसी काल में तीव्रातितीव्र वियोग-जन्य ताप का भी अनुभव करते हैं। अनन्त का परस्पर मिलन अनन्तकाल तक बना रहता है, पर पिपासा बढ़ती जाती है, उत्तरोत्तर अनन्त माधुर्यामृत की अनुभूति होती रहती है। अद्भुत प्रेमोन्माद में श्रीकृष्ण और वृषभानुनन्दिनी को सम्प्रयोग में भी विप्रयोग और विप्रयोग में भी सम्प्रयोग की स्फूर्ति होती है। सदा मिले रहने पर भी मालूम होता है कि कल्प-कल्पान्तर से मिले ही नहीं—

"तुव मुख चन्द्र चकोरी मेरे नयना।
अरबरात निशिदिन मिलिवे को
मिलेइ रहत मानो कबहु मिले ना॥"

अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं
हा मोहनेति मधुरं विदधात्यकस्मात्।
श्यामानुरागमदविह्वलमोहनाङ्गी
श्यामामणिर्जयति कापि निकुञ्जसीम्नि॥

(राधासुधानिधि ४६)

प्रियतम के गोद में विराजमान होने पर भी अचानक हा मोहन! इस प्रकार मधुर प्रलाप करती हुई एवं लालाजी के अनुराग में मद से विह्वल मनोहर अङ्गवाली कोई अनिर्वचनीय नित्य-किशोरी निकुञ्ज भवन में सबसे ऊपर विराज-मान है॥)

अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥

(उज्जवल नीलमणि: श्रृङ्गारभेद: २७)

(प्राचीन पण्डितों का कहना है कि सर्प की भाँति प्रेम की गति स्वभावतः कुटिल होती है, अतः हेतु किम्वा हेतु के अभाव में भी नायक-नायिका के मान का उदय होता है। इस मान में अवहित्था आदि व्यभिचारीभाव सफल होते हैं।)

१८. श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीराधाचन्द्र :—

श्यामसुन्दर मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन अपनी प्राणेश्वरी, हृदयेश्वरी, राज-राजेश्वरी श्रीराधारानी वृषभानुनन्दिनी के अनन्त माधुर्यामृत, सौगन्ध्यामृत, सौरस्या-

मृत का रसास्वादन करते-करते उस समुद्र में निमग्न है—परन्तु उसका पारावार नहीं—अन्त नहीं—ठिकाना नहीं। इसी तरह राधारानी वृषभानुनन्दिनी अपने प्राणनाथ प्रियतम के अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य-सुधाजलनिधि में अवगाहन करते-करते विभोर हैं पर उसका भी पारावार नहीं, अन्त नहीं—ठिकाना नहीं। असल में अनन्त ब्रह्माण्ड के प्रेमियों को आनन्दित करने वाले रसों के उद्गम-स्थान निखिल रसामृत सिन्धु से श्रीकृष्ण के अङ्गों का निर्माण हुआ है। इनके एक-एक रोम में अनन्त-अनन्त सौन्दर्य जलनिधि, एक-एक रोम में अनन्त-अनन्त माधुर्यामृत, सौरस्यामृत महासमुद्र है। अनन्त रोम हैं। एक-एक रोम में अनन्त माधुर्यामृत-सौन्दर्यामृत-लावण्यामृत समुद्र हैं, उनमें गोता लगाते-लगाते पार ही नहीं। इसलिये यह स्थिति विचित्र है। इन परिस्थितियों का रसास्वाद करते-करते क्षण-दो क्षण, कल्प-दो कल्प की कौन कहे, अनन्त काल तक पता नहीं लगता कि कितने क्षण बीते हैं। इसलिये हम कहा करते हैं कि दोनों एक दूसरे को पहचानते ही नहीं, प्रत्यभिज्ञा ही नहीं। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ पूर्वानुभूत का अनुभव है। **'सोऽयंदेवदत्तः'** पटना में अनुभूत देवदत्त को काशी में देखते है तो पूर्वानुभूत का अनुभव होता है, इसी को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। यहाँ पूर्वानुभूत का अनुभव कभी होता ही नहीं—'प्रिया प्रियतम में भइ न चिह्नारी', पूर्वानुभूत से कोटि-कोटि गुणित उत्कृष्ट अद्भुत स्वरूप का अनुभव होता है। इसलिये पूर्वानुभूत का अनुभव कभी न श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द को हुआ, न राधारानी वृषभानुनन्दिनी को कभी हुआ।

श्री ध्रुवदास के शब्दों में—

न आदि न अन्त विलास करैं दोउ लाल प्रिया में भइ न चिह्नारी।
नई नई भाँति नई छबि कान्ति नई नवल नव नेह बिहारी॥
रहे मुख चाहि दिये चित चाहि परे रसरीति सुसर्व सुहारी।
रहें इक पास करें मृदु हास सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कहारी॥

(श्री ध्रुवदास)

सारस पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोग-जन्य रस का ही अनुभव करती है और चक्रवाकी विप्रयोग-जन्य तीव्रताप के अनन्तर सहृदय-हृदय-वेद्य सम्प्रयोग-जन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी वियोग काल में सम्प्रयोगजन्य रसास्वादन से वञ्चित रहती है। किन्तु नित्य-निकुञ्ज में श्री निकुञ्जेश्वरी को अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्रीव्रजराज किशोर के साथ सारस पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शत-कोटि गुणित दिव्य सम्प्रयोग-जन्य रस की अनुभूति होती है, साथ ही चक्रवाकी की अपेक्षा शतकोटिगुणित अधिक विप्रयोग जन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रस की भी अनुभूति होती है।

अन्यत्र सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक दोनों ही शृङ्गार एक कालावच्छेदेन उद्‌बुद्ध एवं उद्वेलित नहीं होते। यहाँ परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय है **'अणोरणीयान् महतो-महीयान्'** (कठोपनिषद् १.२.२०), प्रभु श्यामसुन्दर में तो दोनों ही प्रकार के शृङ्गार रस एक कालावच्छेदेन व्यक्त होते हैं। कह सकते हो कि एक में ज्वार होगा और दूसरे में भाटा। नहीं-नहीं दोनों में ज्वार है। दोनों सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्‌बुद्ध उद्वेलित उभयविध शृङ्गाररस महासमुद्र से निकले हुए निर्मल निष्कलंक पूर्णचन्द्र हैं। इस तरह, 'श्रीकृष्ण कौन है?' चन्द्र। 'कहाँ के चन्द्र?' श्रीराधारानी में जो श्रीकृष्ण विषयक सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्‌बुद्ध उद्वेलित उभयविध शृङ्गाररस महासमुद्र है उससे अभिव्यक्त निर्मल-निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र। इसी तरह राधारानी भी चन्द्र हैं? कहाँ के चन्द्र? श्रीकृष्ण चन्द्र में जो राधारानी विषयक सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्‌बुद्ध उद्वेलित उभयविध शृङ्गाररस महासमुद्र है, उसी से जो आविर्भूत जो निर्मल-निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र, वे ही हैं श्रीराधारानी।

श्रीराधाकृष्ण क्या हैं? 'उभय-उभय भावात्मा, उभय-उभय रसात्मा' हैं, श्रीवल्लभाचार्य के शब्दों में। अर्थात् दोनों-दोनों के भाव स्वरूप और दोनों-दोनों के रस स्वरूप हैं। श्रीराधारानी के भाव स्वरूप और रस स्वरूप हैं श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णचन्द्र के भावस्वरूप-रसस्वरूप हैं श्रीराधारानी। इस प्रकार दोनों लोकोत्तर वस्तु हैं। महावाणी और अन्य ग्रन्थों में कहा गया कि श्रीराधा-कृष्ण का सम्बन्ध अकाट्य है, सर्वथा अभेद्य है। मरकतमणि में जैसे कञ्चन की तादात्म्यापत्ति हो अर्थात् मरकत मणि में कंचनखचित हो जाय और कंचन में मरकतमणि खचित हो जाय। लेकिन इस सम्बन्ध से भी ऊँचा सम्बन्ध है तरङ्ग और जल का। तरङ्ग से जल का विप्रलम्भ (विच्छेद या वियोग) नहीं होता।

रसिक लोग प्रियतम के सम्मिलन में हार व्यवधायक न हो इसलिये कण्ठ में हार भी नहीं धारण करते—**'हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा'** (हनुमन्नाटक) इतना ही नहीं, कञ्चुकी का व्यवधान भी उन्हें असह्य होता है। यही नहीं कि हार और कञ्चुकी का व्यवधान ही उन्हें असह्य हो, रसोद्रेक में जो रोमाञ्च होता है, उसका भी व्यवधान उन्हें असह्य होता है। जहाँ रोमाञ्च का व्यवधान असह्य होता है वहाँ कञ्चुकी का व्यवधान भला कैसे सह्य होगा? लेकिन जल का और तरङ्ग का जो संश्लेष है, उसमें तो हार, कंचुकि और रोमाञ्च का भी व्यवधान नहीं।

माना जाता है कि 'क्लीं' में क का अर्थ है श्रीकृष्णचन्द्रपरमानन्दकन्द मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन; 'ई' दीर्घ चतुर्थस्वर का अर्थ तन्त्रों में काम कला है। काम कला का अभिप्राय है उत्कृष्ट प्रीति और बिन्दु का अर्थ है रसोद्रेक। इस तरह क = अचिन्त्य अनन्त परमानन्द सुधासिन्धु श्रीकृष्ण; ल् = सुधासिन्धु के माधुर्यसार

सर्वस्व की अधिष्ठात्री राधारानी; ई = आनन्दसार सर्वस्व श्रीकृष्ण और माधुर्यसार सर्वस्व श्रीराधारानी दोनों का परस्पर प्रेम; श्रीराधाकृष्ण के परस्पर सम्मिलन से प्रादुर्भूत रसोद्रेक 'क्लीं' का अर्थ है। इस तरह **काम बीज 'क्लीं' का अर्थ है श्रीराधाकृष्ण के परस्पर प्रेमपूर्ण सम्मिलन से प्रादुर्भूत लोकोत्तर रसोद्रेक।**

महावाणीकार कहते हैं—**'सुधि हू सुधि बिसर गई'**, इसी प्रकार कहावत है—**'करुणा** भी करुणा से आक्रान्त हो गई', 'वीर रस में वीर रस का उद्रेक हो गया, इसी तरह साक्षात् जो पूर्णानुराग रससार सर्वस्व वस्तु है उसमें रसोद्रेक—यह तो जल और तरङ्ग से भी अत्यन्त अन्तरङ्ग वस्तु है। इस तरह श्रीराधा और कृष्ण का सम्मिलन जल और तरङ्ग से भी अत्यधिक अन्तरङ्ग है, सर्वाङ्गीण और सर्वाधिक अन्तरङ्ग वस्तु है। उसी रसोद्रेक की अभिव्यक्ति के लिये कहा गया है—

चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज-
मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां
रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥

(भागवत १०.२१.८)

(जब राम-श्याम आम की नयी कोपलें, मोरों के पंख, फूलों के गुच्छे, रङ्ग-विरङ्गे कमल और कुमुद की माला धारण कर लेते हैं, श्रीकृष्ण के सांवरे शरीर पर पीताम्बर और बलराम के गोरे शरीर पर नीलाम्बर फहराने लगता है, तब उनका वेष बड़ा विचित्र बन जाता है। ग्वाल बालों की गोष्ठी में वे दोनों बीचोंबीच बैठ जाते हैं और मधुर सङ्गीत की तान छेड़ देते हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो दो चतुर नट रङ्गमंच पर अभिनय कर रहे हों। मैं क्या बताऊं उस समय उनकी कितनी शोभा होता है?)

कुछ महानुभावों के मत में उत्पलाब्जमाला प्रेमनिरोध को सूचित करती है। नवल, कोमल, तरुण, अरुण आम्रपल्लव आसक्ति निरोध को सूचित करता है। मयूर पिच्छ व्यसन निरोध के आविर्भाव को सूचित करता है। माने परमानन्द रससार सर्वस्व में भी प्रेम का उद्रेक है, आसक्ति का उद्रेक है और व्यसन का निरोध है। एवंभूत जो पूर्णतम पुरुषोत्तम तत्त्व वह इस रूप में प्रकट है।

१९. आसन और आशयरूप बाह्यप्रपञ्च और पञ्चकोश के तादात्म्य का त्यागकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द कन्द के स्वागत में तन्मय द्वारकास्थ पट्टमहिषीगण :—

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द भगवान् हस्तिनापुर से श्रीद्वारका पधारे। प्रोषितभर्तृका द्वारकास्थ पट्टमहिषीगण प्रियतम सम्मिलन की उत्सुकता से देशकृत

एवं कालकृत व्यवधान हटाने के लिए आसन और आशय से उठा—**"उत्तस्थुरारात्स-हसाऽऽसनाशयात्'** । (भागवत १.११.३१)

यहाँ आशय शब्द से अन्तःकरण विवक्षित है जो कि समस्त काम वासनाओं का आलय है—**'आशेरते कर्मवासना यत्रासावाशयः'**, आशय भी अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय रूप पञ्चकोशों का उपलक्षण है। इस तरह वे अन्नमयादि पञ्चकोश कञ्चुक से तादात्म्याभिमान छोड़करके और आसन से भी उठ करके सर्वतोभावेन निरावरण होकर प्रियतम के सम्मिलन के लिए उत्सुक हुईं। पञ्चकोशातीत 'त्वं पद लक्ष्यार्थ' ही जीव का निजी शुद्ध स्वरूप है। 'तत्पद लक्ष्यार्थ' व्यापक महाचेतन ही उसका अंशी है। अंश और अंशीका मुख्य सम्बन्ध होता है। जैसे पृथिवी का अंश लोष्ठ, पाषाणादि पृथिवी की ओर आकर्षित होता है, वैसे ही परमात्मा के अंश जीवों का परमात्मा की ओर आकर्षण होता है। जिनके मत में चन्द्र का शतांश बृहस्पति नक्षत्र है, दोनों में केवल औपचारिक अंशांशिभाव है, उनका आकर्षण भले ही न हो पर यहाँ तो प्रेयसीगण सर्वावरण से विमुक्त होकर श्रीकृष्ण के सम्मिलन के लिए उत्सुक हुआ।

बड़ी समस्या संसार में है। जहाँ प्रियतम का विश्लेष है, वहीं उत्कट उत्कण्ठा है। लेकिन जब उत्कट उत्कण्ठा तब प्रियतम नहीं। जब विरह है तब उत्कट उत्कण्ठा है, लेकिन प्रियतम नहीं और संयोग है तब उत्कट उत्कण्ठा नहीं, क्योंकि उत्कण्ठा तो विरह में ही होती है। विरह से संतप्त विरहिणी को देखकर मालूम पड़ता है कि इसे कभी प्रियतम का सम्मिलन हुआ ही नहीं ?

भक्तों ने कहा—

संगम विरह विकल्पे वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥

(साहित्यदर्पण : १० 'ढ')

भगवान् वरदान देने लग जाँय, 'संगम या विरह माँग लो' तो विरह ही माँगो, क्योंकि संगम में तो प्रियतम अकेले ही होते हैं, पर विरह में तो सारा संसार ही प्रियतममय होता है।

प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

(अमरुशतक)

विप्रलम्भ श्रृङ्गार में द्रवावस्थाप्रविष्ट आलम्बनमय ही समस्त वस्तुओं का भान होता है। यद्यपि दुनियाँ के प्रेम में ऐसा है तथापि यहाँ के प्रेम में जिस समय प्रियतम का पूर्ण सम्मिलन है, उसी समय उत्कट उत्कण्ठा है। पूर्ण सम्मिलन का अर्थ है अन्तःकरण से अन्तःकरण का सम्मिलन, अन्तरात्मा का अन्तरात्मा से, प्राण का प्राण से सम्मिलन, अङ्ग से अङ्ग का सम्मिलन, रोम-रोम से रोम-रोम का सम्मिलन। इस तरह तरङ्ग से जल का सङ्गम ही बड़ा अद्भुत, फिर क्या कहना आनन्दसिन्धु और उसके सार माधुर्यसिन्धुसर्वस्व का कितना अद्भुत घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसका मुकाबला करने वाला दुनियाँ में दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

२०. कथा श्रवण से वैराग्य एवं विज्ञानोपलब्धि :—

थोड़े समय में सबका वर्णन तो कठिन है।

अन्त में शुकदेव जी महाराज कहते हैं—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो
वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥

(भागवत १२.३.१४)

अर्थात् राजन्! मैंने तुमसे बहुत-सी कथाएँ कहीं। चक्रवर्ती नरेन्द्र, विराट्, स्वराट् जिन्होंने अपना दिग्दिगन्त व्यापी अनन्त यश फैलाया, परन्तु अन्त में वे भी परलोक चले गये। उनके बारे में जो कुछ कहा वह वाग्वैभव मात्र ही है, इसमें कोई परमार्थता नहीं है, वैराग्य विज्ञान की विवक्षा से ही हमने उनका वर्णन किया है (बस इतना ही उनकी कथा में सार है)।

फिर क्या सुनना है सदा? भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का जो मंगलमय गुणानुवाद है, वह सब प्रकार के अमङ्गलों को समूल दूर करने वाला है। प्रसंगान्तर ला-लाकर उसी का सदा श्रवण करते रहना चाहिये।

२१. भगवद्गुणानुवाद से भगवद्भक्ति :—

यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः
सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं श्रृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥

(भागवत १२.३.१५)

भगवान् श्रीकृष्ण का गुणानुवाद समस्त अमङ्गलों का नाश करने वाला है, बड़े-बड़े महात्मा उसी का गान करते हैं। जो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में अनन्य प्रेममयी भक्ति की लालसा रखता है, उसे नित्य, निरन्तर भगवान् के दिव्य गुणानुवाद का ही श्रवण करते रहना चाहिये।

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द में अमला भक्ति की इच्छा हो तो भगवान् के दिव्य गुणों का, चरितामृत का, नामामृत का अखण्ड रूप से पान करो। यही श्रीमद्भागवत का ध्येय है।

यह सब साधुसंग-वैष्णव संग से संभव है। जितना-जितना साधुसंग का रसास्वादन करोगे, उतना-उतना भगवत्स्वरूप-भगवन्नामामृत-भगवच्चरित्रामृत और भगवद्गुणगणार्णव का अवगाहन होगा, रस का आविर्भाव होगा।

नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥
(भागवत १२.१३.२३)

जिस भगवान् के नाम का सङ्कीर्तन सम्पूर्ण पापों को सर्वथा नष्ट कर देता है और जिन भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण, उनके चरणों में प्रणाम सर्वदा के लिये सब प्रकार के दुःखों को शान्त कर देता है, उन्ही परमतत्वस्वरूप श्रीहरि को मैं नमस्कार करता हूँ॥

श्रीराम, जय राम, जय जय राम
धर्म की·······जय हो, अधर्म का·······नाश हो····
प्राणियों में······सद्भावना हो, विश्व का······कल्याण हो
गोहत्या बन्द हो, गो माता की जय हो।
हर-हर महादेव

—: ० :—

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६	१	भगवन्	(भगवन्
६	१२	दायभाक्।।	दायभाक्।। भाग० १०.१४.८
६	१३	जो पुरुष	(जो पुरुष
६	अंतिम	व्रजेत	व्रजेत्
७	४, १२	राजन्	(राजन्
७	२१	चाञ्चल्यहीन	वह चाञ्चल्यहीन
७	२२	चंचलता	उसमें चंचलता
९	४	अपनें-अपने	(अपने-अपने
१०	१०	मैं प्रात:	(मैं प्रात:
११	१५	भगवान	भगवान्
१३	८	जिस	(जिस
१५	७	जननि	(जननि
२१	अंतिम	तत्त्व मनमें	तत्त्व मनमें लाओ,
२२	१३	जिसमें	(जिससे
२२	१३	सृष्टि	—सृष्टि
२२	२३	सारनान्	सारमान्
२२	२९	छान्दसं	च्छान्दसं
२२	२९	शिष्याभिप्रायम्	शिष्याभिप्रायकम्
२३	६	अदिभ:	अद्भि:
२३	८	अन्विछ	अन्विच्छ
२३	८	सोन्येमा:	सोम्येमा:
२३	९	सत्प्रतिष्ठा	सत्प्रतिष्ठा:
२३	१०	उपनिषड्	उपनिषत्
२३	१०,२०,२२	६।९।४	६।८।४
२४	टिप्पणी ६।४	अहंकारकारणवासनादव्यक्त	अहंकारवासनावदव्यक्तं
२५	३	२।१।१९	१।२।१९
२६	१७	भ्रम	उसमें भ्रम
२८	२१	(हस्ती)	हस्ती
२९	१७	लिए ही)	लिए ही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०	टिप्पणी ११।४	मोक्षार्थानिति	मोक्षार्थमिति
३१	१४	मिट्टी	मिट्टी से
३१	२२	ज्ञानवान्,	ज्ञानवान्, इच्छावान् ,
३४	४	अवयवान्	अवयववान्
३६	२१	भागवत्	भागवत
४२	३	जगत	जगत्
४२	टिप्पणी १३।१	प्रभु	प्रभुः
४३	,, १४।७	साध्य	साध्यं
४३	,, १४।१३	सिद्धं	स सिद्ध
४३	,, १५।२	१।३९	१।३८, १३९½
४४	,, १९।१	क्षित्यङ्कुरादिकं	क्षित्यङ्कुरादिकं
४४	,, १९।६	शित्यङ्कुरादिकं	क्षित्यङ्कुरादिकं
४५	६	क्षित्यङ्कुरादिकं	क्षित्यङ्कुरादिकं
४५	२१	अन्वय है।	अन्वय है—
४५	२१	'सन् पटः'	वैसे ही 'सन् पटः'
४५	२१	घटः	घटः
४५	टिप्पणी २०।९	ध्येयमभिप्रेतम	ध्येयमभिप्रेतम् ?
४६	६	अनुवृत्त	अननुवृत्त
४७	अन्तिम	नहीं हैं	नहीं है
५१	टिप्पणी २३।४	इत्यर्थः	तद्वत् इत्यर्थः
५२	,, २५।३	ऽर्थे	ऽर्थे
५२	,, २५।३	यत	यत्
५२	,, २६।४	श्रीकृष्णहित	श्रीकृष्णहत
५३	१४	रण सपत्नान् ॥	रणे सपत्नान् ॥ (गीता ११।३२-३४)
५३	२१	की जीतोगे	को जीतोगे
५३	२४	अभी	अमी
५४	१०	(६)	(७)
५६	३	घर्म	धर्म
५७	१	कर्माणि	कर्माणि
५७	१२	संशयः ॥	संशयः ॥ (सूत सं० ज्ञान० २.२०.४४, वराहो ४।४३)
५८	२४, २६	समुद्भुत	समुद्भूत
५९	१३	सम्पृक्तं	यत्पृक्तं
५९	१५	प्रक्रियापाद।१	प्रक्रियापाद १।३३-३६

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९	१७	सुनकरकर	सुनकर
५९	२३	हठात	हठात्
५९	२५	इस दशा में	दशा में
६१	नीचे से ९	परिदघुर्न	परिदधुर्न
६१	नीचे से ८	जगदुस्तवास्ति ।	जगदुस्तपास्ति
६६	नीचे से ११	आभा,	आभा, प्रभा
६६	नीचे से ६	कुवलयमिव तदोजः समभवत्	कुवलयमिवौजस्तदभवत्
६६	नीचे से ४	मूर्तिमान	मूर्तिमान्
६७	१२	तस्याङ्घ्रियुगं	तस्याङ्घ्रियुगं
६८	नीचे से ९	एक काल में	एक काल में ।
६९	नीचे से ३	निखित	निखिल
७०	नीचे से ७	स्वरम् ।।	स्वरम् ।। (भाग० १२।११।११)
७२	१६	६। ।७४	६।५।७४
७३	नीचे से ६	स्पद्योः	स्वपदयोः
७५	नीचे से १३	श्चतो	श्चेतो
७७	३	अन्धेर	'अन्धेर
७७	नीचे से १	मैं फांसी पर चढूंगा	'मैं फांसी पर चढूंगा'
७९	'तृतीय पुष्प' के नीचे शीर्षक लिखना है—		प्रतिपाद्य और प्रतिपादक की परब्रह्मरूपता
८०	२	बृहदारण्यकोपनिवद्	बृहदारण्यकोपनिषद्
८०	८	द्रष्टृ श्रुतं	द्रष्टृश्रुतं
८०	८	मन्त्र विज्ञातं	मन्त्रविज्ञात
८०	९	नान्यदतोऽस्ति	नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति
८०	१०	प्रोतश्चति	प्रोतश्चेति
८०	१४	कोई नहीं है	कोई विज्ञाता नहीं है
८२	१६	यह यह	यह
८२	नीचे से ३	जगत्	(जगत्
८४	४	सृष्टि से	(सृष्टि से
८५	नीचे से ९	आत्र्युपशान्तात्मा	आज्युपशान्तात्मा
८७	नीचे से ५	गौर	(गौर
९१	१२	उस समय	(उस समय
९२	नीचे से ५	१६।४४	१७।४३
९२	नीचे से ४	मेघ	(मेघ
९३	३	१७।५२	१७।५०

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९३	४	सदा	(सदा
९५	१८	जिस	(जिस
९६	७	उस	(उस
९७	१	(९) परमधर्म	परमधर्म
९८	नीचे से ८	नहीं ।।	नहीं ।।)
९८	नीचे से ७	भाववर्ति	भाववर्जितं
९८	नीचे से ५	महा० शान्ति०	भागवत
९८	नीचे से ४	कैवल्य	(कैवल्य
९९	३	महा० शान्ति०	भागवत
१०१	टिप्पणी ३७।१	यत्र	तत्र
१०१	टिप्पणी ३७।१०	बतुप्	मतुप्
१०३	१०	जिनके	(जिनके
१०४	नीचे से ४	मद्मक्तो	मद्भक्तो
१०५	१	जो	(जो
१०५	नीचे से १२	देखे	(देखे
१०५	नीचे से ७	पुरुष	(पुरुष
१०६	६	हे पाण्डव	(हे पाण्डव
१०७	१	(११) मोक्षपर्यवसापी	मोक्षपर्यवसायी
१०७	३	ह्यापवर्गस्य	ह्यापवर्ग्यस्य
१०८	१	कर्म	(कर्म
१०८	१३	अजस्रचिन्त्यात्मनि	अजस्रचित्यात्मनि
११०	११	इच्छा	भगवत्प्राप्ति की
१११	नीचे से ७	मेरे पवि	(मेरे पति
११३	९	तत्ववेत्ता	(तत्त्ववेत्ता
११३	१७	हो ।	होती है ।
११४	७	शरीर	शरीरी
११४	१२	समझते हैं	समझते हैं ।
११५	नीचे से १२	उसे	उसे ब्रह्म
११६	९	२२	३२
११७	१	(१) भगवान्····	भगवान्···
१२०	नीचे से १	वद	पद
१२२	५	लक्ष्मण	लक्ष्मणा
१२२	८	विरहो	विरहं
१२२	अंतिम	त्रिभवनमपि	त्रिभुवनमपि
१२८	११	सब	बस

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२९	टिप्पणी ४४।२	उपपत्तेंश्च	उपपत्तेश्च
१२१	टिप्पणी ४४।७,८	प्रत्याययति, नान्यथा अदृष्टत्वात्	
१२९	टिप्पणी ४४।१०	श्रुतिमिश्च	श्रुतिभ्यश्च
१३०	१४	एषं	एवं
१३१	३	नेयि	नेति
१३२	१८	भगवन्	(भगवन्
१३२	नीचे से ८	६।२।६४	३।२।३
१३२	नीचे से ३	४.४.१ गुणगण	गुणगण
१३४	नीचे से ५	बाहूश्च मन्दगिरेः	बाहूंश्च मन्दरगिरेः
१३५	७	काण्ड	कण्ठ
१३५	नीचे से १२	अव्यक्त	(अव्यक्त
१३६	५	हे देव	(हे देव
१३६	८	वहीं	वही
१३६	१५	यहीं	यही
१३६	नीचे से ५	मुझ	(मुझ
१३६	नीचे से २	भगवद्नुग्रह	भगवदनुग्रह
१४०	६	योगिस्तथापरम्	योगस्तथापरम्
१४०	७	ब्रह्मभूतस्य	ब्रह्मभूतस्स
१४०	१६	(५) भगवदाराधन	भगवदाराधन
१४२	नीचे से ३	सूर-दर-सूद	सूद-दर-सूद
१४३	१	हृदयान्मापसर्पति	हृदयान्नापसर्पति
१४३	नीचे से २	प्रज्ञाशेषोऽति	प्रज्ञाशेषोऽस्ति
१४९	१५	होना	होगा
१४९	२०	शास्त्र के	(शास्त्र के
१५२	१	हमारे	(हमारे
१५७	६	विकल्पन्ते	विकत्थन्ते
१५७	नीचे से ३	भूर्यनुस्मरन् ॥	भूर्यनुस्मरन् ॥ भाग० ८।१९।६
१६१	'पञ्चम पुष्प' के नीचे शीर्षक लिखना है—		शुक समागम
१६३	१८	हूँ।	हूँ।)
१६२	२३	चित्पाशे	चित्पात्रे
१७३	१८	परीक्षत्	परीक्षित्
१७४	६	अनुभवपर्यन्त	(अनुभवपर्यन्त
१७४	२२	अवश्य	(अवश्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	११	घनिष्ट	घनिष्ठ
१७७	९	१६	११६
१७७	१९	पुंसामतो	पुंसामन्ते
१७९	८	है ।	है ।)
१८०	९	(६) अप्रमत्त	अप्रमत्त
१८०	नीचे से ७	हरेहेरुपासने	हरेरुपासने
१८२	२१	९९	८९
१८३	१७	॥	॥ (गोपाल पूर्वतापन्युपनिषत्)
१८६	१०	विष्ण	विष्णु
१८६	१८	दर्शद	दर्शन
१९२	नीचे से १०	(१०) 'तेषां···'	'तेषां·····'
१९४	टिप्पणी ६०।२	विपर्य्य	विपर्य्यय
१९८	१०	प्राणी	(प्राणी
१९९	टिप्पणी ६३।४	निस्पृहा	निःस्पृहा
१९९	टिप्पणी ६३।१०	तदनन्तर	(तदनन्तर
१९९	टिप्पणी ६३।१०	चित्तमें	चित्तमें एक (प्रधान)
१९९	,, ६३।१०	हृदय	हृदयसे
१९९	,, ६३।अंतिम	प्राप्यप्रापणीय	प्राप्य-प्रापणीय
२००	२०	युङ्त्ते	युङ्क्ते
२००	टिप्पणी ६४।३	मायावशात्	होकर मायावशात्
२००	,, ६५।११	वायुपस्पृश्य	वायुंपस्पृश्य
२०१	११	।	।६५
२०४	'षष्ठ पुष्प' के नीचे शीर्षक लिखना है—		ब्रह्म-नारद-संवाद
२०५	नीचे से तीसरी पंक्ति के ऊपर शीर्षक होना है—		मायासंतरण का अमोघ उपाय
२०५	अंतिम	१.	२.
२०६	१	जो	(जो
२०६	१०	श्रुतियाँ	(श्रुतियाँ
२०७	११	गुणान्गृह्णन्यतो	गुणान्गृह्णतित्यतो
२०७	२३	आह—	आह—अखिल
२०८	नीचेसे २	गुरुदेव	गुरुरेव
२१०	नीचेसे ४	भगवतितत्प्रथम	भवति तत्प्रथमं
२१०	अंतिम	इच्छा जिज्ञासा	इच्छा-जिज्ञासा
२११, २१३		षष्ठम-पुष्प	षष्ठ-पुष्प
२१२	१९	(२) मह्लाद-चरित	प्रह्लाद-चरित
२१५	—	पञ्चक-पुष्प	षष्ठ-पुष्प

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१५	१६	भेद	भेज
२२२	१८	पर	परम
२२३	१५	हे	(हे
२२५	पाँचवीं पंक्ति के नीचे शीर्षक लिखें—		शरणागति
२२७	अंतिम	२४	१४
२२९	२२	सर्व	स्वर्ग
२३०	८	सर्वकारणस्वस्व	सर्वकारणत्व
२३०	१८	सर्वेपूरकत्व	सर्वेश्वरत्व
२३०	२०	(८) श्री जी	श्रीजी
२३१	९	श्रयते हरिम्···	(१) श्रयते हरिम्
२३१	नीचेसे ४	सम्पत्तिरित्ययर्थः	सम्पत्तिरित्यर्थः
२३२	नीचेसे ६	'श्रीयते···	(२) 'श्रीयते···
२३२	अंतिम	२८	१८
२३३	१६	म्रदुता	मृदुता
२३३	१९	'श्रीयते···	(३) 'श्रीयते
२३३	नीचे से ६	जिनका	(जिनका
२३५	१०	कहते	करते
२३८	७	त्वयि	त्वया
२४१	'सप्तम पुष्प' के नीचे शीर्षक लिखना है—'राजा बलिके पूर्व जन्मका वृत्तान्त'		
२४१	नीचे से ३	१६	६१
२४१	नीचे से २	श्रीवामन	(श्रीवामन
२४१	अंतिम	नमश्कार	नमस्कार
२४३	७	झूठ	'झूठ
२४४	टिप्पणी ७५।१	पूर्वाध	पूर्वार्घ
२४५	नीचे से ९	कुछ	(कुछ
२४७	११	सन्निमित्तो	तन्निमित्तो
२४७	१२	किं	किं हतेषु
२४८	२	फुरसत	'फुरसत'
२४९	नीचेसे ६	कण्टकोद्धारः	कण्टकोद्धारः'
२५०	२	क्रधित	क्रोधित
२५०	१३ के नीचे शीर्षक लिखना है—		भगवान् वामन का आविर्भाव
२५०	नीचेसे ७	सत्कार	सत्कार—
२५१	१४	राजा	(राजा
२५१	४, १८	बुद्धिमान	बुद्धिमान्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५१	१४	राजा	(राजा
२५१	१५	बालक हो	बालक ही
२५२	६	विष्णु	'विष्णु
२५३	७, ९	न	न–
२५४	नीचेसे १०	फंस	फँस
२५५	१३	(५)	(३)
२५५	१८	(६)	(४)
२५५	अंतिम	गलाम	गुलाम
२५६	६	चीच	चीज
२५७	११	सर्वस्वमात्मविक्लवया	सर्वस्वमात्माविक्लवया
२५८	४	यस	यह
२५८	१५	जिस	'जिस
२५८	नीचेसे ४	माली	माला
२६०	टिप्पणी ७६।३	४३।३	३४.३
२६०	,, ७६।४	विष्णु मङ्गलं	विष्णुर्मङ्गलं
२६१	१४	स्पर्श	दर्शन
२६३	५	भगवान्	भवान्
२६३	६	सपत्नजित्	सपत्नजित्
२६३	११	१७७	११७
२६३	२२	शतशीर्षी	शतशीर्षो
२६३	२५	आअ	आप
२६४	३	सृडयन्ति	मृडयन्ति
२६४	९	की वाक्यता है कि	की
२६५	टिप्पणी ७८।२	।।	।। रामचरित० २।१५७।६,७ ।।
२६६	४	स्थल जानि	स्थलजानि
२६६	७	।।	।। वाल्मीकि० २.५९.८,९ ।।
२६७	नीचेसे ९	लहौ	लौह
२६९	२	शुक्राचार्य	शुक्राचार्य
२६९	नीचेसे १०	बर्णन	वर्णन
२७०	१७	इनमें	इसमें
२७०	२०	मध्यम	मध्यम परिमाण
२७०	२४	"मन	("मन
२७१	१७	तिष्ठान्	तिष्ठन्
२७१	२०	वह	(वह

पूज्यपाद
स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज
के अन्य ग्रन्थ

पुस्तक का नाम	कीमत
१. वेदार्थ पारिजात (दो खण्डों में)	१०० रु०
२. शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय—संहिता (प्रथम से चालीस अध्याय)	७४५ रु०
३. रामायण मीमांसा	३२० रु०
४. भक्ति सुधा	२२० रु०
५. भागवत सुधा	१० रु०
६. श्रीराधा सुधा	१० रु०

प्राप्ति स्थान :

राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

धर्मसंघ संस्कृत विद्यालय, रमणरेती, वृन्दावन-२८११२१

दूरभाष : ०५६५-२५४००२८

०५६५-२५४०२७८